भारतीय संस्कृति के मूल तत्व

भारतीय संस्कृति के मूल तत्व

लेखक :
डॉ. श्रीकृष्ण ओझा
अध्यक्ष-संस्कृत विभाग
राजकीय कॉलेज, टोंक

आदर्श प्रकाशन
(भारत सरकार से रजिस्टर्ड)
चौड़ा रास्ता, जयपुर-3

मूल्य : रु. 40 00

प्रकाशक
आनन्द मित्तल
आदर्श प्रकाशन
चौड़ा रास्ता
जयपुर 3
फोन 311771

यह पुस्तक आधुनिकतम कम्प्यूटर प्रणाली द्वारा कम्पोज की गयी है। इस कारण इस पुस्तक में कम पेजों में ही काफी अधिक पेजा की सामग्री आ गयी है।

प्रकाशक
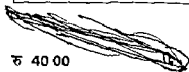
मूल्य रु 40 00

लेजर टाइपसैटिंग
मित्तल कम्प्यूटर प्रिन्टर्स जयपुर
फोन न 566357

मुद्रक
सिद्ध आफसैट जयपुर

विषय-सूची

अध्याय 1

भारतीय संस्कृति : विषय, पृष्ठभूमि, मूलभूत विशेषताएँ

सस्कृति मानव जाति को सन्तुलन एव दृढता प्रदान करती है । यदि हम समूचे विश्व के इतिहास पर व्यापक दृष्टि डार्ले, तो ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण मानव जाति और उसके क्रियाकलापो के कुछ मौलिक और आधारभूत लक्षण हैं, जो हमारे वर्तमान से अधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्राथमिक है । ये आधारभूत लक्षण ही सस्कृति को स्वरूप, गुण, विशिष्टता एव श्रेष्ठ परम्पराएँ प्रदान करते हैं । अत सस्कृति के विषय में विचार करने का अर्थ है देश को जीवित रखने वाले मूल्यो आदर्शों विश्वासो तथा उसकी दिशा निर्धारित करने वाली शक्तियो के विषय मे ठोस परिणाम प्राप्त करना । इस दृष्टिकोण के अनुसार भारतीय सस्कृति में मानवीय चेतना की सर्वोच्च गति के दर्शन होते हैं । हमारी सस्कृति की विशेषता मानवतावाद है क्योंकि यह श्रेष्ठ मानवीय सिद्धान्तो मूल्यों एव आदर्शों की प्रतीक है । भारतीय या आर्य सस्कृति की यदि कोई विशेषता कही जा सकती है, तो यही कि इसने स्वार्थ सिद्धि की अपेक्षा परसेवा या समाजसेवा तथा स्वार्थ के स्थान पर परमार्थ पर अधिक जोर दिया है । इसने व्यक्ति को समाज या समष्टि में लीन होने का उपदेश दिया है तथा मार्ग भी बताया है । भारतीय सस्कृति का ध्येय मनुष्य को चरम लक्ष्य बताकर उसे प्राप्त करने का उपाय और मार्ग प्रदर्शित करने का है । शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक शक्ति का विकास इस लक्ष्य के साधन के मार्ग हैं । अत जिस सस्कृति में इनके विकास का जितना आधिक्य होगा वह उतनी ही ऊची मानी जायेगी । इस कसौटी पर परखने से भारतीय सस्कृति बिल्कुल ठीक व खरी उतरी है ।

सस्कृति का विपय तथा परिभाषाएँ

व्याकरण की दृष्टि से सम् उपसर्ग पूर्वक कृ धातु से भूषण अर्थ में सुट् का आगम करके क्तिन् प्रत्यय करने से सस्कृति शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है-'भूषणभूत सम्यक् कृति या चेष्टा' । इस प्रकार भूषणभूत सम्यक् कृतियों का सम्पूर्ण क्षेत्र सस्कृति की परिधि में आ जाता है । इसमें उन चेष्टाओ का परिगणन होता है, जिनके द्वारा मनुष्य अपने जीवन के समस्त क्षेत्रो मे उन्नति करता हुआ सुख व शान्ति प्राप्त करे । इसके अनुसार मानव के लौकिक पारलौकिक सर्वाभ्युदय के अनुकूल आचार-विचार ही सस्कृति है । "सस्कृति" शब्द परिष्कृत या परिमार्जित करने के भाव का भी सूचक है । जिसमें शिष्टता और सौजन्य के भावो का अन्तर्भाव होता है । अत सस्कृति मानव की सहज प्रवृत्तियो,

नैसर्गिक शक्तियों तथा उनके परिष्कार की द्योतक है। जीवन का चरमोत्कर्ष प्राप्त करना इसके विकास का परिणाम है। व्यक्ति और समाज की अपने उत्तरदायित्व और कर्तव्य के प्रति सजगता में इसकी अभिव्यक्ति दिखाई पड़ती है। सस्कृति के प्रभाव से ही समाज व उसका घटक ऐसे कार्यों में प्रवृत्त होता है, जिनसे सामाजिक, साहित्यिक, कलात्मक राजनीतिक और वैज्ञानिक क्षेत्रों में उन्नति हुई है।

भारतवर्ष में सर्वजनसुखाय की भावना प्रबल रही है। अत आचार-विचार का ही दूसरा नाम सस्कृति है, जो बुद्धि तथा अनुभवजन्य ज्ञान की भित्ति पर आश्रित है। दूसरे शब्दों में सस्कृति परम्परागत अनुस्यूत सस्कार है। यह बौद्धिक विकास की अवस्थाओं को सूचित करती है। इसका सम्बन्ध आत्मा से है। हमारी सस्कृति समस्त अस्तित्व समाहित सत्य व कल्याणरूप चेतनतत्त्व की चिरन्तन अनुभूति से परिपूर्ण है। वह सदा जीवनाधार उच्च आध्यात्मिक सत्य के अन्वेषण में प्रयत्नशील रही है। यह सत्य वह है जहा सब मिल कर एक हो जाते हैं। यह एक ऐसी भावभूमि है, जहा पहुच कर मानव सब प्राणियों में एकप्राण, एक चेतना की अनुभूति करता है। भारतीय सस्कृति के मूल में सदैव मानव कल्याण की भावना समाई हुई रही है। भारतीय मानस सदा से ही अन्तर्मुख होकर समष्टि के लिए कल्याणकारी मार्ग पर चलता रहा है। वह अपने श्रेय और प्रेय को मानवमात्र के लिए मानता है।

श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य के अनुसार, "किसी भी जाति अथवा राष्ट्र के शिष्ट पुरुषों में विचार, वाणी एव क्रिया का जो रूप व्याप्त रहता है, उसी का नाम सस्कृति है।" डॉ सम्पूर्णानन्द के मत में, "सस्कृति उस दृष्टिकोण को कहते हैं, जिससे कोई समुदाय विशेष जीवन की समस्याओ पर दृष्टिनिक्षेप करता है।" डॉ राधाकृष्णन् के दृष्टिकोण से "सस्कृति अपने सदस्यो को विपरीत दिशाओ में क्रियाशील बलो को अत्यन्त सूक्ष्म सतुलन के फलस्वरूप उत्पन्न सन्तुलन और दृढता प्रदान करती है। सभ्यता का कठोर हो जाना ही सस्कृति है।" काका कालेलकर के शब्दों में "सस्कृति उसे कहते हैं जिसे हजारों लाखों वर्षों के पुरुषार्थ से मानव जाति ने अर्जित किया है।" पंडित नेहरू का कथन है कि "सस्कृति क्या है ? शब्दकोश उलटने पर इसकी अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं।" एक प्रसिद्ध लेखक का कहना है कि ससार में जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कही गई हैं, उनसे स्वय को परिचित कराना सस्कृति है। एक अन्य परिभाषा में कहा गया है कि "सस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियो का प्रशिक्षण, दृढीकरण या विकास अथवा उससे उत्पन्न अवस्था है। यह मन, आचार अथवा रुचि की परिष्कृति अथवा शुद्धि है। यह सभ्यता का भीतर से प्रकाशित हो उठना है। इन सभी अर्थों मे सस्कृति किसी ऐसी वस्तु का नाम हो जाता है, जो बुनियादी और अन्तर्राष्ट्रीय है।"

डा रामधारी सिंह दिनकर ने सस्कृति की परिभाषा करते हुए लिखा है- "असल में सस्कृति जीवन का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा हो कर उस समाज में छाया रहता है, जिसमें हम जन्म लेते हैं। अपने जीवन में हम जो सस्कार जमा करते हैं, वह भी हमारी सस्कृति का अग बन जाता है और मरने के बाद हम अन्य वस्तुओं के साथ साथ अपनी सस्कृति की विरासत भी अपनी भावी पीढियो के लिए छोड जाते हैं। इसलिए सस्कृति वह चीज मानी जाती है, जो हमारे सारे जीवन में व्याप्त है तथा

नसकी रचना और विकास में अनेक सदियो के अनुभवो का हाथ है । यही नहीं अपितु ास्कृति हमारा पीछा जन्म-जन्मान्तरो तक करती है । अपने यहाँ एक साधारण कहावत है क जिसका जैसा सस्कार होता है उसका वैसा ही पुनर्जन्म भी होता है । सस्कार या ास्कृति असल में शरीर का नहीं आत्मा का गुण है ।'' डॉ पाण्डेय का विचार है- 'मूलत सस्कृति जीवन की ओर एक विशिष्ट दृष्टिकोण है, अनुभव के मूल्याकन और याख्या का एक विशेष तथा मूलभूत प्रकार है । विचार भावना तथा आचरण के विभिन्न ास्तरो में सस्कृति की सिद्धि है । इस दृष्टिस्वरूप सस्कृति की सिद्धि के बाह्यविस्तार नेरन्तर बदलते रहते हैं किन्तु उनकी प्रभावात्मक दृष्टि और प्रेरणा का अनुस्यूत वृहत्तर ग्रौर गम्भीर सत्ता के रूप में बना रहता है तथा किसी भी समाज के जीवन मे चेतना का ाह गहन और अदृष्ट अनुबन्ध ही सस्कृति का सार है ।''

इस सन्दर्भ में दो आग्ल परिभाषाएँ भी माननीय हैं । श्री मैथ्यू आरनोल्ड ने ास्कृति की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "Culture is the pursuit of our total erfection by means of getting to know all matters that most concerns us he best which has been thought and said in the world" इसी प्रकार श्री व्हाइटहेड महोदय के अनुसार-"Culture is the complex whole which ncludes knowledge, beliefs art, morals, laws, customs and any other apacities and habits acquired by man as a member of the society"

अग्रेजी में सस्कृति के लिए ''कल्चर'' शब्द का प्रयोग किया जाता है, जो लैटिन भाषा के 'कलचुरा' तथा 'कोलियर' से निकला है । इन दोना लैटिन शब्दा का अर्थ क्रमश उत्पादन तथा परिष्कार है । अत कल्चर या सस्कृति को ''परिष्कृत मानसिक उत्पादन'' माना जा सकता है । अनेक भाषाओं में सस्कृति के लिए जो विभिन्न शब्द मिलते हैं, उन सभी से सस्कृति का सम्बन्ध क्रिया व्यवहार उत्पादन सस्कार तथा परिष्कार से जुडा मिलता है । सस्कृति में व्यक्ति तथा समाज की वे क्रियाए सम्मिलित हैं जिनके द्वारा उनके लक्षणो को पहचाना एव परखा जा सकता है । अत ''सस्कृति मानव के आदि काल से लेकर आज तक की वह सचित निधि है जो उत्पादन तथा परिष्कार द्वारा निरन्तर प्रगति करती हुई एक पीढी से दूसरी पीढी को उत्तराधिकार स्वरूप प्राप्त होती चली आई है तथा भविष्य में भी उसकी यही गति रहेगी ।''

अन्य कई विद्वानो ने सस्कृति के विषय में अपने विभिन्न विचार अभिव्यक्त किए हैं । ''माधुर्य, सौहार्द और प्रेम भावना जैसी कोमल अनुभूतिया से जो कुछ भी मानव के चित् का परिष्कार अथवा विकास हुआ है, उसकी चेतना उदात्त और व्यापक बना है वह उसकी सस्कृति है ।'' ''ससार भर में जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कही गई हैं उनसे अपने आपको परिचित करना सस्कृति है ।'' ''सस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियो का प्रशिक्षण, दृढीकरण या विकास अथवा उससे उत्पन्न अवस्था है । यह मन आचार अथवा रुचियों की परिष्कृति या शुद्धि है ।'' ''किसी भी जाति अथवा राष्ट्र के शिष्ट पुरुषो में विचार, वाणी एव क्रिया का जो रूप व्याप्त रहता है, उसी का नाम सस्कृति है ।'' ''सस्कृति उस दृष्टिकोण को कहते हैं, जिससे कोई समुदाय विशेष जीवन की समस्याओं पर दृष्टिनिक्षेप करता है ।'' ''सस्कृति का अर्थ परम्परागत अनुस्यूत सस्कार है । समाज के जीवन में व्याप्त इन्हीं परम्परागत सस्कारों के रूप को सस्कृति के नाम से पुकारा जाता है ।''

सभ्यता व संस्कृति में अन्तर–

सामान्यत संस्कृति और सभ्यता एक दूसरे के पर्याय समझे जाते हैं परन्तु वास्तविकता इससे भिन्न है । 'सभ्यता' शब्द के मूल में 'सभ्य' शब्द है जो 'सभा' में 'यत्' प्रत्यय लगने से बना है जिसका अर्थ होता है समाज में रहकर सामाजिक कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहने वाला व्यक्ति । पुन 'सभ्य' शब्द मे 'तल्' प्रत्यय जोडने पर स्त्रीलिङ्ग में 'सभ्यता' शब्द का निर्माण होता है । इस प्रकार 'सभ्यता' शब्द का अर्थ होगा सामाजिक नियमों एव व्यवहारों को जानते हुए उनका सामाजिक हित में आचरण करना ।

सभ्यता के मूल में सस्कृति रहती है । वास्तव में ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं । सभ्यता मनुष्य अथवा राष्ट्र के भौतिक विकास की सूचक है तथा संस्कृति मानसिक विकास की । जीवन व्यापार के आदर्शों के जो सस्कार किसी राष्ट्र मे अथवा व्यक्ति में स्थापित होते हैं, वह सस्कृति तथा उनके आधार पर जो भौतिक सुविधाओं का निर्माण किया जाता है, वह सभ्यता है । वस्तुत सभ्यता व्यवहार की दक्षता की द्योतक है । प्राणी की आदिम दशा से आज तक का विकास, भौतिक, सामाजिक, राजनीतिक निर्माण ''सभ्यता'' के अन्तर्गत आता है । सभ्यता के उच्च स्तर में ही व्यक्ति की सामाजिक भावना को प्रतिष्ठा प्राप्त होती है । सभ्यता सामाजिक विधि (कर्त्तव्य) तथा निषेध (प्रतिबन्ध) पर जोर देती है । समृद्ध सभ्यता में सस्कृति का विकास होता है और उससे दर्शन, साहित्य, नाटक, कला, विज्ञान और गणित विकसित होते है । आदिकालीन सभ्यता में भाग्यवाद, मध्यकालीन में आध्यात्मवाद तथा आधुनिक सभ्यता में भौतिकवाद की प्रमुखता दृष्टिगत होती है ।

इस प्रकार सभ्यता और सस्कृति को बाह्य और आभ्यन्तर तत्त्व स्वीकार किया जाता है । परिणामस्वरूप सस्कृति को अपनाने में विलम्ब लगता है तथा सभ्यता का अनुकरण शीघ्र किया जाता है । सस्कृति का मूल सूत्र धर्म, भाषा व भौगोलिक खण्ड न हो कर जीवनयात्रा के वास्तविक उपकरण, सामाजिक व्यवस्था और इन सब की सहायता से बना मानस लोक है । इसका प्रवाह अबाध गति से चलता रहता है । हमारे रहने का ढग, कार्यप्रणाली, राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप, वैज्ञानिक और भौतिक साधन सभ्यता के स्तर के मापदण्ड हैं, किन्तु उनमें निहित सिद्धान्त तथा मूल्य, आदर्श तथा दर्शन हमारे सास्कृतिक विकास के सूचक माने जायेंगे । इस तरह सस्कृति सूक्ष्म है तथा सभ्यता स्थूल । सभ्यता का विकास तीव्र गति से हो सकता है, उसमें परिवर्तन भी तेजी से आ सकते हैं, किन्तु सस्कृति का विकास शनै शनै होता है । सस्कृति कोई स्थायी या अपरिवर्तनशील वस्तु नहीं है । वह पारस्परिक आदान-प्रदान से विकसित होती है । अन्य सस्कृतियो के सम्पर्क से इसका रूप सँवरता है । जिस सस्कृति में यह गतिशीलता और आदान-प्रदान नहीं होता वह जड हो जाती है ।

सस्कृति का मानव के साथ सम्बन्ध–

सस्कृति का मानव जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है । युगो से मानव का अनवरत चिन्तन तथा कर्म-व्यापार या तो प्रकृति से प्रभावित होता है या आन्तरिक प्रेरणा से प्रेरित होता है । कभी-कभी वह विविध स्थलो के निवासियों के पारस्परिक सम्पर्क से भी सम्पन्न होता है । इन्हीं समष्टिगत समान अनुभवों से सस्कृति उत्पन्न होती है । एक ही जलवायु में पले, एक ही प्रकार के गिरि, निर्झर, नदी, सागर को देखने वाले, एक ही

प्रकार के राजनीतिक सामाजिक आर्थिक सुख-दु ख को भोगे हुए लोगो के चित का झुकाव प्राय एक-सा होता है। यही उन लोगों को सस्कृति के निर्माण में सहायक होता है। किसी भी देश या जाति की सस्कृति की कहानी मानव के विकास की भी कहानी है और देश तथा काल की सीमा मे बँधे रहने पर भी इस कहानी का एक सावदेशिक एव सार्वकालिक रूप होता है। किन्तु फिर भी यह रूप जहा की भौतिक अथवा भौगोलिक परिस्थिति से निर्मित होता है, वहा की अपनी कोई विशेष प्रतिभा इसमें समाविष्ट हो जाती है। दिन-प्रतिदिन होने वाले परिवर्तना तथा सघर्षों के होते हुए भी इस विशिष्टता वाले रूप में जितनी ही अधिक उदात्तता, शिवता और गम्भीरता होती है, उसकी उतनी ही अधिक देन अखिल मानव जाति को होती है।

आज के विश्व में "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना प्रबल रूप से विकसित हो रही है। मानव इतिहास के इन हजारो वर्षों में ससार में कहीं भी ज्ञान-विज्ञान सामाजिक सगठन के रूप धर्म दर्शन कला या साहित्य मे जो कुछ भी उपलब्धि हुई है वही तो एक दृढ आधार बनकर अपनी समन्वय शक्ति से मानव का विकास के पथ पर अग्रसर करती है और नई-नई उद्‌भावनाओ के साथ नये-नये मार्गों से होकर उसे चलने के योग्य बनाती रही है। आज की दुनिया में आवागमन, सवाद और विचार-वहन की सुगम सुविधाएँ प्राप्त हैं। ऐसा लगता है माना ससार के सभी देशो के लाग एक ही कक्ष में रह रहे हा। सभी के विचार और भावनाएँ प्रत्यक्ष एक-दूसरे से टकरा कर परस्पर घुल-मिल रही हों। विज्ञान की प्रगति आज सभी जगह व्याप्त है। रेल, तार, डाक, मोटर, वायुयान, रेडियो, टेलीविजन आदि सर्वत्र हैं। यान्त्रिक उत्पादन और आधुनिक टेक्नोलाजी सभी देशो में है। सामाजिक और आर्थिक समानता की मान्यता सर्वत्र प्रसारित हो रही है। सभी जगह कला के नये मान बन रहे हैं। ऐसा लगता है मानो समस्त मानव जाति की सस्कृति का तत्वत· कोई एक रूप या आधार बनने जा रहा है।

यदि हम भारतीय सस्कृति के निर्माण को प्रारम्भ से देखें तो पता चलता है कि सस्कृति का मानव के साथ प्रगाढ सम्बन्ध है और उसे पृथक् नहीं किया जा सकता है। बहुत पहले जब इस पृथ्वी पर मानव का प्रादुर्भाव हुआ था, उस समय मनुष्य जगल के कन्द, मूल, फल खाकर या शिकार आदि से अपना भरण-पोषण करता था। धीरे-धीरे उसने पशुपालन एव कृषि के आविष्कार द्वारा अपनी आजीविका के साधना में प्रगति की। पशुआ का पालतू बनाकर उन्हें साथी तथा हल, गाड़ी आदि मे उनका उपयोग करना सीखा। अन्त मे मानव ने हवा पानी आग, भाप बिजली आदि के आविष्कार करके अपने को समुन्नत बनाया। इस भौतिक उन्नति के साथ ही मनुष्य ने अपने धर्म तथा दर्शन को भी समुन्नत किया। जीवन को सुख तथा सुविधापूर्वक चलाने के लिए उसने अनेक सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक सगठन बनाए। इस तरह मानसिक क्षेत्र में उन्नति की सूचक प्रत्येक सम्यक् कृति सस्कृति का अग बनती चली गई। इसमें प्रधानतया धर्म, दर्शन, समस्त ज्ञान-विज्ञान, कला सामाजिक तथा राजनीतिक परिवेश और विविधताओ का उसने समावेश कर लिया। इस तरह मानव सस्कृति का स्वरूप शनै शनै निखरता गया।

सस्कृति की पृष्ठभूमि

सस्कृति का सम्बन्ध मानव की क्रियाओं तथा उसके वैचारिक जगत् से है। साहित्य में इसे "धर्म" (कर्त्तव्य) शब्द से अभिहित किया गया है। भर्तृहरि के अनुसार-

"आहार निद्रा भय मैथुन च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेयामधिको विशेष
धर्मेण हीन पशुभि समान ॥"

क्षुधा, निद्रा भय तथा यौन सम्बन्धो की पूर्ति तो सभी प्राणी समान रूप से प्राकृतिक नियमानुसार कर लेते हैं, परन्तु मनुष्य अन्य प्राणियो की अपेक्षा भिन्न है । प्राणी जगत में मनुष्य की स्थिति को अलग करने का श्रेय केवल उसकी *सस्कृति को ही प्राप्त* है। पशुओ की कोई संस्कृति नहीं होती, अत वे क्षुधा, तृष्णा तथा वशवृद्धि के क्रियाकर्म मे ही बँधे हुए हैं । इसके विपरीत मानव सस्कृतियुक्त प्राणी है । उसका अपना एक विशिष्ट ढग है । फलत वह प्राकृतिक क्षुधा, तृष्णा को शान्त करने के साथ साथ अनेकानेक कार्य भी करता है । सस्कृति के तत्त्वो तथा उपकरणों का सम्बन्ध मनुष्य को इन क्रियाओं से है-

आदर्श परम्पराएँ, रीति-रिवाज तथा विश्वास, सद्‌गुण, व्यक्ति की भावनाएँ, विज्ञान, विचार, क्रिया तथा कौशल, *आध्यात्मिक मूल्य*, *धार्मिक क्रियाएँ*, *दर्शन*, कलात्मक अभिव्यक्तियाँ, साहसिक अभिरुचियाँ, सामाजिक कुशलता, नियन्त्रण, *अनुशासन*, *नियम*, *विधि*, *शासन व्यवस्थाएँ*, न्याय, दण्ड, पारिवारिक व्यवस्थाएँ भौतिक आवश्यकताएँ, भौतिक जीवन को उन्नत करने वाले साधन, भाषा, सकेत, लिपि, आर्थिक सगठन, सम्पत्ति का विभाजन तथा व्यवस्था, सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली विभिन्न सस्थाएँ, मनोरजन तथा अवकाश काल की क्रियाएँ, वाणिज्य, व्यापार, उद्योग तथा सुविधाओं का आदान-प्रदान, वैदेशिक सम्बन्ध तथा उनका नियमन व निर्धारण, यातायात के साधन तथा भ्रमण, युद्ध तथा शान्ति काल की व्यवस्था, ज्ञानार्जन, अध्ययन तथा मानसिक स्तर को ऊचा उठाने वाले साधन आदि । सस्कृति मानव सभ्यता का सार तत्त्व है। मानव जीवन की समस्त आवश्यकताओ को सस्कृति के निम्नस्थ उपकरणो के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है-

राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक सस्थाएँ, दर्शन, विज्ञा। १ साहित्य नाटक, काव्य, चित्रकला, मूर्तिकला, गृह निर्माण, उपासना गृह, वस्त्राभूषण बर्तन, जीवन के उपयोगी यन्त्र उपकरण, विभिन्न पर्व सस्कार सगीत मनोरजन के साधन, क्लब, पुस्तकालय नाट्य सग्रहालय, उद्योग-शालाएँ, विद्यालय खेलकूद आदि सस्कृति के विभिन्न उपकरण हैं ।

भारतीय सस्कृति की भौगोलिक पृष्ठभूमि-

किसी भी देश की सस्कृति पर वहा के भूगोल का गहरा प्रभाव पड़ता है । इसी कारण पुरानी सभ्यताओ तथा सस्कृतियो का विकास नदी-घाटियो में हुआ, जहा जीवन-निर्वाह के साधन सुलभ थे । धीरे-धीरे मनुष्य ने प्रकृति पर विजय प्राप्त कर भौगोलिक स्थिति को अपने अनुकूल बना लिया और उसका जीवन पहले से अधिक सुखी होने लगा । फिर भी देश के पर्वतो नदियो, मरुस्थलो तथा नगरो ने मनुष्य की सस्कृति को प्रभावित किया । मनुष्यों के विचार, राष्ट्रीय चरित्र, सामाजिक, धामिक, राजनीतिक तथा आर्थिक सस्थाएँ भी बहुत कुछ अशो तक भौगोलिक स्थिति से प्रभावित होती हैं ।

संस्कृति का विकास मनुष्य की क्रियाशीलता द्वारा होता है, जो उसके चरित्र के अनुसार होती है। चरित्र पर जलवायु एवं भौगोलिक सरचना का प्रभाव पडता है। जैसे हमारे देश भारत में जीवन का आधार कृषि है, जो वर्षा पर निर्भर है। वर्षा पर मनुष्य का कोई वश नहीं। कृषको सहित समूची भारतीय जनता आषाढ या जून के आते ही आकाश पर टकटकी लगाए रहती है। वर्षा हेतु प्रार्थनाएँ की जाती हैं। इस पर भी यदि वर्षा न हुई तो सब कुछ नष्ट हो जाता है। यही नहीं, अतिवृष्टि मे भी यही स्थिति होती है। यही कारण है कि भारत के लोग भाग्यवादी हैं।

भारत की भौगोलिक स्थिति–

मारत उत्तरी गोलार्ध के दक्षिणी एशिया में 80 डिग्री और 37 डिग्री अक्षाश तथा पूर्वी देशान्तर के 68 डिग्री तथा 97 डिग्री के मध्य स्थित है। कर्क रेखा भारत के मध्य भाग से गुजरती है और उसने भारत को दो भागो मे बाट दिया है। भारत का दक्षिणी भाग उष्ण कटिबन्ध व उत्तरी भाग शीतोष्ण कटिबन्ध में स्थित है। भौगोलिक स्वरूप में भारत एक त्रिकोण के आकार का प्रायद्वीप है वर्तमान भारत का विस्तार पूर्व से पश्चिम को ओर 1977 किलोमीटर तथा उत्तर से दक्षिण की ओर 3220 किलोमीटर है।

भौगोलिक स्वरूप–

भौगोलिक दृष्टि से भारत को निम्नाकित 5 भागो में बाटा जा सकता है–

(1) उत्तर का पर्वतीय प्रदेश

(2) गगा, सिन्धु तथा ब्रह्मपुत्र का विस्तृत मैदान

(3) राजस्थान की मरुभूमि,

(4) दक्षिण भारत तथा दक्षिण का पठार, और

(5) पूर्वी तथा पश्चिमी घाट।

भौगोलिक प्रभाव–

भारतीय भूगोल की मुख्य विशेषताएँ, जिन्होंने उनकी संस्कृति पर प्रभाव डाला ये हैं–

(1) आत्मनिर्भरता–भारत को विश्व का 'सक्षिप्त प्रतिरूप' कहा जाता है क्योंकि इस देश को वे सभी भौगोलिक उपादान प्राप्त हैं जो विश्व के किसी एक देश मे नहीं मिल सकते हैं। सच तो यह है कि भारतवर्ष की उपज में सभी मानवोपयोगी वस्तुएँ उपलभ्य है। अपनी इस उपलब्धि के परिणामस्वरूप भारतीय संस्कृति का विकास स्वच्छन्द रूप से हुआ। प्रकृति ने इस भारत भूमि को मानव जीवन की समग्र आवश्यक सामग्रियों से परिपूर्ण बना कर इस देश के अधिवासियो को ऐहिक चिन्ता से निर्मुक्त किया है। परिणामस्वरूप यह देश विचार प्रधान हो गया। अन्य देशो मे जीवन सग्राम इतना भीषण है, दिन-प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवन की ही समस्याएँ इतनी उलझी हुई हैं कि उन्हीं के सुलझाने में वहाँ के निवासियो का समय व्यतीत हुआ करता है, किन्तु भारत मे ऐसी दशा नहीं है।

(2) पृथकत्व–उत्तर में पर्वतो द्वारा सुरक्षित और दक्षिण में समुद्र से घिरा हुआ होने के कारण भारत एक भौगोलिक इकाई है और ये स्पष्ट परिचिह्नित सीमाएँ उसे सारे

ससार से अलग निरूपित करती हैं । हिमालय पूर्व से पश्चिम तक एक अखण्ड दाहरी दीवार के रूप मे है । दक्षिण की ओर का समुद्र प्राचीन समय मे भारत को अन्य सब देशो से अलग रखता था । केवल शान्ति के समय कुछ व्यापारिक सम्पर्क विदेशो के साथ समय समय पर होता था जैसा कि पाल से चलने वाले पोतो से एव किनारे किनारे खेने वाली उस युग की नावो की धीमी और भयभीत करने वाली यात्राओ से सम्भव था । समुद्र की चौडी खाई उस पार से हो सकने वाले आक्रमणो से भी देश की भरपूर रक्षा करती रही जब तक कि यूरोप के लोग इस मार्ग से भारत में न आ धमके ।

(3) **सम्पर्क**– भारतीय सस्कृति विलक्षण रूप से कई प्रकार की मिलावट या पृथक् तत्त्वो से बनी है जो *निश्चय ही बाहरी जगत् के साथ भारत के सम्पर्क और देशान्तरो से लोगों के यहा आकर बसने व आक्रमणो का परिणाम है* । विचार और जनसख्या के विश्वव्यापी आन्दोलनो ने भारत की पृथकृता को कुतर कर उसकी सस्कृति में कई जातीय और सास्कृतिक अशो को मिला दिया है । ये हैं प्राक्द्रविड द्रविड आर्य ईरानी यवन रोमन शक हूण इस्लाम और यूरोपीय । इन सब विदेशी प्रभावों का यहा आगमन उत्तर पूर्वी सीमा के दर्रों पूर्व मे ब्रह्मपुत्र की घाटी तथा दक्षिण में समुद्री मार्ग से सम्भव हुआ । *अति प्राचीनकाल से ही भारत का विश्व के अनेकों देशो से अविच्छिन्न* व्यापार होता रहा है । भारत के मसाले सुगन्धित पदार्थ रेशम मलमल सूती वस्त्र मोती और रत्न हाथीदात सोना चन्दन आदि की अन्य देशो मे बडी माग और आवभगत थी । उत्तर पश्चिमी सीमा पर्वतो की दीवार मे विद्यमान कुछ घटटे या दर्रे सब युगो में शान्तिमय यातायात और उग्र आक्रमण विस्तृत जातीय प्रसार तथा आवागमन के लिए मार्ग देते रहे हैं ।

(4) **विशालता**–*यद्यपि भौगोलिक दृष्टि से भारत एक अकेला और पृथक्* देश है तो भी इसके महान् विस्तार के कारण इसे देश की अपेक्षा महाद्वीप कहना उचित होगा । विस्तार मे रूस को छोडकर यह सारे यूरोप के क्षेत्रफल के बराबर है और ग्रेट ब्रिटेन से बीस गुना बडा है । इसके उत्तर प्रदेश मध्य प्रदेश जैसे प्रान्त ही एक एक करके ग्रेट ब्रिटेन से बडे हैं । बगाल बिहार और उडीसा इनमे से प्रत्येक का क्षेत्रफल इग्लैण्ड *और स्काटलैण्ड के बराबर है । महाराष्ट्र और तमिलनाडु प्रदेश दोनो ही इटली से बडे हैं* और अकेला असम राज्य इग्लैण्ड के बराबर है । क्षेत्रफल के स्थान पर यदि जनसख्या की दृष्टि से देखें तो भी भारत की विशालता कम नहीं होती । सारे ससार की जनसख्या का पाचवा अश भारत में रहता है तथा चीन को छोड कर और कोई भी देश जनसख्या की दृष्टि से भारत से बडा नहीं है ।

(5) **विविधता**– भारत की विशालता का एक परिणाम प्राकृतिक भूगोल और *सामाजिक सस्कृति के क्षेत्रो मे उसकी विविधता है । यहा प्राकृतिक भूगोल* की वे अनेक स्थितियाँ पाई जाती हैं जो अन्य देशो में बँटी हुई मिलती हैं । अक्षाश और देशाश के विपुल विस्तार में भारत में तीनो प्रकार की जलवायु मिल जाती है शीत कटिबन्ध या ध्रुवों जैसी हिमाचल के ऊंचे प्रदेशों मे समशीतोष्ण एव उष्ण कटिबन्ध जैसी जलवायु नीचे मैदानो से समुद्र तट तक । जलवर्षण की दृष्टि से भी भारत मे बहुत विविधता है । इसी कारण य भूमि की उपज के पदार्थों में भी बडे भेद हैं । भारत के वृक्ष और वनस्पति यदि से

ससार में नहीं तो पूर्वी गोलार्द्ध में इतने ही बडे किसी भी अन्य देश से अधिक विभिन्न हैं।" (हूकर)

सामाजिक विविधता के अन्तर्गत जन भाषा और धर्म का परिगणन किया जाता है। भारत मे मानव जाति के नृवश तत्त्व सम्बन्धी तीन मुख्य भेद पाये जाते हैं-(1) आर्य (काकेशिया) या श्वेतवर्णी, जिसके गोरा व सावला दो भेद हैं, (2) मगोल, किरात या पीतवर्णी, और, (3) हब्शी (इथियोपिया) या कृष्णवर्णी, जो अण्डमान द्वीप में रहते हैं। इनके शारीरिक विशेषताओं वाले कई मतभेद हैं। नृवंश पर आश्रित नसल सम्बन्धी विभिन्नता अपने साथ अनेक प्रकार क ापाओ के भेदो को भी लिए हुए हैं। विद्वानो ने भारत की भाषाओं को चार बडे विभागो में विभाजित किया है-(1) मुण्ड-शबर, (2) तिब्बती-चीनी, (3) द्राविड और (4) भारोपीय या सस्कृत से निकली भाषाएँ। धर्म के क्षेत्र में भी भारत मे सबसे अधिक विभिन्नता है। यहा सभी विश्वधर्म पाए जाते हैं। विशालतम हिन्दू धर्म के अतिरिक्त यहा इस्लाम, बौद्ध, ईसाई, सिक्ख, जैन, पारसी आदि धर्मों के अनुयायी भी हैं। भारत में मानवीय विकास की सभी अवस्थाओ और स्थितियों में प्रारम्भिक से लेकर उच्चतम दशा तक के लाग पाए जाते हैं। "यह देश लोक-धर्म, जन विश्वास, रीति-रिवाज, रहन-पहन, मत-मतान्तर, भाषा बोलियो-जातियो और समाज-सस्थाओ की दृष्टि से पूरा सग्रहालय कहा जा सकता है। पर यह मुर्दा चीजो का और ईंट-पत्थरो का अजायबघर नहीं, बल्कि प्राणवन्त मानव जाति और आध्यात्मिक-विचारो का, जो अपने-अपने ढग से विकसित हो रहे हैं महान् कोश हैं।" (मुकर्जी)

(6) **एकता**—भारत में इस विभिन्नता मे भी एक मौलिक एकता समाई हुई है। यहाँ के निवासियो ने सस्कृति और सभ्यता मे जो पहले ही उन्नति की, उसका कारण यह था कि आरम्भ में ही भारत देश को अपनी मातृभूमि बना सके थे। समस्त देश के लिए उन्होंने 'भारतवर्ष' यह नाम दिया। पुराणो की परिभाषा के अनुसार, "भारतवर्ष वह देश है, जो हिमालय के दक्षिण और समुद्र के उत्तर मे है, जहाँ महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान, ऋक्ष, विन्ध्य और पारियात्र ये सात पर्वत हैं, जहाँ भारत के वशज रहते हैं, जिसके पूर्व मे किरात और पश्चिम मे यवन बसते हैं और जहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ण के लोग हैं" (विष्णु पुराण, 2 127)। हिन्दुआ की एक देशव्यापी स्तुति मे मातृभूमि के स्वरूप की कल्पना और पूजा गगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु और कावेरी इन सात नदिया के देश के रूप मे की गई है, जा इस समस्त भूखण्ड में फैली हैं-

"गगे च यमुने चैव गोदावरी सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधि कुरु॥"

एक अन्य स्तुति में मातृभूमि का स्वरूप बताते हुए उसे अयाध्या, मथुरा, माया (हरिद्वार), काशी, काची, अवन्तिका और द्वारावती इन सात पुरियों का देश कहा गया है, जो भारत के प्रमुख भागो में हैं-

"अयोध्या मथुरा माया काशी काची ह्यवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिका॥"

हिन्दुओ की तीर्थयात्रा इन प्रार्थनाओ की भावना को पुष्ट करती है। इसके अनुसार प्रत्येक हिन्दू का कर्त्तव्य है कि वह अपने जीवनकाल में अपने धर्म के इन पवित्र

स्थानों के दर्शन करे। इस प्रकार अपनी मातृभूमि के प्रति उनके हृदयो में जीवित जाग्रत प्रेम समान रूप में उत्पन्न किया जाता था। इसी विचार से शकराचार्य ने अपने चार मठ देश के चार कोने मे बनाए–

(1) ज्योतिर्मठ उत्तर में (हिमालय क्षेत्र मे बदरिकाश्रम मे),
(2) शारदा मठ पश्चिम में (द्वारका मे),
(3) गोवर्धन मठ पूर्व मे (पुरी मे), और,
(4) शृगेरी मठ दक्षिण में (मैसूर मे)।

इसके अतिरिक्त राजनीतिक जीवन मे भी मातृभूमि के प्रति अपनी भावनाओ को पुष्ट करने मे सहायता मिली। जब देश एक शासन सूत्र के अन्तर्गत होता है तो उसकी एकता सहज ही समझ में आती है। प्राचीन हिन्दू बहुत पुराने समय से ही देश मे सर्वोपरि राजनीतिक सत्ता के आदर्श और अस्तित्व को जानते थे। उसके द्योतक कुछ महत्त्वपूर्ण वैदिक शब्द ये हैं–एकराष्ट्र सम्राट्, राजाधिराज, सार्वभौम और कुछ वैदिक यज्ञ हैं, जैसे–राजसूय वाजपेय और अश्वमेध आदि। अपने बाह्य सामाजिक रूप में हिन्दू धर्म के दो अग हैं–वर्ण व्यवस्था और आश्रम व्यवस्था। जाति जन्म के आधार पर व्यक्तियो को एक-दूसरे से अलग करती है, किन्तु आश्रम की प्रथा लोगों को ऐक्य की ओर खींचती है और सभी जातिया के लोगो को एक-एक आश्रम से सम्बन्धित विशेष प्रकार के नियमा मे बाधती है जिससे वे निश्चित मार्ग से स्वाभाविक अवस्थाओ को पार करते हुए उन्नति की आर बढ सकें।

भारतीय सस्कृति का मुख्य वाहन सस्कृत भाषा है। जनता को एक सूत्र में बाधने के लिए सस्कृत का जो प्रभाव पडा है, उसे पूरी तरह कह सकना कठिन है। "यद्यपि भारत में पाच सौ से अधिक बोलियाँ हैं पर धार्मिक भाषा केवल एक है और धार्मिक साहित्य भी केवल एक है जिसे हिन्दू धर्म के सभी अनुयायी चाहे वे जाति पाति, बोली, सामाजिक स्थिति और मत की दृष्टि से कितने ही भिन्न हो-मानते हैं और श्रद्धा से पूजते हैं। वह भाषा सस्कृत है और वह साहित्य सस्कृत साहित्य है। वही वेद या विश्वजनीन ज्ञान का एकमात्र कोश है। हिन्दू धर्म, दर्शन, व्यवहार-शास्त्र और गाथा-शास्त्र का एक मात्र साधन वही है। केवल वही ऐसा दर्पण है, जिसमे हिन्दुओ के सभी मत-मतान्तर, विचार, रीतिरिवाज और प्रथाएँ ठीक-ठीक प्रतिबिम्बित हुई हैं और वही ऐसी खान है, जहा से देशी भाषाओ को उन्नत करने की सामग्री मिल सकती है अथवा महत्त्वपूर्ण धार्मिक और वैज्ञानिक विचारो के प्रकाशन की सामग्री प्राप्त की जा सकती है।"

(मोनियर विलियम्स)

इस प्रकार भारत की विशाल सस्कृति की पृष्ठभूमि मे भारत का भौगोलिक योगदान बडे ही महत्त्व का है और यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक देश की सास्कृतिक विशेषताएँ उसकी प्राकृतिक दशा के अनुरूप होती हैं।

भारतीय संस्कृति की मूलभूत विशेषताएँ

इस विशालकाय देश भारत की जलवायु विविध प्रकार की है। यहा की भौगोलिक दशा भी सर्वत्र समान नही है। यहा अनेक जातियो के मनुष्य रहते है। यहा की भाषाएँ भी अनेक हैं। धर्म की दृष्टि से भी यहाँ एकता का अभाव दृष्टिगोचर होता है।

यहाँ की वेशभूषा, रहन-सहन, खान-पान में भी समानता नहीं है। इन समस्त विभिन्नताओं से कुछ विदेशियों ने भारत को "विभिन्नताओं का संग्रहालय" समझा। किन्तु इतना होने पर भी यहां एक "मौलिक एकता" है, जो इस देश की आधारभूत विशेषता है। भारतीय संस्कृति की एक लम्बी और वैविध्यपूर्ण गाथा है। विश्व ने देखा कि भारत की समकालीन संस्कृतियाँ अनेकों मध्यान्तरों पर अपनी अगली पीढ़ी की संस्कृति को जगह देकर विलीन हो गई। फिर भी नवीन संस्कृतियाँ भी लुप्त हो गईं, किन्तु भारतीय संस्कृति फिर भी जीवित है। उसकी आत्मा के दीपक की लौ काँपी जरूर, परन्तु कभी बुझी नहीं। ऐसा देश जो अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों की ओर न देखता हो, जिसकी संस्कृति निकटवर्ती देशों से उच्चतर तथा प्राचीन रही हो, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उस देश की कतिपय मौलिक विशिष्टताएँ हों। अब हम उन कारणों को देखेंगे, जिनसे "**क्या बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी**"-

(1) प्राचीनता या सनातनता– विभिन्न प्रमाणों तथा साक्ष्यों के आधार पर यह पूरी तरह से सिद्ध हो चुका है कि मानव अस्तित्व के समय से ही भारत भूमि सांस्कृतिक चेतना तथा क्रियाशीलता की क्रीड़ाभूमि रही है। भारत में आने वाले यूरोपीय यात्रियों ने यहां पर एक ऐसी संस्कृति पाई, जिसे अपनी प्राचीनता का पूर्ण ज्ञान था। यहाँ पूर्व पाषाण काल के अनेक अवशेष चिह्न पल्लावरम्, चिंगलपेट, वेल्लोर, तिन्न वल्ली आदि दक्षिण भारतीय प्रदेशों, पंजाब में सोन नदी की घाटी तथा पिंडिघेय से, उत्तर प्रदेश में मिर्जापुर के रिहण्ड क्षेत्र से तथा मध्यप्रदेश में नर्मदा नदी की घाटी के क्षेत्र से प्राप्त हुए हैं। होशंगाबाद, पंचवटी, कैमूर तथा रामगढ़ से अनेक उपकरण एवं सिंघनपुर तथा कबरा की गुहाओं से अनेक अभिव्यक्तिपूर्ण चित्र आदि भी मिले हैं। हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो में भारतीय संस्कृति की प्राचीनता के साथ-साथ इसकी सर्वोत्कृष्टता के भी प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। अत: यह सच है कि "जब विश्व के अन्य भागों में संस्कृति के अंकुर फूटने वाले थे, उस समय भारत में एक विकसित संस्कृति पल्लवित हो चुकी थी।" भारतीय संस्कृति की प्राचीनता इस बात से भी प्रमाणित होती है कि इसने लगभग चार-पांच हजार वर्षों से विश्व की अनेक संस्कृतियों को प्रभावित किया है। भारत की सामाजिक संस्थाएँ इसी प्राचीनता के योग से पल्लवित और पुष्पित हुई हैं। इसने यूनान तथा रोम का उत्थान व पतन देखा है। जरथुस्त्री, यहूदी, ईसाई और मुस्लिम धर्मों के आविर्भाव से पहले इसका जन्म हो चुका था। अब्ज सुमेर, बाबुल, मिस्र, यूनान, रोम आदि की गौरवपूर्ण प्राचीन संस्कृतियाँ अब केवल खण्डहरों के रूप में शेष रह गई हैं। पुरातत्त्ववेत्ता उनकी कब्रें खोदकर उनका ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं, किन्तु भारतीय संस्कृति की परम्परा आज भी पूर्ववत् अक्षुण्ण है।

(2) आध्यात्मिकता–धर्म तथा ईश्वर में श्रद्धा एवं निष्ठायुक्त भावना आध्यात्मिकता है। आध्यात्मिक दृष्टि से सम्पूर्ण प्राणियों में आत्मतत्त्व विद्यमान है, जो चींटी से हाथी तक एकसा ही है। वह अणु से भी छोटा और विशालता में असीम है। भारतीय संस्कृति मे अध्यात्म भावना इतनी घनिष्ठ है कि यहाँ के मानव जीवन के सभी क्षेत्रों में इसका प्रभाव है। धर्म, दर्शन, राजनीति शास्त्र, नीतिशास्त्र, समाज शास्त्र, कला-सभी में यह भावना ओतप्रोत है। और तो और यहाँ पारस्परिक प्रणय सम्बन्ध, शृंगार, कला, युद्ध और शान्ति का प्रमुख आधार आत्मा के अभेद और परमात्मा की व्यापकता पर

आधारित है। यहां तो जीवन के समस्त पहलुओं पर आध्यात्मिक दृष्टि से विचार होता है। भारतीय संस्कृति में ब्रह्म की व्यापकता को सर्वोपरि माना है-

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते,
येन जातानि जीवन्ति।
यत् प्रयन्त्यभि संविशन्ति,
तद् विजिज्ञासस्व, सद् ब्रह्मेति ॥" (तैत्तिरीय उपनिषद्)

"निश्चय ही ये सब प्राणी जिससे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके द्वारा जीवित रहते हैं, अन्त में जिस को प्राप्त कर उसमें लीन हो जाते हैं, वही ब्रह्म है।" उत्कृष्ट चरित्र वाले से लेकर निन्द्य कर्म करने वाले तक में इस आध्यात्म भावना का प्रसार होने से यह भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता बन गई है। यहां तक कि शवयात्रा के समय भी राम या ब्रह्म के नाम को ही सत्य मानकर जड़ शरीर का सस्कार किया जाता है। गीता में आत्म-तत्व को अमर, अजर और सनातन घोषित किया है। यही भावना भारतीय दर्शनों की विचारधारा में मिलती है। इसी कारण "आत्मवत् सर्वभूतेषु य· पश्यति स पण्डित·" कहा गया है। "भारतीय संस्कृति में मानव की तार्किक प्रवृत्ति से अधिक जोर आध्यात्मिक प्रवृत्ति पर दिया गया है। ऋग्वेद के शब्दो मे जिस आत्मिक खोज, आध्यात्मिक अस्थिरता और बौद्धिक सन्देहवाद की अभिव्यक्ति है, वह भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक विशेषता का आधार है।" (डॉ राधाकृष्णन्)

(3) धार्मिकता–भारतीय संस्कृति और जीवन का मूलाधार "धर्म" है। धर्म वह आधार है, जिस पर सृष्टि टिकी हुई है। "धारण करने वाली शक्ति धर्म है।" हमारे इतिहास मे धर्म का प्रभाव युद्ध और शान्ति दोनों में दिखाई पड़ता है। आपात्काल में भी धर्म या उच्च नैतिक आदर्श अनुल्लघनीय रहे। धार्मिक मर्यादा तोड़ने वालो को समाज से बहिष्कृत करने की प्रथा चली आई है। भारत में धर्म की परिभाषा कभी सकुचित रूप में नहीं की गई। यहाँ मूल रूप में धर्म का आशय "कर्त्तव्य" से है। जिससे लौकिक और पारलौकिक कल्याण होता हो, वही कार्य करना चाहिए। हमारे यहाँ धर्म न दूसरे को बाधा पहुँचाता था और न ही किसी का विरोध करता था। प्रत्येक व्यक्ति इस सामाजिक भावना से ओत-प्रोत रहता था। यहाँ धर्म के सिद्धान्त भी उच्चकोटि के हैं। "मन, वाणी और शरीर से किसी को कष्ट नहीं देना चाहिए", "अपना अहित करने वाले पर भी क्रोध नहीं करना चाहिए," "शान्ति से रहते हुए सच बोलना चाहिए तथा ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए," "मृदुता, लज्जा, अचांचल्य से युक्त होना चाहिए।" इन अनुकरणीय आदर्शों में जीवन सहज रूप से व्यतीत होता था, इनमे किसी भी प्रकार का भेदभाव व ऊँच-नीच की भावना का लेशमात्र भी प्रवेश नहीं था। इसी धार्मिक प्रवृत्ति से मनुष्य का सारा जीवन प्रभावित होता था। भारतीय संस्कृति के सारे अग तथा उपाग, जैसे शरीर और मन की शुद्धि, खान-पान, रहन-सहन, वस्त्राभूषण, दैनिकचर्या करने तथा न करने योग्य कार्य, व्यक्तित्व का विकास, कृषि, पशुपालन, उद्योग, व्यवसाय, व्यापार, शिल्प, निर्माण, कला, संगीत, साहित्य, विज्ञान, अनुशासन, सामाजिक व्यवस्थाएँ कर्त्तव्य, अधिकार, संस्कार, शिक्षा आदि धर्म की परिधि में आते हैं। इस प्रकार भारतीय संस्कृति का विकास तथा पोषण धर्म की छत्रछाया में हुआ है।

(4) सहिष्णुता–इसका तात्पर्य अन्य प्राणियो के प्रति सद्‌भाव है। "जीओ और जीने दो" का शाश्वत दर्शन भारत में भलीभांति पुष्पित व पल्लवित हुआ। इसका मूल कारण यहाँ की सस्कृति में प्राप्त होने वाली गम्भीरता या परिपक्वता है। यहाँ के दर्शन का मुख्य प्रेरक तत्त्व प्रारम्भ से ही एक-दूसरे के प्रति सहिष्णु होकर व्यवहार करने का रहा है। आगन्तुक विदेशियो द्वारा यहाँ के लोगो के प्रति क्रूरता का व्यवहार करने पर भी भारतीयो ने अपनी सस्कृति के अनुकूल सद्‌भावना व सहिष्णुता अभिव्यक्त की है। विश्व के इतिहास में ऐसी सहनशीलता या धैर्य की अपूर्व शक्ति बहुत ही कम देखी जाती है। सहिष्णुता का एक आशय सामंजस्य का भाव भी है यह हमे भारत में आर्यों के आगमन से ही दिखाई देता है। विजेता आर्य यहाँ की मूल जातिया मे घुलमिल गये। दोनो के धर्म तथा विचारो मे एक उपयोगी सम्मिश्रण हुआ। यद्यपि आर्यों ने अनार्यों के देवता तथा उनकी पूजा पद्धतियो को स्वीकार किया, तथापि उनको परिष्कृत भी किया। आर्यों के मूल धर्म में पशुबलि प्रथा नहीं थी, किन्तु बाद मे अनार्यों के प्रभाव से उसे यज्ञो मे स्वीकार किया गया। रावण आदि अनार्यो द्वारा पूजित देवता शिव हिन्दू धर्म मे महादेव के नाम से अगीकृत हुए। नागो को हिन्दू धर्म मे ऊँचा स्थान इसी सहिष्णुता के कारण मिल सका। जगली जातियाँ जिन प्रस्तर खण्डो की पूजा करती थीं वे शालिग्राम तथा शिवलिग बन गये। प्रारम्भिक आर्यों की मूर्ति स्थापना तथा मूर्ति पूजा मे मान्यता नहीं थी परन्तु उन्होंने अपनी उदारता से उन सभी लोक प्रचलित प्रथाओ तथा पूजा पद्धतिया को ग्रहण करके उन्हे परिमार्जित कर लिया।

(5) स्थायित्व–भारतीय सस्कृति मे यह अद्‌भुत विलक्षणता दृष्टिगत होती हे कि आज भी इसमे चिरन्तनता वाले सूत्र अनुप्राणित हैं। कोई भी सस्कृति प्राचानतम होने से ही सर्वांगीण नहीं मानी जाती। जब तक उसम देश ओर काल से अबाधित तत्त्व नहीं हाते वह अपने शाश्वत स्वरूप को धारण नहीं कर सकती है। इतने सुदार्घ काल के व्यतात हो जाने पर भी यहा की सस्थाओ के जीवनक्रम मे ह्रास नहीं आया। यहा पर कितने ही विदेशी आक्रमण हुए अनेक विदेशी जातिया ने अपनी क्रूरता ओर शक्ति क बल पर अपनी स्वेच्छाचारिता का परिचय दिया। यूनानी, शक पहलव कुषाण हूण मुसलमान अग्रेज जैसी विदेशी जातियो ने यहा पर आक्रमण कर अपना राज्य स्थपित किया। किन्तु भारतीय सस्कृति अपनी दृढ और गहन भित्ति पर अक्षुण्ण रही। इतने दीर्घकाल मे होने वाले परिवर्तन इसी सस्कृति के अग बन गये।

(6) कर्मवाद–मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार फल पाता है। अच्छे कार्यो से पुण्य तथा बुरे से पाप मिलता हे। "अवश्यमेव भोक्तव्य कृत कर्म शुभाशुभम्' अर्थात् प्राणी द्वारा किए शुभ या अशुभ कर्मों का फल अवश्य भोगना पडता है। बृहदारण्यकोपनिषत् मे आता है कि "पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पाप पापेनैवेति"। समस्त विश्व को अपना परिवार समझने की भावना मानव को कर्मवाद मूलक प्रवृत्ति की ओर प्रेरित करती है। जीव को चौरासी लाख योनियो मे भ्रमण करने वाला माना गया है। वह एक जन्म से दूसरा जन्म लेता हुआ कभी सुख भोगता है तो कभी दु ख कभी पुरुष बनता है तो कभी स्त्री, कभी यहा पैदा होता है तो कभी वहा। कर्म की विचित्र गतियों के कारण समस्त जगत् जीव का सचरण क्षेत्र रहता है। इन विभिन्न परिस्थितियो में अनेक प्रकार के अनुभव प्राप्त करता हुआ जीव क्रमश बुरे कार्यों का

के सफल और सशक्त माध्यम हैं। भारतीय संस्कृति में मनुष्य का जीवन एक निर्दिष्ट लक्ष्य है। उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए ही भारतीय धर्मशास्त्रियों का सतत प्रयत्न रहा है। इस लक्ष्य की ओर मानव को अग्रसर करने के लिए हृदय में जिन प्रेरणाओं की आवश्यकता होती है, उनकी भावनाओं को मानव हृदय में वपन करने का नाम ही संस्कार है। मनुष्य जन्म से भी पूर्व से इन संस्कारों का आयोजन करता है, जिससे वह जीवन को परिष्कृत बनाने की चेष्टा करता है। इस प्रकार इन संस्कारों का मानव जीवन में बहुत बड़ा महत्त्व है। यो तो सभी देशों और धर्मों में संस्कार किसी न किसी रूप में प्रचलित हैं, परन्तु भारतीय संस्कृति में इनका जितना वैज्ञानिक आविष्करण किया है, उतना सम्भवत अन्यत्र नहीं है।

(11) ओजस्विता तथा प्रगतिशीलता— भारतीय संस्कृति का बोध कराने वाला समूचा वैदिक तथा लौकिक संस्कृत साहित्य प्रगतिशीलता के ओजस्वी विचारों से भरा पड़ा है। उसमे पौरुष, शूरवीरता पराक्रम तथा आशावाद के ओजपूर्ण विचारों की प्रधानता है। शत्रुओं का दमन करना बाधाओं को नष्ट करते हुए आगे बढते जाना तथा अपने जीवन में सदा विजय ही प्राप्त करना आर्यों का मुख्य लक्ष्य था। 'चरैवेति चरैवेति' (बढे चलो, बढे चलो) यह वाक्य आर्यों के जीवन का आदर्श था। ऋग्वेद मे सबसे अधिक मन्त्र इन्द्र की स्तुति में गाए गये है, जो वैदिक आर्यों का राष्ट्रीय देव (National Hero) था। इसी के नियन्त्रण मे उसके अनुयायियो ने अपनी विजय-पताका फहराई थी। ऐतरेय ब्राह्मण मे भी कहा गया है कि 'नाश्रान्ताय श्रीरस्ति' अर्थात् जो परिश्रम से थक कर चकना चूर नहीं होता उसे लक्ष्मी नहीं मिलती। भाग्य के भरोसे बैठने पर कोई लाभ नहीं होता। आलस्य तो मनुष्य का महान् शत्रु है और सभी कार्य उद्यम से सिद्ध होते हैं। अत हमे उन्नति के लिए निरन्तर प्रयास करते रहना चाहिए। प्रगतिशीलता की यह भावना समस्त भारतीय आर्य संस्कृति में व्याप्त थी। इसी कारण आर्यों ने अपनी संस्कृति का देश विदेशों में प्रचार प्रसार किया।

(12) तीन तकार (त्याग, तपस्या और तपोवन)— भारतीय संस्कृति में तीन तकारो का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमे सर्वप्रथम स्थान त्याग का है। इस जगत् में जिसने त्यागवृत्ति को अपना लिया उसी ने महानता प्राप्त करली। मानव जीवन की सफलता त्याग के द्वारा ही हो सकती है भोग के द्वारा नहीं। पश्चिम भौतिक संस्कृति जहा हमें भोग की शिक्षा देती है वहा भारत की आध्यात्मिक संस्कृति हमे त्याग का उपदेश देती है। पश्चिमी सभ्यता दूसरों के भाग को भी छीन लेने के लिए आग्रह करती है, वहा भारत की सभ्यता अपने स्वार्थ को परार्थ के लिए छोड़ने को उद्यत रहती है। त्याग एक महामन्त्र है। इसी महामन्त्र के अभाव का जो दुष्परिणाम उत्पन्न हुआ उसे हम यूरोपीय महायुद्ध के रूप मे देखते हैं। भौतिक जीवन को ही परम लक्ष्य मानने वाली पश्चिमी संस्कृति का यही अवसान है। असख्य नरो का सहार अपरिमित धन का स्वाहाकार, दीन दु खी अबलाओं का हाहाकार निर्धनो तथा निर्बलो को रौंद कर पूँजीपतियो का असख्य धनसग्रह, ये ही भौतिकवाद के जीते-जागते फल हैं। भारतीय संस्कृति दूसरो का मगल चाहती है। दूसरो के कल्याण में ही अपने मगल की भावना करती है। "पर" की कार्यसिद्धि के लिए वह "स्व" के एकदेशीय क्षुद्र स्वार्थ का सर्वथा त्याग कर देती है। यही तो यज्ञ की महनीय भावना है। गीता मे जिस यज्ञ की उदात्त कल्पना की गई है वह

यही "निष्काम कर्म का विधान" है । भगवद्गीता से बहुत पहले हमारे वैदिक ऋषियो ने इस तत्व का उद्घोष किया था । ईशावास्य की श्रुति इसी त्याग की घोषणा कर रही है-

ईशावास्यमिद सर्व यत्किच जगत्या जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुजीथा मा गृध कस्यस्विद् धनम् ॥"

"ससार मे जो कुछ भी पदार्थजात हैं वह सब कुछ परमेश्वर से व्याप्त हैं, अत उसके द्वारा दिए हुए पदार्थों से अपना-अपना भाग प्राप्त करो तथा अन्य किसी भी धन का लालच मत करो ।" त्याग भाव से अपना पालन करना चाहिए-भारतीय सस्कृति का यही मननीय मन्त्र परमार्थ या नि स्वार्थ कर्म के नाम से भी अभिहित किया जाता है ।

त्याग के लिए तपस्या आवश्यक है । तप की अग्नि मे बिना तपाए मानव जीवन निर्मल नहीं होता उसके मल जलकर राख नहीं हो जाते, तपस्या ही हमारी समग्र कामनाओ की सिद्धि का मुख्य साधन है । यह स्वार्थ तथा परमार्थ की साधना की श्रृखला है । इसके द्वारा मनुष्य अपनी सारी कामनाओ की ही पूर्ति नहीं करता वरन् परोपकार के यथावत् सम्पादन की योग्यता का अर्जन करता है । तप की महिमा से हमारा साहित्य भरा पडा है । भारतीय सस्कृति के प्रतिनिधि कवि कालिदास ने इसका महत्व बडे ही भव्य शब्दो मे व्यक्त किया है । मदनदहन के अनन्तर भग्नमनोरथा पार्वती ने कठोर तपस्या के ही बल पर अपनी कामनावल्ली को सफल बनाया । पार्वती की तपस्या का रहस्य खोल कर कालिदास ने आर्य ललनाओ के सामने एक महनीय आदर्श उपस्थित किया है-

इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपता
समाधिमास्थाय तपोभिरात्मन ।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वय
तथाविध प्रेम पतिश्च तादृश ॥" (कुमारसभव 5 2)

"बस पार्वती ने ठान लिया कि जिस शिव को मैं रूप से नहीं रिझा सकी, उसे अब सच्चे मन से तपस्या करके पाऊगी । ' बात भी ठीक है क्योंकि ऐसा निराला पति बिना तपस्या के भी कहीं मिला करता है ? पार्वती के तप का फल था अलौकिक उत्कट कोटि का प्रेम और मृत्यु को जीतने वाला पति । आर्य नारियो के लिए उत्कट प्रेम व मृत्युजय पति पाने का एकमात्र साधन "तपस्या" है ।

तपस्या के लिए उपयुक्त स्थान तपोवन है । कोलाहलपूर्ण नगर के अशान्त वातावरण में, नागरिक जीवन के रात्रिदिव सघर्ष मे तपस्या की साधना किसी भी प्रकार से नहीं हो सकती है । उसके लिए तो जनकोलाहल से दूर शान्त और रमणीय स्थान मे निवास करना चाहिए जहाँ चित्त स्वभाव से ही प्रपचो से हट कर आत्मचिन्तन मे सलग्न हो सके । इसीलिए तपोवन भारतीय सस्कृति का जन्मस्थान है । तपोवन की शान्त और सुन्दर, उपादेय तथा कमनीय शान्तिमय तथा सौन्दर्यमय गोद मे लालिता तथा पालिता हमारी सस्कृति स्वार्थ तथा परामर्थ के स्वजीवन तथा परजीवन के सामजस्य की सर्वतोभावेन पोषिका है । हमारी सस्कृति के विकास मे नगर का महत्व बहुत स्वल्प रहा है । जो नगर अशान्ति के निकेतन हैं कलह के कारागार हैं विद्रोह के विराट् भवन हैं, उनमे पाश्चात्य सभ्यता पनपी और इसीलिए मानव समाज की वह भूयसी हानिकारिणी सिद्ध हुई । पश्चिमी समाज मे उन कोमल वृत्तियो का विकास कहा, जो एक मनुष्य की पीडा

देखकर दूसरे के हृदय में स्वत सहानुभूति उत्पन्न करती है । जीवन की वह उदात्तता कहाँ जो अपने जीवन को सकट में झोक कर दूसरे के प्राणो को बचाने के लिए हमें बाध्य करती है । ये नागरिक संस्कृति के विषय दुष्परिणाम हैं । परन्तु तपोवन की सेविका भारतीय संस्कृति मे इन दोषो का प्रादुर्भाव कभी नहीं हुआ । नन्दिनी के वरदान से सूर्यवश मे पराक्रमी राजा रघु का जन्म तपोवन में होता है, यह घटना अपना आध्यात्मिक मूल्य रखती है । इस प्रकार भारतीय संस्कृति के मूल मे तकार से आरम्भ होने वाले त्याग तपस्या तपोवन ये तीन तत्त्व क्रियाशील हैं ।

(13) अहिंसा की भावना—भारतीय संस्कृति अपने व्यवहार में अहिसक रही है । यहा प्रारम्भ से ही अहिसा की भावना को बडा महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है । "अहिंसा परमो धर्म " हमारे सभी शास्त्रों का सिद्धान्त है । इसी अहिसा के पालन से वुद्ध की गणना दशावतारो के मध्य होती है तथा भगवान् महावीर को सभी मानवो ने आदर स्नेह और सम्मान प्रदान किया है । आचार्य मनु ने धर्म के दस लक्षण गिनाते समय अहिसा को सर्व-प्रथम स्थान दिया है-

"अहिंसा सत्यमस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशक धर्मलक्षणम् ॥"

अहिसा का तात्पर्य यह है कि किसी भी निरपराध प्राणी की हिसा नहीं होनी चाहिए । अहिंसा का पालन मन वाणी तथा कर्म से किया जाना चाहिए । इस प्रकार किसी भी प्राणी के विषय में दुर्भावना या कठोर वचन बोलना भी हिसा मे ही गिना जायेगा । दैवी और आसुरी सम्पत्ति की विवेचना करते हुए श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता मे अहिसा की गणना दैवी सपत् मे की है, जिसमें ये आते हैं-

"अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्याग शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्य मार्दव ह्रीरचापलम् ॥" (16 2)

किन्तु अहिंसा का आशय कायरता से नहीं है । यह तो आत्मा का एक ऐसा गुण है जिससे मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे विजय प्राप्त करता है । अपने परिमित क्षेत्र में ही अहिसा का पालन करना धर्म है । जब अहिसा धार्मिक क्षेत्र का अतिक्रमण करके राजनीति या व्यवहार में आती है तो वहा अहिंसा का पालन करना हिसा की श्रेणी मे आ जाता है । हमारे धर्मशास्त्र में राजनीति के क्षेत्र मे "शठे शाठ्यम् समाचरेत्" अर्थात् दुष्ट के प्रति दुष्टता की नीति अपनानी चाहिए का उपदेश दिया गया है । राजनीति निपुण कौटिल्य का भी कथन है कि "काटे से काटा निकालना चाहिए ।" मनुस्मृति मे भा स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है कि जो व्यक्ति आततायी अर्थात् भयकर अपराध करने वाला है, उसे बिना विचारे ही मार डालना चाहिए भले ही वह ब्राह्मण हो बालक हो वृद्ध हो गुरु हो या बुद्धिमान हो-

"गुरु वा बाल वृद्ध वा ब्राह्मण वा विपश्चितम् ।
आततायिनमायान्त हन्यादेवाविचारयन् ॥"

श्रीकृष्ण ने भी महाभारत में अपना गाण्डीव धनुष छोड देने वाले अर्जुन को अपने शत्रुओ को मारने का उपदेश दिया था । क्षत्रियो का यही धर्म है कि वे शत्रुओ का विनाश र । इसी कारण श्रीकृष्ण ने कहा कि-

"हतो वा प्राप्यसि स्वर्गं, जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय, युद्धाय कृतनिश्चय ॥
सुखदु खे समे कृत्वा, लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैव पापमवाप्स्यसि ।" (गीता 2 37-38)

इतना होने पर भी अहिंसा हमारे लिए स्पृहणीय रही है । हमारी सस्कृति का मूल मन्त्र रहा है-"किसी को हम दु ख न दे और न हम किसी के द्वारा दु खित हो तथा न किसी से शत्रुता रखें ।" यदि भारत ने कभी शस्त्र उठाया है तो आत्मरक्षा के लिए । आज के विश्व की आक्रमणकारी मनोवृत्ति के रूप मे भारत ने कभी सोचा ही नहीं । भारतीयो ने वीरता, बलिदान तथा हँसते-हँसते प्राणो पर खेल जाने के अनेक उदाहरण दिए किन्तु वे केवल आत्मरक्षा के लिए थे और उस स्थिति में उन्होंने जिन्दगी को खेल समझा एव पचभौतिक शरीर को मिट्टी । विश्व के अन्य भागो मे यदि भारतीय सस्कृति का प्रसार हुआ तो प्रेम शान्ति व हृदय-परिवर्तन द्वारा न कि तलवार की नोक पर या धन के लोभ से ।

(14) ज्ञान-विज्ञान का विकास—हमारे देश में अति प्राचीनकाल से ही ज्ञान-विज्ञान के प्रति रुचि रही है । साहित्य समाज का दर्पण तो होता ही है साथ ही साथ वह सस्कृति का प्रधान वाहक भी होता है । सस्कृति की आत्मा साहित्य के भीतर से अपनी मधुर झाँकी सदा दिखलाया करती है । सास्कृतिक आचार तथा विचार के विपुल प्रचारक तथा प्रसारक होने के हेतु सस्कृति के सन्देश को जनता के हृदय तक पहुचाने के कारण साहित्य सस्कृति का वाहक होता है । महर्षि वाल्मीकि तथा व्यास कालिदास तथा भवभूति बाण तथा दण्डी पाठको को हृदयकली को विकसित करने वाले मनोरम काव्यो की रचना के कारण जितने मान्य हैं, उतने ही वे भारतीय सस्कृति के विशुद्ध रूप मे चित्रण करने के कारण भी आदरणीय हैं । हमारी सस्कृति का निखरा रूप हमे सस्कृत भाषा मे निबद्ध साहित्य में दृष्टिगोचर होता है । बृहत्तर भारत मे भारतीय सस्कृति का प्रचार तलवार से न होकर कलम के सहारे हुआ । हमारे यहा ज्ञान-विज्ञान का प्रत्येक क्षेत्र मे अन्वेषण विवेचन तथा प्रयोग चलता ही रहा है । आर्यों ने ही ससार मे सर्वप्रथम उच्चारण भाषा तथा व्याकरण शास्त्र के विषयो का ज्ञान प्राप्त किया था । विभिन्न विज्ञानो को उन्होंने सूत्र शैली में व्यवस्थित ढग से बाधा । दर्शन, आयुर्वेद, राजनीति छन्द, ज्योतिष आदि सभी ज्ञान-विज्ञान के विषयों पर उन्होंने स्पष्ट तथा निर्भ्रान्त ग्रन्थ लिखे ।

(15) आशावादिता व अवतारवाद—भारतीय सस्कृति मे यह सुदृढ मान्यता प्राप्त सिद्धान्त है कि धर्म की रक्षा करने के लिए तथा अधर्म के विनाश के लिए, भक्तों के त्राण तथा दुष्टों के दलन के लिए सच्चिदानन्द, परम दयालु भगवान् इस भूतल पर अवतार लिया करते हैं । अवतार का अर्थ है अवतरण अर्थात् ऊपर से नीचे को उतरना । भगवान् सर्व शक्ति सम्पन्न हैं । वे सर्वव्यापक हैं तथा यह जगत् उनका एक पाद है । इसके ऊपर उनका त्रिपाद विराजता है । जब जगत् वैषम्य से विचलित हो उठता है जब प्रजाओ को एक सूत्र में रखने वाला धर्म क्षुब्ध हो उठता है, तब ससार में सामजस्य उत्पन्न करने के लिए भगवान इस भूतल पर साकार रूप मे अवतीर्ण होते हैं । वे साकार भी हैं और निराकार भी । साकार रूप मे उत्पन्न होने से न तो उनकी किसी शक्ति का क्षय होता है और न उनके पूर्णत्व में किसी प्रकार का ह्रास होता है । अन्य धर्म व सस्कृति वाले भी

किसी न किसी रूप में इस सिद्धान्त को मानते हैं, परन्तु वैदिक धर्म का तो यह सर्वस्व हो ठहरा। जब भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने मुख से इस रहस्य का उद्घाटन किया है कि साधुओं की रक्षा के लिए और दुष्टों के दलन के लिए मैं प्रत्येक युग में अवतार लेता हूँ, तब कौन सचेता इस तथ्य में विश्वास नहीं करेगा ? गीता में भगवान् को यह प्रतिज्ञा है कि-

"परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसस्थापनार्थाय सभवामि युगे युगे ॥"

(16) पुनर्जन्म व मुक्ति— भारतीयों का दृढ विश्वास है कि वर्तमान जीवन ही हमारा प्रथम और अन्तिम जीवन नहीं है। जीवन-मरण को अनादि और अनन्त शृखला में वर्तमान जीवन एक साधारण कड़ी है। हमारी सस्कृति में यह मान्यता है कि मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों में जन्म लेता है और वर्तमान का अन्त हो जाने पर वह पुनर्जन्म ग्रहण करता है। गीता में श्रीकृष्ण ने इस सिद्धान्त को समझाते हुए स्पष्ट ही लिखा है कि जो मनुष्य पैदा हुआ है, उसको मृत्यु निश्चित है और जा मर चुका है उसका जन्म लेना भी आवश्यक तथा ध्रुव सत्य है "जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु , ध्रुव जन्म मृतस्य च।" इस विषय में जन्मान्तरवाद को सिद्ध करने के लिए शास्त्रीय प्रमाण के साथ युक्ति प्रमाण तथा प्रत्यक्ष प्रमाण का अत्यधिक सामजस्य है। यह सिद्धान्त कर्मवाद के सिद्धान्त का पोषक तथा सहायक है। भारतीय शास्त्रों की मान्यता है कि पुण्यात्मा लोग पुण्य के फल से स्वर्ग लोक में जन्म लेकर देवताओं समान भोग भोगते हैं और विशाल स्वर्ग लोक का भोग करके पुण्य क्षीण होने पर वे मृत्यु लोक में आ जाते हैं। इस प्रकार वासना रखने वाले व्यक्तियों का आवागमन होता रहता है। ऐसे लाग आज भी देखे जाते हैं, जो अपने पूर्वजन्म के वृत्तान्त को पूर्ण रूप से स्मरण रखते हैं और इन्हें "जातिस्मर" कहते हैं।

भारतीय सस्कृति में मुक्ति ही परम पुरुषार्थ है। दु खो को अत्यन्त निवृत्ति ही मोक्ष है। अत्यन्त का अर्थ है हमेशा के लिए अर्थात् एक बार निवृत्ति हो जाने के बाद फिर उसकी आवृत्ति नहीं होती। आवागमन का यह चक्र समाप्त हो जाता है। मुक्ति का यह सिद्धान्त हमारी सस्कृति को अन्य सस्कृतियों से स्पष्ट ही अलग कर रहा है। अन्यत्र जीवन का परम पुरुषार्थ स्वर्ग प्राप्ति है, जो परम सुख का निधान है। उनकी यह कल्पना है कि इस जीवन में उस धर्म के यथावत् पालन करने से मनुष्य मरण के उपरान्त परलोक में सौख्य के अक्षय भण्डार को प्राप्त कर लेता है। किन्तु हमारी मान्यता के अनुसार स्वर्ग का भी कभी न कभी क्षय होता ही है। स्वर्ग केवल सौख्य की अचिर स्थायिनी अवस्था मात्र है। इस ससार के प्रपच से दूर होने के लिए मोक्ष परम आवश्यक वस्तु है। वैदिक धर्म केवल एक ही साधन मार्ग का उपदेश नहीं करता। परन्तु साधकों की क्षमता, योग्यता प्रवृत्ति तथा स्वभाव के अनुसार वह ज्ञान, कर्म एव उपासना का उपदेश देता है। यह भारतीय सस्कृति के विश्वजनीनता का प्रधान परिचायक है। हमारे सभी शास्त्रों ने भी इसी तथ्य का समर्थन किया है। मनुष्य की मानसिक प्रवृत्ति के अनुसार उपासना की विधान योजना हमारी सस्कृति की विशिष्टता है। वह सबके लिए एक ही मार्ग का उपदेश नहीं देती।

***भारतीय संस्कृति की महत्ता*—**

"भारतीय सस्कृति में मानवीय चेतना को सर्वोच्च गति के दर्शन होते हैं। भारतीय सस्कृति की विशेषता मानवतावाद है। हमारे यहा 'स्व' से समाज तक विस्तार

की बात अनेक रूपो में दोहराई गई है । हमारी सस्कृति अनेक रूपो में बहुत क्रान्तिकारी है । विज्ञान जो बात अब कह रहा है भारतीय सस्कृति मे बहुत पहले से वे चीजें समाहित हैं । हमारी सस्कृति में विश्व को अभिव्यक्ति माना है । कोई इसका कर्त्ता नहीं । विज्ञान मे अब यह बात सामने आई है कि सम्पूर्ण जड जगत् ऊर्जा है । विश्व को इस रूप में प्राचीनकाल से भारतीय मनीषियो ने अभिव्यक्त किया । इसके साथ ही अह ब्रह्मास्मि भारतीय सस्कृति के इस बेजोड और क्रान्तिकारी विचार को आत्मसात् कर यहा मनुष्य को जो गौरव दिया है वह किसी और सस्कृति में मनुष्य को नही मिला । यहा ऐसा कहने पर किसी को सजा नहीं मिली जब कि अनहलक कहने पर मसूर को सूली पर चढ़ाया गया था । (महादेवी वर्मा)

भारतीय सस्कृति आकाश की भाँति विशाल और सागर की भाति अपार है । यह ज्ञान से अधिक पवित्र किसी को नहीं मानती । वैदिक ऋषियो को बाबावाक्य प्रमाणम् मे बहुत चिढ थी । यूरोप में नये विचार देने वालों की होली जला दी गई यहा प्रत्येक व्यक्ति के प्रामाणिक मत का मान किया गया । (साने गुरुजी)

भारतीय सस्कृति के सिद्धान्त सकल मानव जाति के कल्याणार्थ हैं । ये देश काल आदि से अबाधित हैं । यह सस्कृति विश्वव्यापी है । कुछ अग्निहोत्री ब्राह्मण जाकर ईरान में बस गए तथा वहा उन्होंने सस्कृति का सूर्योदय किया । इसी प्रकार से यहूदी इस्लाम ईसाई आदि मतो ने प्रेरणा प्राप्त की । भारत के क्षत्रिय प्राचीन बेबीलोनिया सीरिया मिस्र आदि पहुँचे तथा वहाँ के लोगो को अपनी सस्कृति का पाठ पढाया । प्राचीन यूनान व रोम मे भारतीय आर्य पहले से ही बस गए थे । इसी सस्कृति ने बौद्ध धर्म के रूप में एशिया तिब्बत मगोलिया चीन कोरिया जापान आदि को जीवन प्रदान किया । ये ही ब्राह्मण जावा सुमात्रा बोर्निया बाली आदि द्वीपो मे गये । हमारी सस्कृति सामाजिक है क्योंकि इसमे निषाद द्रविड आर्य शक कुषाण हूण पठान तुर्क मगोल व यूरोपीय जातियो का योगदान है । वह अन्तर्व्यापी है सभी मे जैसे प्राण हैं । यहाँ के सरल व विनीत आस्तिक भाव अत्यन्त विख्यात रहे हैं । भारतीय विचारो मे पचभूतो से निष्पन्न शरीर के अन्तर्गत एक आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया गया है । यह आत्मा जो अजर अमर है जब एक शरीर को त्याग कर दूसरे शरीर को ग्रहण करती है तो इसे ही पुनर्जन्म का सिद्धान्त कहते हैं । जिस प्रकार भोजन वस्त्र आदि द्वारा शरीर के प्रति हमारे अनेक कर्त्तव्य हैं उसी प्रकार आत्मा के प्रति भी हमारे कुछ कर्त्तव्य हैं । आत्मा के प्रति कर्त्तव्यो को भारतीय सस्कृति में प्रमुख स्थान हैं । उन आचरणो को जिनसे आत्मा उन्नत होती है धर्म कहा गया है । धर्म का अर्थ है जो उन्नति की ओर ले जाये और इस उन्नति से आशय आत्मा की उन्नति से है । धर्म से अर्थ और काम की सिद्धि होती है तथा उसी से अन्ततोगत्वा मोक्ष भी प्राप्त होता है । दूसरे शब्दो में कहा जा सकता है कि भारतीय सस्कृति मूलत अध्यात्मप्रवण है ।

भारतीय सस्कृति मानव के मानस मे सत्सस्कारो द्वारा विकास की भूमिका तैयार करती है जैसे कि कृषिकर्म में भूमि का सशोधन तदुपरान्त बीजवपन किया जाता है और सिचन निरयन आदि द्वारा आवश्यक सस्कारो का सस्पर्श देकर भूमि को सस्य सम्पन्न बनाया जाता है । जिस मानव का मन जितना ही अधिक विकार रहित तथा विशुद्ध है उतना अधिक वह सस्कृत कहा जाता है । विशुद्धि निर्मलता परिष्कृति एक मानव से चल

कर जैसे समाज तथा जाति की सम्पत्ति बनती है, उसी प्रकार वह विश्व भर की थाती बन सकती है। सस्कृति के इस व्यापक रूप को वेद "विश्ववारा सस्कृति" का नाम देता है। यजुर्वेद के सप्तम अध्याय के चौदहवें मन्त्र मे **"सा प्रथमा सस्कृति विश्ववारा"** जा पद आता है, विश्वभर के लिए वरणीय सस्कृति को प्रथम या सर्वप्रमुख कहता है। सभ्यता देश विशेष के अनुसार अपने रूप मे दूसरी सभ्यताओ से पृथक् हो सकती है, परन्तु सस्कृति तो विश्वभर की एक ही होगी। सभी मानवो का आन्तरिक विकास एक ही पद्धति से होता है। इस विकास के मूल मे अविच्छिन्न सुवीर्य की प्रतिष्ठा है। कामुक व्यक्ति बाहर से सभ्य होने का ढोग भले ही कर ले, पर वह अन्तर स सस्कृत नहीं हो सकता।

हमारी सस्कृति व्यक्ति कुल, समाज जाति तथा विश्वभर के समक्ष आदर्शों की प्रतिष्ठा करती है। ये आदर्श परम्परा में परिपालित तथा पोषित हो कर अनेक पीढिया तक चलते रहते हैं और आगे आने वाली सन्तति को प्रेरणा देते रहते है। भारतीय सस्कृति वस्तुत मानवता का मेरुदण्ड है। वह शिष्टता सौजन्य तथा शील की आधारशिला है। इसके तत्त्व गुण गरिमा में स्थायी मूल्यवान् है। इसकी भावना विशद् है, उद्देश्य प्राजल तथा मनोवृत्ति निर्मल एव जनहित साधिका है। इसकी जीवनचर्या अहिसामयी और सत्य के लिये लालायित है। यह हमें कल्याण की ओर अग्रसर करती है। इसके विचार तथा आचरण में एकता है एव कथनी व करनी में वैषम्य नहीं है। इसी कारण यह सर्वजनग्राह्य है। भारतीय सुसस्कृत व्यक्ति सहिष्णु है। उसकी उदारता मे काले गोरे पीले नाटे श्वेत लम्बे स्त्री-पुरुष सभी समा जाते हैं। वह सबको आत्म-सदृश मान कर स्वय निर्भय हो जाता है और प्राणिमात्र को निर्भयता का दान मुक्तहस्त से देता है। उसकी विद्या विवाद के लिए नहीं अपितु ज्ञान के लिए है। उसकी शक्ति व बल-पौरुष परपीडन में नहीं प्रत्युत परक्षण मे प्रयुक्त होता है। उसका धन मद और अहकार के लिए नहीं, दीनजनत्राण के लिए काम आता है। उसका श्रम दूसरो को श्रान्त करने के लिए नहीं विश्राम देने के लिए होता है।

अन्य देशो की सस्कृतियो से तुलना–

"ससार की सस्कृतिया में भारतवर्ष की सस्कृति अपनी विशिष्टता तथा महत्ता के लिए सबसे विख्यात तथा "गुरुतम" है। जहाँ ग्रीस, रोम मिस्र आदि देशा की सस्कृतियाँ विकराल काल के विशाल गाल मे सर्वदा के लिए विलान हो गई वहाँ हमारी सस्कृति अपनी विजय वैजयन्ती फहराती हुई विश्व के मानवो पर अपनी प्रभुता जमाती हुई अपनी जीवन्त सत्ता के लिए सबको चुनौती देती हुई मैदान में डटी खडी है। आग मे तपाए गए सोने की कान्ति के समान विपत्तियो की ज्वाला के बीच से हमारी सस्कृति खरी तथा चमकती हुई निकली है, इसका उज्ज्वल प्रमाण भारतवर्ष का दीर्घकालीन इतिहास डके की चोट दे रहा है।" (बलदेव उपाध्याय)

किसी भी जाति या राष्ट्र की सस्कृति का मापक उसका आध्यात्मिक चिन्तन होता है। जिस जाति के आध्यात्मिक चिन्तन तथा समीक्षण जितने ही अधिक तथा गहरे होते है वह जाति सस्कृति तथा सभ्यता के इतिहास मे उतना ही अधिक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। सस्कृति का प्रथम प्रभात किस देश के गगन म सबसे पहले उदित हुआ इस प्रश्न की मीमासा करते समय पश्चिमी विद्वान् मिस्र देश का नाम बडे आदर तथा गौरव के

साथ लेते है । परन्तु मिस्र के दार्शनिक तथा साहित्यिक चिन्तनो पर विचार करने से हमे मौनावलम्बन ही करना पडता है । भौतिकवाद का अनुरागी राष्ट्र अध्यात्म चिन्तन का प्रेमी कभी नहीं हो सकता । मिस्र की सभ्यता भौतिकता मे सनी थी । भौतिक सुख की प्राप्ति ही उस देश के राजाओ का परम लक्ष्य थी । फलत रम्य तथा सुन्दर प्रासादो का रचयिता शिल्पी ही मिस्री सभ्यता मे परम सम्मान का भाजन था । मनोरम कविता लिख कर हृदय की कली खिलाने वाले कवि को वहाँ पूछ नहीं थी और उन्नत तत्त्वज्ञान के अभ्यासी दार्शनिक की भी वहाँ प्रतिष्ठा नहीं थी । परिणामस्वरूप अध्यात्म-चिन्तन के अभाव मे मिस्र देश की सस्कृति को हम सम्मान की दृष्टि से नहीं देख सकते । ''कवि'' को आदर देने वाली जाति ही सस्कृति की कसौटी पर खरी उतरी है । पश्चिमी जगत् मे प्राचीन यूनानी तथा पूर्वी ससार मे चीनी तथा भारतीय जाति ही कवि का गौरव समझती है और उसे सम्मान प्रदान करने मे सदा अग्रसर रहती है । इसीलिए इन जातियो का प्रभाव सस्कृति के प्रसार में बहुत अधिक रहा है ।

भारत की सस्कृति मे क्रान्तदर्शी कवि का आदर सदा से हुआ है । प्राचीन यूनान मे भी अध्यात्म विद्या के अनुरागी व्यक्तियो की कमी न थी । दार्शनिक भी कम न थे । परन्तु समग्र यूरोप के अध्यात्म शिक्षण के विषय में गुरुस्थानीय यूनान की काली करतूतें देख कर हम भारतीयो के हृदय मे विस्मय तथा विषाद की भावना उठ खडी होती हैं । यूनानी लोगो ने ही मिल कर अपने देश के सबसे बडे दार्शनिक सुकरात को विष देकर मार डाला था और दूसरे बडे दार्शनिक **अफलातून (प्लेटो)** को उनके ही एक भक्त शिष्य ने सारे बाजार मे गुलाम बनाकर बेच डाला था । पश्चिमी जगत् की मूर्धन्य जाति का यह दुराचरण दार्शनिको की इतनी अवहेलना किसे आश्चर्य में नहीं डालती । परन्तु भारत तथा भारतीय सस्कृति से अनुप्राणित समग्र पूर्वी देशो मे दार्शनिको का बोल बाला था । समाज के वे अग्रणी थे राष्ट्र के वे निर्माता थे । समाज को परम कल्याण की ओर ले जाने वाले वे महनीय नेता थे । मनु के अनुसार

सेनापत्य च राज्य च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्य च वेदशास्त्रविदर्हति ॥'' (12 100)

अर्थात् वेदशास्त्र का ज्ञाता सेना के सचालन तथा राज्य पर शासन करने के योग्य है । दण्ड विधान तथा सब लोगो का आधिपत्य करने का अधिकारी वही है । प्लेटो भी मनु के इस कथन से प्रभावित हुए थे । उन्होंने आदर्श राष्ट्र के सचालन का भार दार्शनिक के ऊपर ही रखा था । यद्यपि रिपब्लिक मे इन्होंने बडी युक्तियो से इस मत का समर्थन किया पर वे हवाई महल ही बनाते रहे । उनका स्वप्न कभी कार्य रूप मे परिणत न हो सका । वह मृग मरीचिका के बढ कर सिद्ध न हो पाया । परन्तु भारत मे राज्य का सूत्र अध्यात्मवेत्ता व्यक्तियो के हाथो मे रहा करता था । चाहे राजा दिलीप हो या दशरथ या चन्द्रगुप्त मौर्य ये प्राय परामर्श के लिए मुनि वशिष्ठ अथवा विश्वामित्र या आचार्य चाणक्य के समीप जाते थे । यही नहीं जब कभी ये सात्विक प्रकृति के ऋषि मुनि (जिन्हे पाश्चात्य विद्वान् व्यग्य मे ''भिक्षुक'' कहते है) इन महाराजाओ अथवा सम्राटो के राजदरबार मे आते थे तो ये चक्रवर्ती सम्राट् अपना सिहासन छोड कर इन विद्वानो के सम्मुख नतमस्तक होते थे तथा इनका बहुत अधिक आदर सम्मान करते थे । आज भौतिक सम्पन्नता की चकाचौंध वाले इन पाश्चात्यो को अत्यन्त कौतूहल होता है कि भारत में

ऐश्वर्यशाली राजा-महाराजा वन में रहने वाले इन "नग्नप्राय" ऋषियो को इतना सत्कार क्यो देते थे ?

"इस धराधाम पर अनेक संस्कृतियो ने अपना-अपना अभिनय किया, किसी ने कला को महत्त्व दिया, किसी ने शक्ति को, किसी ने सौन्दर्य को, तो किसी ने चिन्तन को। किन्तु एकांगिता की प्रवृत्ति के कारण वे उत्पन्न होकर विनष्ट हो गईं और उनका क्षणिक दर्शन इतिहास मे अपनी स्मृतिमात्र छोड गया। जिस स्पार्टा ने बल का प्रदर्शन किया, जिस एथेन्स ने कला को जीवन का आदर्श समझा, जिस रोम ने विधान एव व्यवस्था का प्रकाश किया, उनकी वह विशिष्टता काल के गाल मे समा गई। जीवन्त रूप में आज उनके कहीं दर्शन नहीं होते। पर भारत के सहयोग ने सामजस्य ने और सहिष्णुता के भाव ने हमारी सस्कृति को विनष्ट होने से बचा लिया।" (डॉ मुशीराम)

भारतीय संस्कृति के आध्यात्मिक दृष्टिकोण ने हमारे समग्र वैयक्तिक एव सामूहिक जीवन क्रम पर प्रभाव डाला है। हम जो कुछ करते हैं, उसमें परलोक की बात किसी न किसी रूप मे आ ही जाती है। आलोचकों ने हमे जो "दार्शनिक जाति" की सज्ञा दी है, वह निराधार नहीं है। बाह्य क्षेत्र मे भी हमने खुल कर खेल खेले हैं, यह कामन्दक, शुक्र, भारद्वाज, चाणक्य आदि के ग्रन्थो से सिद्ध है, पर इन खेलो को खेल कर भी हमने आत्मरति आत्मक्रीडन को ही प्रधानता दी है। परिधि में परिभ्रमण करते हुए भी हमने अपने केन्द्र का परित्याग नहीं किया। हमारी सस्कृति का यही केन्द्र बिन्दु हमारा सर्वस्व है। विश्व को इसी दृष्टिकोण, संस्कृति के इसी केन्द्र बिन्दु की आवश्यकता है। वादो के चाहे कितने रूप उठते और गिरते रहे तथा उन पर आश्रित चाहे जितना सस्कृतियो के रूप उत्पन्न होते और परिवर्तन होते रहे, पर अन्त मे एक ही वाद समग्र समस्याओ का समाधान करेगा। **यह वाद अध्यात्मवाद है।** एक ही संस्कृति विश्व को शान्ति दे सकेगी और वह है आध्यात्मिक संस्कृति, अध्यात्म पर आधारित समाजवाद। रोटी पर टिका समाजवाद वर्ग सघर्ष को लेकर चला है। उसका मध्य भी वही रहा है और अन्त भी वही रहेगा। युद्ध और कलह, तनाव और सघर्ष समाज मे विक्षोभ फैलाते हैं, उनके द्वारा शान्ति का प्रसार नहीं होता। शान्ति उपलब्ध करनी है, तो हमे अध्यात्म-वाद का आश्रय लेना ही पडेगा। हमारी भारतीय सस्कृति इस धराधाम पर इस पुनीत आदर्श की स्थापना के लिए जीवित है।

अध्याय 2

भारतीय संस्कृति का विकास-क्रम : पूर्व वैदिककाल, वैदिककाल, वैदिकोत्तर-काल, मध्यकाल, आधुनिककाल

भारतीय सस्कृति के विकास की रूपरेखा अत्यन्त दीर्घ एव महनीय है । इस सस्कृति का इतिहास इतना विस्तृत है कि उसे किसी सीमित परिधि में नहीं रखा जा सकता है । इसके विकास को भली भाति समझने के लिए हमें भारतीय सस्कृति को निम्नस्थ पाँच युगों में बाँटना होगा

(1) पूर्व वैदिककाल या प्रागैतिहासिक युग (तीन हजार ईस्वी पूर्व तक)
(2) वैदिक काल (तीन हजार से एक हजार पाच सौ ईस्वी पूर्व तक)
(3) वैदिकोत्तर काल (एक हजार पाच सौ से पाच सौ ईस्वी पूर्व तक)
(4) मध्यकाल (पाच सौ ईस्वी पूर्व से सत्रह सौ पचास ईस्वी तक)
(5) आधुनिक काल (सत्रह सौ पचास ईस्वी से आज तक) ।

इन पाँचो के अवान्तर भेद इस प्रकार हैं

(1) प्रागैतिहासिक युग–(अ) प्राग्वैदिक या आगम युग (8 से 3 हजार ईस्वी पूर्व तक) (निग्रो निषाद द्रविड सभ्यता) ।

(ब) सिन्धु सभ्यता (3250 से 2750 ईस्वा पूर्व तक)

(2) वैदिक युग–(3000 से 1500 ईस्वी पूर्व तक)

(3) उत्तर वैदिक युग–(अ) ब्राह्मणीय युग (1500 से 1000 ईस्वी पूर्व तक)

(ब) औपनिषदिक युग (1000 से 500 ईस्वी पूर्व तक)

(4) मध्य युग–(अ) बौद्ध व जैन युग अथवा मगध मौर्य कुषाण काल (500 ईस्वी पूर्व से 100 ईस्वी तक)

(ब) पौराणिक युग या गुप्त तथा हर्ष काल (100 ईस्वी से 650 ईस्वी तक)

(स) पौराणिक रूढिवादिता का युग या राजपूत काल (650 ईस्वी से 1200 ईस्वी तक)

(द) हिन्दू-मुस्लिम सस्कृतियो का सम्पर्क (1200 से 1751 ईस्वी तक)

(5) आधुनिक युग–(अ) अग्रेजी युग या पाश्चात्य सस्कृति से सम्पर्क (1751 से 1947 ईस्वी तक)

(ब) स्वतन्त्र भारत का मानव सस्कृति की ओर (1947 से अद्यावधि तक)

(1) पूर्व वैदिक काल

भारत में मानव के आविर्भाव से वैदिक युग तक का समय पूर्व वैदिक युग कहलाता है । इसी को प्रागैतिहासिक काल भी कहते हैं । इस युग की समीक्षा प्राकृतिक और मानवीय दोनों दृष्टियों से करना आवश्यक है । भारत का भौगोलिक रूप एक दिन मे नहीं बना । वह भूगर्भीय विकास या भू-रचना के लम्बे क्रम का परिणाम है । प्रारम्भ मे पृथ्वी सूर्य की तरह जलती हुई चचल पिण्ड थी । उसमें न तो भारत आदि पृथक् देश थे और न जीवन या जीवित रूप का ही कोई चिह्न था । भूगर्भ-शास्त्री पृथ्वी की आयु के चार प्रधान युग मानते हैं, जिनमें से हर एक जीवन-विकास के अनुसार कई छोटे भागो में बँटा हुआ है। ये युग इस प्रकार हैं-

(1) अजन्तुक– जब पृथ्वी पर किसी प्रकार का जीवन न था ।

(2) पुराजन्तुक–जब मेरदण्डहीन प्राणियो के रूप मे जीवन के चिह्न पहले पहल दिखाई पडे । आरम्भ में समुद्रिक घास और सिवार, स्पज और लिब-लिब मछली, बाद में मत्स्य, सरीसृप, पक्षी एव बडे-बडे पेड और जगल, जिनसे धरती में कोयले और अगारा की पट्टियाँ बन गई ।

(3) मध्य जन्तुक और,

(4) नवीनजन्तुक–अर्थात् हाल ही में उत्पन्न जीवन, जिस युग मे विविध प्रकार के स्तनपायी जन्तु विकसित हुए । इनमें से मनुष्य भी सवर्धित हुआ ।

जब पृथ्वी का ऊपरी छिलका ठण्डा पडा और जम कर कड़ा हो गया, उस समय जीवन का विकास हुआ । भूकम्प, ज्वालामुखी उद्गार, हवा और पानी के परिवर्तनो के कारण पृथ्वी अपने वर्तमान रूप को प्राप्त हुई और इसी तरह भारत की भी रचना खण्ड-खण्ड करके हुई है । इस प्रकार भारत के ढाँचे के बनने के बाद यहाँ मानव की उत्पत्ति हुई, जिसने इतिहास का सूत्रपात किया । देश में मानवीय अवतार के अनुकूल परिस्थितियो को बनाने वाले प्राकृतिक इतिहास का चक्र जब पूरा हो गया, तो उसके बहुत दिन पीछे मनुष्यो का इतिहास शुरू हुआ ।

प्रागैतिहासिक संस्कृति

यह भारतीय सस्कृति का प्रभात काल था । इस युग पर प्रकाश डालने वाली कोई लिखित सामग्री या ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं । इसके ज्ञान का एकमात्र साधन उस युग के मानव द्वारा छोडे गए औजार, हथियार या दूसरे प्रकार के अवशेष हैं जिनसे यह पता चलता है कि उसने शनै शनै अपनी बुद्धि के प्रयोग से अनेक आविष्कार किए तथा स्वय को सभ्यता और संस्कृति की ओर अग्रसर किया । ऐतिहासिको ने इस समूचे युग के भाग किए हैं-

(1) प्रथम भाग–यह निग्रो, निषाद व द्रविड सभ्यता का है, जिसका ईस्वी पूर्व 8000 से ईस्वी पूर्व 3000 तक का माना गया है । सभ्यता के इस सबसे प्र

युग को प्राचीन पाषाण या पूर्व प्रस्तर युग भी कहते हैं। यह तो मानो इस भूमि पर मानव की प्रारम्भिक हलचल का समय था। इसके बाद नया पाषाण या नव प्रस्तर युग आया, जिसमे सुधरे हुए पत्थर के औजार बनाए गए। इस युग में मिट्टी के बर्तन भी बनाए जाने लगे। इसके बाद वाली विकास की अवस्थाएँ शीघ्रता से एव अलक्षित भेदा के साथ घटित हुई जिनमें ताम्र, कास्य और लोहे का प्रयोग मुख्य विशेषता थी।

(2) द्वितीय भाग–यह सिन्धु घाटी सभ्यता का है। जिसका समय लगभग इस्वी पूर्व 3250 से 2750 ईस्वी पूर्व का स्वीकार किया जाता है।

सिन्धु घाटी की सभ्यता–

भारत की सर्वप्रथम उन्नत एव सगठित सभ्यता–सिन्धु घाटी की सभ्यता एक विशिष्ट वातावरण में मानव जीवन के सर्वांगपूर्ण समायोजन का प्रतिनिधित्व करती है। यह सभ्यता काल की कसौटी पर खरी उतरी है और आधुनिक भारतीय सस्कृति के लिए आधार प्रस्तुत करती है। सिन्धु सभ्यता और सस्कृति केवल भरत की ही नहीं, वरन् विश्व इतिहास की एक ऐसी कड़ी है, जिसका जन्म सभ्यता के उषा काल में हुआ, वह अपने चरमोत्कर्ष काल तक जीवित रही और किसी समय दैविक लीला के प्रहार-स्वरूप भूमिस्थ हो गई। इसके शेष बचे हुए खण्डहरो, अवशेषो और स्मारकों ने भरत की सस्कृति की पिछली सीमाओं को और भी पीछे खींच लिया। "यह यह रोचक बात है कि हिन्दुस्तान की कहानी के इस उषा काल मे हम उसे (भारत को) एक नन्हें बच्चे के रूप मे नहीं देखते हैं, बल्कि इस समय भी वह अनेक प्रकार से सयाना हो चुका है। वह जीवन के साधनों से अनजान नहीं है बल्कि उसने जीवन की कला में रहन-सहन के साधनो में काफी उन्नति कर ली है और न केवल सुन्दर वस्तु की रचना की है, बल्कि आज की सभ्यता के उपयोगी और विशेष चिह्नो-अच्छे हम्मामों और नालिया को भी तैयार किया है।" (पण्डित नेहरू)।

नामकरण–सन् 1856 ईस्वी मे भारत की अंग्रेज सरकार ने कराची से लाहौर के बीच रेलवे लाइन बिछाने का कार्य ठेकेदारों को सौंपा। उन्होंने ईंटो की आवश्यकता पडने पर सिन्धु नदी के निकटवर्ती खण्डहरो को खोदना शुरू किया। किन्तु इसी बीच कुछ आश्चर्यजनक घटनाएँ घटीं और श्रमिको ने इस स्थान को भूत-प्रेत से बाधित क्षेत्र समझ कर इसकी सूचना दी। श्रमिको की भावना तथा भय को ध्यान मे रखते हुए अधिकारियो ने यह अव्यवस्थित खुदाई बन्द करा दी। तत्पश्चात् सन् 1922 ईस्वी में श्रीराखालदास बनर्जी ने बौद्ध स्तूप के उत्खनन के सिलसिले में हडप्पा क्षेत्र में कार्य किया। यहाँ कुषाण काल का एक बौद्ध स्तूप था। यहाँ पर उन्हें प्रागैतिहासिक काल की कतिपय मुद्राएँ मिलीं। जिज्ञासावश बनर्जी महोदय ने स्तूप के पास स्थित दो टीलों को खुदवाया। वहा पर भू-गर्भ में पक्की नालियाँ तथा कमरे मिले। उन्होंने पुरातत्व विभाग के पास प्रस्ताव भेजा कि इस क्षेत्र में किसी सभ्यता के भूमिगत होने का अनुमान है, अत यहाँ उत्खनन होना चाहिए। इस प्रस्ताव को योजना-रूप दिया गया और लगातार दस वर्षों तक खुदाई होती रही। इस कार्य में सर जॉन मार्शल, अर्नेस्ट मैके, दयाराम साहनी, काशीनाथ दीक्षित, माधवस्वरूप वत्स एन जी मजूमदार, सर अरियल स्टीन तथा ह्वीलर महोदय एव अन्य अनेक सम्बद्ध कर्मचारियों ने बडी निष्ठा और लगन से कार्य किया, क्योंकि ये

उत्खनन समस्त सिन्धु घाटी के क्षेत्र मे किए गए थे अत विभिन्न स्थानो पर प्राप्त इस सभ्यता का सामूहिक नाम सिन्धु सभ्यता या सिन्धु घाटी सभ्यता है।

विस्तार–पुरातत्त्व विभाग द्वारा जिन स्थानों पर उत्खनन कार्य सम्पन्न कराया गया तथा जहाँ से इस सभ्यता के अवशेष व प्रमाण प्राप्त हुए हैं वे इस प्रकार हैं

(1) मोहनजोदड़ो–यह सिन्ध के लरकाना जिले मे कराची से लगभग 500 किलोमीटर उत्तर की ओर स्थित है। यह सिन्ध तथा नर नहर के मध्य है। यह सिन्धी शब्द मोया–जो–दडो से बना है जिसका शाब्दिक अर्थ है **मुर्दों का टीला**। यह लरकाना जिले के एक मैदान में एक ऊँचे टीले का स्थानीय नाम है। इसके आस पास की भूमि उपजाऊ है और अब भी इसे सिन्ध का बाग या नखलिस्तान कहा जाता है। प्रमाणों के आधार पर कहा जाता है कि लगभग 5 हजार वर्ष पूर्व यहाँ पर एक नगर था जिसका सात बार निर्माण तथा विनाश हुआ। अब तक इस क्षेत्र की सातों तहो का उत्खनन हो चुका है। फिर भी ह्वीलर आदि कुछ विद्वानो का विश्वास है कि इसके नीचे भी सभ्यता के अवशेष दबे पडे हैं। यह स्थान आधुनिक डोगरी रेलवे स्टेशन से लगभग 10 किलोमीटर तथा सिन्धु से लगभग 5 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है।

(2) हड़प्पा–सिन्धु सभ्यता का यह केन्द्र पश्चिम पजाब (पाकिस्तान) में मोटगुमरी जिले में लाहोर तथा मुलतान के बीच मे विद्यमान है। हडप्पा तथा मोहनजोदड़ो मे लगभग 600 किलोमीटर की दूरी है किन्तु इन दोनो स्थानो पर प्राप्त होने वाली वस्तुओं को यदि मिला दिया जाये तो यह भेद करना असम्भव होगा कि इनमें से कौन सी वस्तु कहाँ की है।

(3) अन्य केन्द्र–मोहनजोदडो से लगभग 150 किलोमीटर दक्षिण पश्चिम तथा जमाल किरियो से एक किलोमीटर उत्तर पश्चिम की ओर एक दूसरे से सम्बद्ध तीन टीले हैं जो चन्हुदड़ो के नाम से प्रसिद्ध हैं यहाँ 1931 ईस्वी मे उत्खनन हुए मोहनजोदड़ो से मिलती जुलती सामग्री मिली है। बलूचिस्तान के कलात राज्य में स्थित नाल प्रदेश अब पाकिस्तान में है। यहाँ पर भी सिन्धु सभ्यता के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इसी प्रकार झुकरदड़ो तथा काहूदड़ो पजाब में स्थित हैं। इनके अलावा लोहूमजोदड़ो रोपड़ रगपुर लोथल दरबारकोट पुण्डई मेही अमरी पेरियानो कुल्ली सुत्कगेण्डोर आदि स्थानो से भी तत्सम्बन्धित सामग्री की प्राप्ति हुई।

सिन्धु सभ्यता के अवशेष पूर्व में रोपड (पजाब) से लेकर रावी नदी के पास हडप्पा तक फिर बीकानेर की मरुभूमि मे फैले काठे को पार करते हुए सिन्धु नदी के तट पर मोहनजोदडो तक तथा यहाँ से लेकर सौराष्ट्र प्रदेश मे स्थित लोथल तथा रगपुर तक प्राप्त हुए हैं। नर्मदा के उस पार भगतराव में भी ऐसे अवशेषो की प्राप्ति हुई है जो सिन्धु सभ्यता का विस्तार वहाँ तक प्रमाणित करते हैं। वर्तमान समय मे राजस्थान में उदयपुर के निकट आहड नामक स्थान पर तथा उसके निकटवर्ती प्रदेश मे भी सिन्धु सभ्यता के अवशेषों का खोज कार्य चल रहा है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि इस सभ्यता का क्षेत्र अति विस्तृत था तथा इसका देशगत विस्तार विश्व की उन प्राचीनतम सभ्यताओ से कहीं अधिक था जो मिस्र में नील नदी के तट पर और तिग्रा व इफ्रातु नामक घाटियो के उपकण्ठ प्रदेशो में फैली थीं।

सिन्धु सभ्यता का समय–डॉ राजबली पाडे के अनुसार इस सभ्यता का समय चार हजार वर्ष ईस्वी पूर्व है । उनके शब्दो मे "यहाँ की खुदाई मे जल के धरातल तक प्राचीन नगरो के खण्डहरो के एक के ऊपर एक सात स्तर प्राप्त हुए हैं । सामान्यतया यदि एक नगर के पनपने व ध्वस्त होने के लिए 500 वर्ष का समय लिया जाये, तो सात नगरो के बसने, पनपने तथा ध्वस्त होने के लिए 3 हजार 5 सौ वर्ष लगेंगे । इस प्रकार सिन्धु सभ्यता कम से कम 4 हजार वर्ष ईस्वी पूर्व प्राचीन है ।" डॉ राधाकुमुद मुकर्जी ने भी इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है । उनके अनुसार, "मोहनजोदडो के अवशेषो के सात विभिन्न स्तरो मे प्रत्येक के लिए 5 सौ वर्षों का भी समय माना जाये क्योकि बार-बार बाढ़ो के आने से वहाँ पुरानी वस्तुओं का ध्वस और नई का निर्माण शीघ्रता से हुआ, तो सिन्धु सभ्यता का समय 3250 से 2750 ईस्वी पूर्व मे उचित रूप से रखा जा सकता है । यद्यपि उनका मूल विकास और पूव इतिहास और भी पहले से जाना होगा ।" इस दोनों विद्वानो ने जिन सात स्तरो की बात कही है, इनमे से तीन स्तर पश्चात् कालीन, तीन मध्यकालीन तथा एक प्राचीन है । अनुमान लगाया जाता है कि इस सभ्यता के और प्राचीनतम स्तर रहे होंगे । मोहनजोदडो का अति विकसित रूप एव जटिल होते हुए भी सुचारु प्रशासन निश्चय ही इस सभ्यता की प्राचीनतम सीमाओ को बहुत पीछे ले जाता है ।

सिन्धु सभ्यता के निर्माता–इस सभ्यता की उत्पत्ति का प्रश्न अभी तक सुलझा नहीं है । अति प्राचीन होने के कारण सिन्धु सभ्यता के निर्माताओ का परिचय देने वाले साक्ष्यो का अभाव है । मोहनजोदडो से प्राप्त नर ककालो से चार नस्लो का प्रमाण मिलता है-आद्यनिषाद, भूमध्य सागर से सम्बन्धित जन मगोल तथा अल्पाइन । इस प्रकार सिन्धु घाटी की जनता नाना दिग्देशगत थी । कुछ विद्वान् वैदिक आर्यों को सिन्धु संस्कृति के निर्माता मानते है । एक और मत है कि इस सभ्यता एव संस्कृति के निर्माता वे थे, जो नार्यों के आगमन से पूर्व यहाँ पर निवास करते थे । ऋग्वेद मे "दास-दस्यु" यहाँ के वासी थे । कुछ इस सभ्यता का श्रेय द्रविडो या सुमेरियनो को प्रदान करते है । सिन्धु यता के निर्माताओ के विषय मे जो कुछ भी प्रतिपादित किया है, वह सभावनाओ और अनुमानो पर आधारित है । इसके निर्माता चाहे जो रहे हो, सास्कृतिक दृष्टि से उनकी पलब्धियाँ महान् थीं । उन्होंने तत्कालीन ही नहीं, अपितु आधुनिक समय के लिए भी नुकरणीय मानदण्ड स्थापित किए हैं ।

सिन्धु सभ्यता का विवरण सिन्धु सभ्यता के उद्घाटन के फलस्वरूप विश्व मे भारतीय संस्कृति की महत्ता एवं प्राचीनता प्रस्फुरित हुई है । इस प्राचीनतम विशुद्ध भारतीय संस्कृति की कला का उद्देश्य, रूप तथा प्रयोजन मौलिक एव स्वदेशी है । इसने अपने उत्कर्ष काल मे अन्य समकालीन सभ्यताओ से सम्पर्क स्थापित किया । किन्तु इससे इसकी मौलिकता पर कोई आँच नहीं आती । उत्खनन द्वारा प्राप्त पुरातात्विक सामग्री के आधार पर इस सभ्यता का जो जीवन्त रूप उभर कर सामने आता है, वह इस प्रकार है ।

नगर निर्माण–सिन्धु सभ्यता के प्रमुख नगर मोहनजोदडो, लोहनजूदडो, चहूदडो तथा हडप्पा थे । इनमें प्रथम व अन्तिम नगर क्रमश· सिन्धु और रावी नदी के तट पर अवस्थित थे । फलस्वरूप नगर के चारो ओर बाँध बनाया गया था । बाढ से बचाव के साथ दूसरी समस्या अतिवृष्टि के समय तथा नगर को स्वच्छ रखने के लिए पानी की निकासी के प्रबन्ध की है । सिन्धु सभ्यता के अन्तर्गत नगर निर्माण की इस समस्या का पूरी

तरह से नियोजन किया गया था । सारे नगर में छोटी नालियों तथा बडे नालों का जाल सा बिछा हुआ है । सडक तथा गली के दोनों ओर पक्की तथा ऊपर से ढँकी हुई नालियाँ बनी हुई मिली हैं । अनेक छोटी नालियाँ बडे नालों से जाकर मिलती थीं तथा इस प्रकार नगर का सारा गन्दा पानी वहाँ से बाहर निकल जाता था कुछ स्थानों पर नालियो के बीच में कुछ गड्ढे भा बने हैं । इनमें कीचड तथा ऐसी गन्दगी भर जाती थी जो पानी का वेग कम होने के कारण स्वत नहीं बह सकती थीं ।

मोहनजोदडो के उत्खनन से उसके आन्तरिक नगर का स्वरूप अन्य नगरों की अपेक्षा पर्याप्त स्पष्ट हो चुका था । महापथों सडकों और निवास भवना का एक सम्मिलित रूप एक शतरज पट्ट जैसा आकार प्रस्तुत करता है । उत्तर से दक्षिण में महापथा का निर्माण हुआ था । पूर्व से पश्चिम में अपेक्षाकृत कम चौडी सडकें और गलियाँ बनी हुई थीं । ये महापथ और सडके प्राय समकोण पर एक दूसरे से मिलती थीं । मोहनजोदडो के महापथ की चौडाई 30 फीट है । अन्य सडकें भी प्राय 9 से 12 फीट तक चौडी हैं । सभी सडके मिट्टी की बनी हुई हैं । सडकों की सफाई का विशेष ध्यान रखा जाता था । कूडा करकट सडको के ऊपर स्थान स्थान पर रखे मिट्टी के पात्रो या पीपा में जमा कर दिया जाता था और फिर उसे सड़कों के किनारे खुदे गड्ढों में डाल दिया जाता था । एक सडक के दोनों ओर ऊँचे ऊँचे चबूतरे बने हुए थे जिनका उपयोग दूकान लगा कर विक्रय के लिए किया जाता था । सम्भवत सडकों के किनारे भोजनालय भी होते थे । मोहनजोदडो के एक चौराहे पर भोजनालय के अवशेष मिले हैं ।

गृह निर्माण—महापथों और सडकों के प्राय समकोण पर एक दूसरे से मिलने के कारण हडप्पा आदि की भाँति मोहनजोदडो भी कई खण्डों या मोहल्लों में विभक्त था। ये खण्ड उत्तर से दक्षिण में 1200 फुट और पूर्व से पश्चिम में 800 फुट के लगभग आयताकार रूप में थे । मोहनजोदडो में ऐसे 6 या 7 खण्डो का अस्तित्व था जिनमें एक सुनिश्चित योजना के अनुसार गृहों का निर्माण होता था । भवन प्राय एक सीध में बनते थे तथा उनके दरवाजे महापथों की ओर न खुल कर गलियों की ओर खुलते थे । उत्खनन में छोटे बडे सभी प्रकार के गृहों के अवशेष मिले हैं । छोटे घरा का आकार प्राय 29×27 फीट होता था जिनमें 4 5 कमरे होते थे । बडे भवन इससे दुगुने होते थे । कभी कभी बडे भवनों में 30 तक कमरे होते थे । उनमें रहने के लिए कई कमरे रसोई स्नानघर शौचालय आगन आदि होते थे । कई भवन दो मञ्जिले भी बने थे । इनमें ऊपर जाने के लिए पक्की ईंटों की सीढियाँ लगी होती थीं । घर एक दूसरे से सटा कर बनाने की प्रथा थी परन्तु कभी कभी दो घरों के बीच एक फीट जगह छोड दी जाती थी ।

गृहों का निर्माण नींव डाल कर किया जाता था जो कच्ची या टूटी फूटी ईंटों से भरी जाती थी । बाढ या सीलन से बचने की दृष्टि से मकान ऊँचे चबूतरे पर जो अधिकतर मिट्टी या कच्ची ईंटों के होते थे । दीवारो में ईंटें एक लाइन खडी और दूसरी लिटा कर लगाई जाती थीं जिसे तोडा चाल (English Bond) शैली कहते हैं ईंटों की जुडाई में गारे का प्रयोग किया जाता था । दीवारों पर मिट्टी और जिप्सम के अवशेष मिले हैं । ऊपर लकडी की धरन देकर छत पाटी जाती थी । दीवारों में एव प्रकाश के लिए झरोखे या घीया पत्थर की जालियाँ लगाने के संकेत भी मिलते हैं सामान्य कमरों का फर्श अधिकतर कच्चा होता था जो मिट्टी कूट कर बनाया जाता

स्नानागार आदि की फर्श मे पक्की ईंटो की बहुत अच्छी जुडाई की जाती थी । घर के भीतर की नालियों की समुचित व्यवस्था थी । प्राय हर बडे घर में एक कुआँ होता था । ये कुएँ प्राय अण्डाकार होते थे । कुएँ के मुँह पर थोडी ऊँची मुडेर होती थी जिसके ऊपरी भाग पर रस्सी क निशान अभी भी दिखाई देते थे । भवनो के दरवाजो में लकडी के किवाड और चौखट लगाई जाती थी । मकानो में अन्दर की ओर दरवाजों के सामने कभी कभी एक दीवार चुन दी जाती थी जो पर्दे का काम देती थी ।

गढी तथा विशाल गोदाम—इन भग्नावशेषों मे कतिपय अति विशाल भवनो के अवशेष मिले हैं जो सार्वजनिक तथा राजकीय भवन प्रतात होते हैं । हडप्पा में समानान्तर चतुर्भुज के आकार की एक गढी मिला है । इसके भीतर चबूतरे पर भवन बनाए गए हैं । माहनजोदडो मे भी ऐसी ही गढी मिली है । यह 10 माटर तक की एक कृत्रिम पहाडी पर बनाई गई है । बाढ से रक्षा के लिए इसके चारो ओर 21 मीटर चौडा बाध बनाया गया था । इस गढी में अनेक द्वार तथा मीनारे बनी हुई थीं । ये दुर्ग के समान प्रतीत होती हैं । यहाँ 70 माटर लम्बा व 24 मीटर चौडा एक विशाल भवन भी प्राप्त हुआ है जिसकी दीवार डेढ मीटर चौडी है । इसमें दो विशाल आँगन अनेक कक्ष तथा भाण्डागार हैं । यहीं पर एक 71×71 मीटर क्षेत्रफल वाले भवन में 20 स्तम्भो पर टिका विशाल प्रागण है । इसके चारा ओर अनेक स्थाना पर कुर्सियों के आकार की चौकियाँ बनी हुई हैं । यह कोई सभा भवन प्रतीत होता है । हडप्पा में एक विशाल गोदाम के भग्नावशेष मिले हैं । इसमें पूर्व तथा पश्चिम की ओर 12 12 दाबारा के दो समूह हैं । इन दोनों के बीच लगभग 5 मीटर का अन्तर है । प्रत्येक भाण्डागार अथवा गोदाम का मुख नदी की ओर है । सम्भवत इनमे नदी के मार्ग से सामान आता होगा । इनके निकट छोटे छोटे मकान बने हैं ।

सार्वजनिक स्नानागार—यह विशाल स्नानागार 180 फीट लम्बा तथा 10.2 फाट चौडा है । इसके चारो ओर गैलरी कक्ष कमरे आदि बने हैं । प्रागण के मध्य एक बडे आँगन मे मुख्य स्नानकुण्ड है जिसकी लम्बाई 30 फीट चौडाई 23 फीट और गहराई 8 फीट है । इसके पास ही कुआँ है जिसके द्वारा जल से स्नानकुण्ड को भरा जाता था । स्नानागार के गन्दे जल को बाहर निकालने के लिए तथा उसमें उतरने के लिए सीढियों की व्यवस्था है । स्नानकुण्ड के चारों ओर अनेक चबूतरे बने हैं । इसके चारो ओर बरामदा तथा उससे अनेक कक्ष बने हैं । सीलन के बचाव तथा पानी के न रिसने हेतु स्नानकुण्ड की दीवारो को मजबूत ईंटो द्वारा बना कर उस पर प्लास्टर किया गया है । इसके निकट ही कई छोटे छोटे स्नानागार भी मिले हैं । इनमे गर्म तथा ठण्डा जल रखा जाता था । स्वास्थ्य विज्ञान के अनुसार जल मिश्रण द्वारा सार्वजनिक स्नान की इतनी उत्कृष्ट व्यवस्था आज भी अप्राप्य है ।

विभिन्न शिल्प एव कलाएँ—मोहनजोदडो से पत्थर धातु और मिट्टी की मूर्तियो के जो उदाहरण प्राप्त हुए हैं उनसे सिन्धु सभ्यता में मूर्तिशिल्प के विकास पर सराहनीय प्रकाश पडता है । यहाँ पत्थर की 11 मूर्तियाँ मिली हैं जो श्वेत पाषाण या घीया पत्थर की बनी हैं । इनमे 9 मूर्तियाँ मानवरूप में हैं और केवल 2 पशु अथवा सयुक्त पशु का आकृतियाँ है । इनमे से अधिकाश मूर्तियो का धार्मिक महत्त्व बताया गया है । इन पाषाण मूर्तियो में एक मानव मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है । इस मूर्ति का केवल अर्ध भाग

और मस्तक सुरक्षित है । मूर्तियों के सामान्य निरीक्षण द्वारा ज्ञात होता है कि इनके निर्माण में चार प्रकार की शैलियाँ प्रचलित थीं-

(1) धातुआ को तपा कर उन्हें साँचो में ढाल नर मूर्तियाँ बनाना,
(2) ठप्पा लगा कर मूर्ति बनाना
(3) मिट्टी की मूर्तियाँ बना कर उन्हें आग में तपा कर तैयार करना, तथा
(4) छेनी द्वारा पत्थर का तक्षण करके मूर्ति बनाना ।

इन मूर्तियो में भावाभिव्यजना, हावभाव प्रदर्शन तथा शरीर के विभिन्न अगों की सन्तुलित अभिव्यक्ति है । मोहनजोदडो से प्राप्त नर्तकी की मूर्ति एव खडिया मिट्टी की बनी ध्यानावस्थित योगी की मूर्ति में अगविन्यास, अलकरण और चिन्तन के यथार्थ गुण विद्यमान हैं । सिन्धु सभ्यता के कलाकारो को विभिन्न धातुओ के प्रयोग तथा उपयोगिता का पूरा पूरा ज्ञान था । सोना, चाँदी ताँबा, काँसा, पीतल, कली तथा सीसे के साथ-साथ वे हड्डियों घोंघों, सीपों तथा हाथीदाँत आदि से परिचित थे । उनका धातु-कला ज्ञान इतना विकसित था कि वे विभिन्न धातुआ के मिश्रण गुणों की भी जानकारी रखते थे । विभिन्न धातुओं को गलाने, ढालने काटने, मोडने तथा चिकना एव चमक पैदा करने की कला पर्याप्त विकसित हो चुकी थी । पीतल निर्मित बकरी, बतख नर्तकियो के खिलौने, ताँबे के बने कूबडदार बैल सीसे की तश्तरी तथा सोने चाँदी, हाथीदाँत सीप आदि के बने आभूषण तत्कालीन धातु कला की विशिष्टता प्रमाणित करते हैं ।

यहाँ के कलाविदा को पाषाण की उपयोगिता आकार, प्रकार, विविधता तथा रगो का पूरा पूरा ज्ञान था । पाषाण को काटने, छाँटने तराशने तथा भावा के अकन में सिन्धु कलाकार कुशलहस्त था । उसे किसी ऐसे मिश्रित मसाले का ज्ञान था, जो पाषाण को जोड देता था ।

सिन्धुघाटी की सभ्यता की चित्रकला का विषय सामान्य जीवन से सम्बन्धित था । इस काल के चित्रो को दो भागो में विभाजित किया जा सकता है-

(1) ज्यामितीय अकन तथा
(2) दृश्यात्मक अकन ।

प्रथम में रेखाओ की सहायता से चित्र बनाए जाते थे और द्वितीय मे पशु-पक्षियो, बेल बूटा, मानव आकृतियो पत्र पुष्पा आदि का चित्रण किया जाता था । तत्कालीन चित्रकला की भावाभिव्यक्ति तथा स्वरूप इतना उन्नत तथा विकसित था जिससे लगता है मानो इसके पीछे किसी परम्परागत अभ्यास का हाथ हो ।

सिन्धु घाटी से लगभग 550 मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं । इन मुद्राओ के आकार-प्रकार स्वरूप तथा प्रतीक चिह्नों से विदित होता है कि यह कला पर्याप्त रूप से विकसित थी । वहाँ के निवासी मुद्राआ को ढालने, एकरूपता देने तथा उन पर विभिन्न आकृतियों को उत्कीर्ण करने में पूर्णत दक्ष थे ।

सिन्धु सभ्यता के मनुष्य लेखन कला से भी परिचित थे । उनकी लिपि संकेतात्मक एव चित्रप्रधान थी । यह लिपि दाएँ से बाएँ लिखी जाती थी । विद्वानो की मान्यता है कि इस चित्रलिपि में प्रत्येक चिह्न एक समूचे शब्द का द्योतक है । अन्य

समकालीन लिपिया के समान सिन्धु लिपि मे भी बन्द हैं तथा मूल चिह्नों व ध्वनि निर्देशन से ध्वनि सशोधन किया जाता था। फिनलैण्ड के विद्वानो ने इस लिपि में 250 से 300 मूल चिह्न खोजे, सोवियत विद्वानो ने इसकी सख्या 400 निर्धारित की। श्री महादेवन के अनुसार सिन्धु सस्कृति की भाषा एकाक्षरीय है तथा उसमें प्रत्यय प्रयोगो के बाहुल्य द्वारा शब्द रचना द्रविड भाषाओ के समान ही है।

हडप्पा से प्राप्त एक मुद्रा पर सगीत समारोह का अकन, एक अन्य मुद्रा पर नर्तकी की नृत्यमुद्रा का अकन तथा अनेक मुद्राओ पर वीणा तथा ढोल का अकन, कतिपय पक्षियो के खिलौनो की पूँछ मे सीटी तथा बाँसुरी का होना आदि यह प्रमाणित करते हैं कि उस समय नृत्य तथा सगीत कला भी पर्याप्त विकसित हो चुकी थी। प्रतीत होता है कि सिन्धु निवासी नृत्यकला के विभिन्न हावभावो से परिचित थे तथा इसकी शिक्षा का भी प्रबन्ध था। इस विवरण के आधार पर हम कह सकते हैं कि "सिन्धुघाटी की कला सहज व सरल होते हुये उपयोगितात्मक है। उसके रूप तथा गुण मौलिक हैं तथा उसमे स्वदेशीपन है। सिन्धु कला यथार्थवादी गुणो से ओतप्रोत है जिसमें सजीव, स्वाभाविक एव सामान्य भावाभिव्यक्ति है। इस कला में तकनीकी गुण है और इस सभ्यता की कला ने प्रभाव ग्रहण करने की अपेक्षा अन्य समकालीन सभ्यताओ की कला को प्रभावित किया था।" (सर जॉन मार्शल)

सामाजिक जीवन– प्राप्त प्रमाणो से स्पष्ट ज्ञात होता है कि सिन्धु सभ्यता कालीन सामाजिक जीवन सरल उन्नत व मानवीय अभिरुचियो की परिष्कृत अनुभूतियो से ओतप्रोत था। प्रत्येक परिवार का पृथक् गृह मे निवास था। पारिवारिक परिभाषा के अन्तर्गत माता, पिता तथा सन्तान थे। नारियो की मूर्तियाँ बहुलता से मिलने के कारण कहा जा सकता है कि परिवार तथा समाज मे नारी को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। **परिवार मातृप्रधान था**। सिन्धु समाज के वर्गीकरण का आधार कार्यकुशलता प्रतीत होता है। समाज मे पदाधिकारी पुरोहित, राजकीय कर्मचारी चिकित्सक व्यापारी, व्यवसायी, श्रमिक, स्वर्णकार धातुकार, कुम्भकार बुनकर कृषक आदि के अनेक वर्ग थे। इन्हें प्रमुख चार वर्गों मे बाँटा जा सकता है–

(1) विद्वान् या बौद्धिक वर्ग,
(2) राजकीय पदाधिकारी योद्धा तथा सुरक्षा कर्मचारी वर्ग
(3) व्यापारी तथा व्यवसायी वर्ग और
(4) श्रमिक तथा नागरिक आदि का वर्ग।

उत्खनन में प्राप्त अनेक ऐसी मुद्राएँ, जिन पर मछली पकडने, शिकार करने व बलि देने के रेखाकित चित्र हैं यह सकेत देती है कि वे मासाहारी थे। चित्रो द्वारा पता चलता है कि उन्हे विभिन्न उपयोगी फलो का ज्ञान था। इन फलों मे अनार, नारियल खजूर, नींबू तथा तरबूज प्रमुख हैं। वे मुख्यत गेहूँ, जौ, राई, तिल, चावल तथा विभिन्न साग-सब्जियो का प्रयोग करते थे। कतिपय चित्र यह प्रमाणित करते हैं कि उन्हें मुर्गी-पालन का भी ज्ञान था अत सम्भव है वे अण्डो का भी प्रयोग करते थे।

सिन्धु सभ्यता की अनेक मूर्तियो पर स्त्री-पुरुष के वस्त्रहीन चित्र मिले हैं। वस्त्र हैं भी तो मात्र आधा शरीर ढका हुआ है। इस आधार पर यह अनुमान लगाना गलत

तथा अफगानिस्तान से आयात करते थे । सीपी शख समुद्रफेन तथा मोती आदि काठियावाड के समुद्री अचल से मँगवाया जाता था । राजपूताने से ताँबे की माँग पूरी होती थी । पर्वतीय प्रदेशो से देवदारू की लकडी आती थी । सुमेरियन सभ्यता के क्षेत्रो से प्राप्त हडप्पा की अनेक मुद्राएँ बताती हैं कि इस सभ्यता व अन्य वैदेशिक सभ्यताओ के मध्य व्यापारिक सम्बन्ध थे ।

सिन्धु घाटी सभ्यता के यातायात के साधनो में विविधता थी । यहाँ बैलगाडी तथा मनुष्यो द्वारा खींचने वाली दो और चार पहियो की बनी हुई सवारियो के अनेक खिलौने प्राप्त हुए हैं । गाडियो मे हाथी गधे बैल आदि प्रयुक्त किए जाते थे । ये स्थल मार्ग के यातायात के साधन थे । एक मुद्रा तथा मिट्टी के बर्तनो पर जलमार्ग मे प्रयुक्त होने वाले जहाज तथा नौका के चित्र मिले हैं । इससे पता चलता है कि जलमार्ग से भी व्यापार होता था ।

सिन्धु निवासी खेती भी करते थे । कपास को बट तथा कात कर सूत बनाया जाता था और इससे विविध सूती वस्त्र भी तैयार होते थे । उस समय ऊनी तथा रेशमी वस्त्रो का भी प्रचलन था । वस्त्रो को अनेक आकर्षक रगो में रँगा जाता था । वस्त्रो पर विविध प्रकार के फूलो पत्तियो व अन्य आकृतियो को छापा तथा काढा जाता था । उत्खनन में हड्डियो तथा सीपी के बटन व धातु की सूइयाँ मिली हैं । इससे प्रकट है कि उन्हें वस्त्रो की सिलाई व कढाई का भी ज्ञान था । सिन्धु घाटी मे निर्मित वस्त्रो का निर्यात सुदूर पश्चिमी देशो को होता था । शनै शनै इन निवासियो का जीवन सादगी की सीमा को लाघ कर जटिल तथा विविध हो चुका था । जीवन की विविध आवश्यकताओ की पूर्ति विविध उद्योगो द्वारा की जाती थी । यहाँ से कैंची कुल्हाडी हसिया हथौडा तिपाई पलग व विभिन्न आकार प्रकार के बर्तन मिले हैं । गृह निर्माण के उपकरण जलनिकास प्रणाली में प्रयुक्त सामग्री विविध प्रसाधन की वस्तुएँ (काजल पाउडर आदि) भी प्राप्त हुई हैं । इससे पता चलता है कि यहाँ के नागरिको को विभिन्न उद्योगो मे कार्यगत कुशलता प्राप्त थी । यहाँ बढई सुनार जौहरी चित्रकार मूर्तिकार रगरेज आदि कुशल कारीगरो की कमी न थी ।

धार्मिक जीवन—सिन्धु घाटी के उत्खनन से प्राप्त विविध सामग्री द्वारा यह प्राय निश्चित हो चुका है कि इस सभ्यता के धार्मिक विश्वास एव जीवन की पृष्ठभूमि में एक दीर्घकालीन परम्परा थी । यह धर्म कुछ बाहरी अगो के होते हुए भी मुख्यत इसी भूमि की उपज था और हिन्दू धर्म का पूर्वरूप था जिसमें आज की कई विशेषताएँ पाई जाती हैं जैसे शिव शक्ति की पूजा नाग पशु, वृक्ष और पाषाण की पूजा एव लिग और योनि की पूजा तथा योग । **(डा राधा कुमुद मुखर्जी)** । यहाँ के लोग मातृदेवी के उपासक थे । मातृदेवी की मूर्तियाँ भाण्डो तथा मुद्राओ पर मातृदेवी के अकित चित्र तथा इन मूर्तियो व चित्रो मे अकित मेखला गले के हार शीश पर कुल्हाडी की आकृति का शिरस्त्राण एव अन्य अनेक आभूषण आदि मातृदेवी के विभिन्न रूपो तथा प्रतीको के परिचायक हैं । मातृ देवी के इन अकनो में उसके प्रतीक स्वरूपो यथा वनस्पति के रूप मे उपास्य जगत् जननी के रूप में पूज्य तथा पशुजगत् की अधीश्वरी का आभास मिलता है । ये उसकी विभिन्न शक्तियो के परिचायक हैं । सिन्धु वासियो की यह धारणा थी कि सृष्टि के

आधार, सचालन तथा विनाश की शक्ति मातृदेवी में ही निहित है । यहाँ मातृदेवी को "आद्यशक्ति" के रूप में पूजा जाता था ।

सिन्धुघाटी से प्राप्त एक मुद्रा पर शिव के प्रारम्भिक रूप यथा परम पुरुष की आकृति अंकित है । इस परम पुरुष के तीन मुख हैं तथा वह त्रिनेत्रधारी है । इसके दाहिनी ओर हाथी व बाघ तथा बाईं ओर गैंडा व भैंसा बना हुआ है । नीचे हिरण के समान दो सींगो वाला पशु अंकित है । इसकी सज्ञा ऋग्वैदिक रूद्र या शिव के समान पशुपति सिद्ध होती है । चीनी मिट्टी की एक अन्य मुहर पर नागों से घिरे योगासीन पुरुष की आकृति तथा एक अन्य मुद्रा पर अंकित धनुषधारी पुरुष का आखेटक रूप आदि के संकेतों तथा प्रतीको का यह आशय है कि इस समय परम पिता परमेश्वर के पुरुष रूप तथा प्रतीक चिह्नो के रूप में सिन्धु सभ्यता में शिवोपासना प्रचलित थी । अत विद्वानों ने सिन्धुघाटी को शैव धर्म की उत्पत्ति क्षेत्र मान कर उसे विश्व का प्राचीनतम धर्म माना है ।

वैदिक आर्यों द्वारा सिन्धुवासियो को अनार्य कहा जाना, लिग पूजा को अनार्य पूजा पद्धति मानना एवं स्वय सिन्धुघाटी से प्राप्त अनेक लिगाकारों की प्राप्ति होना आदि यह सिद्ध करते हैं कि सिन्धुघाटी के निवासी लिग पूजा करते थे । लिग पूजा तथा योनिपूजा का घनिष्ठ सम्बन्ध है । ये दोनो सृष्टिकर्त्ता के सृजनात्मक रूप का प्रतिनिधित्व करते हैं । सिन्धु घाटी में योनि पूजा भी प्रचलित थी । योनि स्त्रीलिग का प्रतीक मानी जाती थी । सिन्धुघाटी से अनेकानेक वृक्षों की मूर्तियाँ तथा अकन प्राप्त हुए हैं । एक मुद्रा पर वस्त्रहीन नारी के निकट वृक्ष की टहनियाँ, हडप्पा से प्राप्त एक मुद्रा पर मानव आकृति पीपल की पत्तियाँ पकडे हुए मोहनजोदडो से प्राप्त एक मुद्रा पर जुडवा पशु के सिर पर पीपल की पत्तियों का अकन है । चित्रो में पीपल के वृक्ष के अतिरिक्त नीम, बबूल, शीशम, खजूर आदि के वृक्ष प्रमुख हैं । इनसे ज्ञात होता है कि सिन्धु सभ्यता के निवासी वृक्षोपासना करते थे ।

यहाँ पशु पक्षी तथा नागपूजा भी प्रचलित थी, खुदाई में अनेक पशुओ की मूर्तियाँ व उत्कीर्ण चित्रादि मिले हैं । इनमें बैल के चित्र प्रमुख हैं । इसके अतिरिक्त भैंसा, बाघ, भेड़, बकरी, गैंडा, हिरन, ऊँट, घडियाल, मछली, बिल्ला, कुत्ता, मोर, तोता तथा मुर्गे आदि के खिलौने भी मिले हैं । एक मुद्रा पर नाग पूजा करते हुए व्यक्ति का चित्र मिला है । एक ताबीज पर नाग एक चबूतरे पर लेटा हुआ है, इस आधार पर यह कहना तो गलत होगा कि ये सभी पशु-पक्षी उनके उपास्य थे । किन्तु इतना निश्चित कहा जा सकता है कि बैल तथा नाग का सम्बन्ध सिन्धुवासियो के धार्मिक विश्वास के साथ था । सम्भवत उस समय अग्नि-पूजा भी प्रचलित थी और उपास्य देवता की प्रसन्नता तथा अभीष्ट पूर्ति के लिए बलि भी दी जाती थी । वे साकारोपासना में विश्वास रखते हुए मूर्तिपूजा भी करते थे एव अनिष्ट निवारण के लिए चाँदी तथा ताँबे के ताबीज धारण करते थे । यहाँ कोई उपासना गृह या मन्दिर नहीं मिला है । यहाँ के निवासियों का धर्म केवल विश्वास तथा आस्था पर निर्भर था ।

राजनीतिक जीवन—सिन्धु सभ्यता के निवास गृहा, सार्वजनिक निर्माणो, ॉ विभिन्न मार्गों आदि का नियोजन तथा व्यवस्थित रूप यह प्रमाणित करता है कि यहाँ प्रशासन विकसित और सुसगठित था । सुनिश्चित प्रमाणों के अभाव मे भी हम कह

सकते हैं कि यहाँ के नागरिकों का जीवन सुरक्षित, शान्तिपूर्ण तथा व्यवस्थित था। यहाँ के राजनीतिक जीवन के परिज्ञान हेतु हमें प्राप्त सामग्री के परोक्ष रूप की सहायता लेनी पड़ती है और हम केवल अनुमान भर लगा पाते हैं। "हड़प्पा साम्राज्य पर दो राजधानियों द्वारा शासन किया जाता था, जो एक-दूसरे से 350 मील की दूरी पर स्थित था। किन्तु ये दोनो नगर नदी द्वारा सम्बन्धित थे। यदि हम उन्हें उत्तर तथा दक्षिण के दो राज्यो मे विभाजित करना चाहे, तो भी वे केवल एक इकाई के दो भाग प्रतीत होते हैं।" "हडप्पा के स्वामी अपने नगरों का शासन लगभग वैसे ही करते थे, जैसे सुमेर तथा अक्काद के पुरोहित राजा। सुमेर मे नगर का अनुशासन तथा धन मुख्य देवता के हाथो मे रहता था। यह देवता पुरोहित राजा कहलाता था तथा मन्दिर सार्वजनिक जीवन का केन्द्र था। इसका प्रबन्ध अलौकिक शक्तियो द्वारा होता था। इस प्रकार के राज्य को वास्तव मे नौकरशाही राज्य कहा जा सकता है, जिससे तत्कालीन सगठन अतिरिक्त धन का वितरण तथा रक्षा इत्यादि कार्य सम्पन्न होते थे। इस प्रकार राज्य में साधारण व्यक्ति को अधिकार प्राप्त नहीं थे।" **(ह्वीलर)**

"मोहनजोदडो का राजकाज शासन का कोई प्रतिनिधि ही सभालता था।" **(मैके)** "मोहनजोदड़ो में लोकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था थी तथा जन प्रतिनिधियो द्वारा शासकीय कार्य सम्पादित किए जाते थे।" **(हंटर)** "राजनीतिक सगठन का निर्धारण विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्तो पर किया गया था। स्वायत्तशासन की प्रणाली प्रचलित थी। नियोजन तथा विधि पालन की प्रवृत्ति जडें जमा चुकी थीं जिसके आधार मे महापालिका या नगर विकास एव प्रबन्ध कारिणी सस्था वर्तमान रही होगी। इस सस्था को नियम पालन करवाने की क्षमता प्राप्त थी। उसे नागरिको का सहयोग तथा परामर्श करवाने की क्षमता प्राप्त थी। उसे नागरिको का सहयोग तथा परामर्श भी प्राप्त होना अवश्यम्भावी है। कई नगरीय समितियाँ एव सस्थाएँ किसी केन्द्रीय शक्ति द्वारा सचालित होती रही होंगी तथा केन्द्रीय सत्ता द्वारा नियुक्त अधिकारीगण समय-समय पर स्वायत्त शासनो के कार्यों का निरीक्षण करते होगे। मोहनजोदडो नगर की सुरक्षा के लिए नगर को छोटी-छोटी दीवारों द्वारा कई भागो में विभाजित किया गया था तथा इन भागों की चौकसी नगररक्षको (पुलिस) द्वारा की जाती थी।"

सिन्धु सभ्यता के मौलिक गुण—सभी सभ्यताओ की अपनी मौलिकता होती है तथा मौलिक रूप मे वे एक-दूसरे से भिन्न हैं। अत सिन्धु सभ्यता के मौलिक गुणो का वर्णन निम्नस्थ शीर्षको के अन्तर्गत किया जा सकता है-

(1) उन्नत तथा विलासमय नगर सभ्यता
(2) दृढ शासन व्यवस्था
(3) शान्तिप्रियता
(4) उद्योग, व्यापार व वाणिज्य की प्रधानता
(5) कास्यकाल की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि
(6) धार्मिक मान्यताओ की मौलिकता
(7) कलाविषयक मौलिकता

यह सत्य है कि किसी भी सभ्यता को श्रेष्ठ कहलाने का सौभाग्य तभी प्राप्त होता है जबकि एक लम्बे समय तक वह आने वाले समय को अपने विचारों उपलब्धियो तथा प्राप्तियों से प्रभावित करती रहे। सिन्धु सभ्यता में यह सब कुछ था।

सिन्धुघाटी सभ्यता व वैदिक परम्परा– सिन्धुघाटी सभ्यता स्पष्ट रूप से वैदिक आर्य सभ्यता की परम्परा में विकसित हुई है। यहाँ के उत्खनन से प्राप्त कुछ मूर्तियो में आसनबद्धता नासाग्रदृष्टि आदि पाई जाती है। आसन योग का एक प्रधान अग है। आसन लगाकर बैठने की पद्धति भारत के बाहर कहीं कभी भी न थी। यह चीन जापान और हिन्देशिया आदि में इस देश से ही गई है। नासाग्र दृष्टि मन को अन्तर्मुखी करने का एक यौगिक उपाय है। अतएव सिन्धु सभ्यता की संस्कृति वैदिक थी।

एक सील मुहर पर कलश काष्ठ आदि के साथ श्मशान का दृश्य अकित है। खुदाई के फलस्वरूप कितने ही प्रस्तरमय शिवलिंग पाए गए हैं। वैदिक सनातन धर्म को छोड कर अन्यत्र शिवलिंग की पूजा कहीं नहीं होती। जो सील मुहर ध्वसावशेष में पाए गए हैं उनमे जो लिपि है उसका पाठोद्धार पाश्चात्य देशो में अभी तक नहीं हुआ है। किन्तु भारत में जो इसका विश्लेषण किया गया है उसके अनुसार एक सील में जो चित्र है उसमें एक वृक्ष पर दो पक्षी चित्रित हैं। एक पक्षी फल खा रहा है दूसरा कुछ खाता नहीं है केवल देख रहा है। इस चित्र मे सम्भवत ईश्वर और जीव विषयक एक सुप्रसिद्ध वेदमन्त्र का भाव अंकित हुआ है

द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्वजाते।
तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्ति अनश्नन् अन्यो अभिचाकशीति ॥
(ऋग्वेद 1 164.20)

साख्यावर्णव महाशय ने इस सील की लिपि को पढकर यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि सिन्धु की सभ्यता इस वेदमन्त्र (द्वासुपर्णा आदि) से बहुत बाद की है। पिगट महोदय ने भी इस मत को माना है। डा फतेहसिंह ने सिन्धु सभ्यता को उपनिषद्कालीन सिद्ध किया है और सिन्धु भाषा को वैदिक सस्कृत माना है। महामहोपाध्याय पण्डित सदाशिव शास्त्री मुलगावकर का स्पष्ट मत है कि महाभारत युद्ध के पश्चात् भारतीय सभ्यता ह्रासोन्मुख हुई। सिन्धु घाटी से प्राप्त अवशेष इसी ह्रासोन्मुखी वैदिक सभ्यता के चिह्न है। इस प्रकार सिन्धु सभ्यता का द्रविड अर्येतर होने की कल्पना नितान्त निर्मूल है।

2 वैदिक काल

भारताय सस्कृति के इतिहास में वेदा का स्थान नितान्त गौरवपूर्ण है। भारत का इतिहास एक प्रकार से इस देश में आर्य जाति का इतिहास है। ऋग्वेद स्वय आर्य जाति का ही नहीं वरन् सम्पूर्ण मानव जाति का प्रथम ग्रन्थ प्रतीत होता है। आर्यों के भारत आगमन से भारतीय इतिहास का आरम्भ होना तथा स्वय आर्यों की सभ्यता के विषय में प्रथम जानकारी ऋग्वेद से ही प्राप्त होना इतना ता सुनिश्चित करते हैं कि ऋग्वेद भारतीय आर्य शाखा की पहली और प्राचीनतम रचना है इससे पूर्व की उनकी किसी रचना का कोई प्रमाण प्राप्त नहीं हुआ है और न ही ऋग्वेद में किसा पूर्व रचना का कोई सकेत है।

ऋग्वेद का समय तथा स्वरूप– ऋग्वेद की रचना कब हुई यह प्रश्न विवादग्रस्त है। इस विषय में कई विद्वानो ने गम्भीर प्रयास किये परन्तु कोई ऐसी तिथि

नहीं प्राप्त हुई जिस पर सभी सहमत हो सकें। मोटे तौर पर ऋग्वेद का समय 2500 ईस्वी पूर्व माना जाता है। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि ऋग्वेद के इस समय से तात्पर्य वैदिककालीन सभ्यता की तिथि निश्चित करने से है। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ऋग्वेद रचना से पहले उसमें वर्णित सभ्यता का एक लम्बा समय बीत चुका था। ऋग्वेद से जिस सभ्यता का बोध होता है वह उसकी रचना से पहले ही फलफूल चुकी थी और अब प्रौढावस्था को प्राप्त हो रही थी। ऋग्वेद मे अपने पूर्वजो, ऋषियो मार्गदर्शको आदि के नाम पर अनेक समर्पण यह स्पष्ट करते हैं कि इसमे वर्णित सभ्यता का स्वरूप पहले ही निर्धारित हो चुका था।

ऋग्वेद 10 मण्डलो मे विभक्त है जिसमें कुल 1028 मन्त्र हैं। इन मन्त्रो की रचना विभिन्न ऋषियो ने पृथक् पृथक् समय पर अलग-अलग स्थानो मे की थी। ऋग्वे॰ का रचनाक्रम स्थिर करना कठिन है किन्तु विद्वानो ने यह माना है कि पहले व दसवे मण्डल की रचना बाद में की गई थी। अवशिष्ट मण्डलो मे से भी दूसरे से सातवें मण्डल की रचना पहले हुई जो क्रमश गृत्समद विश्वामित्र वामदेव अत्रि भरद्वाज और वशिष्ठ ऋषियो के नाम से है। यह भाग ऋग्वेद का केन्द्रीय अतएव अत्यन्त प्राचीन अश है। इसमें प्रत्येक मण्डल का सम्बन्ध किसी विशिष्ट ऋषि या उसके वशजो के साथ निश्चित रूप से उपलब्ध होता है। वश विशेष के सम्बन्ध के कारण इन मण्डलो को अग्रेजी में "Family Book (वशमण्डल) कहने की चाल है। इसके बाद सम्भवत वे मन्त्र रचे गये जिनकी सख्या पहले मण्डल में 51 से 191 तक है। इसके उपरान्त पहले मण्डल के 1 से 50 मन्त्र तथा आठवे मण्डल के मन्त्रो की रचना हुई। इन मन्त्रो के ऋषि कण्व तथा अगिरा वश के हैं। नवम मण्डल की एकता प्रतिपाद्य "देवता" की अभिन्नता के कारण है। इस मण्डल मे समग्र मन्त्र "साम" देवता के विषय मे है। वैदिक आर्यजन हिमालय प्रदेश मे उत्पन्न होने वाली सोमलता के रस को घुला कर अपने इष्ट देवताओ को समर्पित करते थे तथा प्रसाद रूप मे स्वय भी ग्रहण करते थे। सोम को ही पवमान भी कहते है। अत सोम-विषयक मन्त्रो के समुच्चय होने के कारण नवम मण्डल "पवमान मण्डल" कहा जाता है।

आर्यों के प्रसार प्रारम्भिक सभ्यता सामाजिक मान्यता आदि के ज्ञान के लिए उपर्युक्त सामग्री अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ऋग्वेद मे आर्यों के भारत आवागमन का कोई सकेत नहीं है परन्तु उसमे एक व्यवस्थित समाज और उन्नत सभ्यता का वर्णन है। "हिन्दू अनुश्रुति का विश्वास है कि ऋग्वेद मे भारतीय संस्कृति के उषा काल के स्थान पर उसके मध्याह्न काल के दर्शन होते हैं। यह सस्कृति सरस्वती देवी की उस मूर्ति के समान है जो पूर्ण युवती के रूप मे एक समय मे प्रकट हुई। भारतीय विचारो के महान् वट वृक्ष का मूल ऋग्वेद है जिसके अनेक मत दर्शन तथा धर्मों की शाखा-प्रशाखाएँ फूटी हैं। ऋग्वेद आज तक उस गायत्री मन्त्र का मूल स्रोत है जिसके अक्षरश जप मे श्रद्धा रखने वाले करोडो हिन्दू उसके प्रत्येक स्वर वर्ण और शब्द को पवित्र मानते हैं और उसके स्थान मे मनुष्य विरचित किसी भी अनुवाद या अन्य जप को स्वीकार नहीं करते।"

(डॉ राधामुकुद मुकर्जी)

"जीवन के अचरज और भय की तरफ, एक जनसमाज की मिलीजुली प्रतिक्रिया का यह काव्यमय वसीयतनामा है। सभ्यता के आरम्भ में ही एक जोरदार और अछूती कल्पना वाले लोग जीवन के अपार रहस्य भेदने के लिए उत्सुक हुए। अपने सरल

विश्वास द्वारा उन्होंने हरेक तत्व मे, प्रकृति की प्रत्येक शक्ति मे देवत्व देखा । उनका जीवन आनन्दमय और साहसी था और रहस्य की भावना ने उनके जीवन मे एक जादू पैदा कर दिया था ।"
(रवीन्द्रनाथ टैगोर)

वैदिक सभ्यता का विवरण–ऋग्वेद के माध्यम से जिस सभ्यता एव सस्कृति का बोध होता है, उसके विकास के लिए हमारे पास समुचित एव ठोस आधार हैं ।

सामाजिक जीवन–वैदिक काल में आर्यों ने भारत मे तीन महत्त्वपूर्ण कार्य किये–

(1) अपनी विजय यात्रा को बढाते हुए अनार्यों को वन पर्वता की ओर धकेल दिया तथा अनेक को दास बना लिया ।

(2) विजित प्रदेश के अतिरिक्त अन्य निकटवर्ती भागो का उपनिवेशीकरण किया और

(3) देश को एक सस्कृति प्रदान की ।

I वैदिक आर्यों ने अपने अनुभवों के आधार पर तथा परिस्थितियो को ध्यान में रखते हुए ऐसे समाज का सगठन किया, जो सुव्यवस्थित वैज्ञानिक ढाचे पर अवस्थित था । यद्यपि अभी इस सामाजिक सगठन की प्रारम्भावस्था ही थी, तथापि ऋग्वेद के समय में जैसा उल्लास और सामाजिक स्वातन्त्र्य था, वैसा हिन्दुस्तान में फिर कभी नहीं देखा गया । आर्य जब भारत मे आए उस समय वे पूर्णरूप से एक जाति थे । उनमें कर्म व जन्मानुसार वर्ण की विभिन्नता की भावना-मात्र भी नही थी । वे भेदभाव रहित दृष्टिकोण से मिल-जुलकर कृषि कर्म व्यवसाय तथा धार्मिक अनुष्ठान करते थे किन्तु शीघ्र ही उनके शान्ति प्रिय जीवन में सघर्षों ने जन्म लिया । उनका मुकाबला दस्यु दास अनार्यों से हुआ और उन्हें अब वर्ण जाति भेद का अनुभव होने लगा । फिर भी उस समय केवल दो ही वर्ग थे-आर्य तथा अनार्य । यह भेद शारीरिक तथा सास्कृतिक भी है । आर्यों की अपेक्षा अनार्यों का रग गहरा काला था ।

II *आर्य समाज पितृसत्तात्मक था, किन्तु नारी को मातृरूप में पर्याप्त सम्मान प्राप्त* था। पिता या पितामह परिवार का प्रधान होता था तथा सभी सदस्य उसके आज्ञाकारी होते थे । पुत्र पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता था । सयुक्त परिवार प्रणाली होने से उत्तरदायित्व भी समान व सामूहिक था । कौटुम्बिक प्रेम, पारस्परिक सद्भावना एव सहानुभूति ने पारिवारिक जीवन को सुख-सम्पन्नता प्रदान की हुई थी । पत्नी अपने पति के साथ धार्मिक अनुष्ठानो में प्रमुख भाग लेती थी । समाज के मानसिक तथा धार्मिक नेतृत्व मे स्त्रियों का पर्याप्त सहयोग अपेक्षित रहता था । पर्दा प्रथा नहीं थी । शिक्षा के द्वार स्त्रियो के लिए भी खुले थे । कई ऋषि-स्त्रियो की रचनाएँ ऋग्वेद सहिता मे हैं । साहस और वीरता में भी स्त्रियाँ पीछे नहीं थीं । बाल विवाह की प्रथा नहीं थी । लौकिक तथा पारलौकिक शान्ति के लिए पुत्र की कामना की जाती थी । यज्ञादि के अवसरों पर सपत्नीक उपस्थिति आवश्यक थी । विवाह व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन का प्रमुख अग था । बहुविवाह *का प्रचलन नहीं था । ऋग्वेद मे विधवा विवाह का निषेध नहीं था ।* सन्तानहीन दूसरों के पुत्रों को गोद लिया करते थे ।

III आर्यों के दैनिक जीवन में भोजन के अन्तर्गत दूध तथा उनसे बने पदार्थ आर्यों को विशेष प्रिय थे। "समूचे भारतीय इतिहास में तरकारियो तथा फलो के ही भोजन उपादान रहे हैं, परन्तु वैदिक भारतीय मासाहारी था।" (कीथ) खाद्यान्नों में गेहूँ, जौ धान, उडद, मूग तथा अन्य दालो का विशेष प्रयोग किया जाता था। सुरा निन्दनीय समझी जाती थी। आर्य लोग सोम रस का पान करते थे। इसकी मादकता तथा आनन्द-दायिनी विशेषताओ का वर्णन मिलता है। यह देवताओं को भी अर्पित की जाती थी।

समाज में दास प्रथा का प्रचलन था। अतिथि सत्कार को गुण समझा जाता था। आर्य लोग नैतिक आदर्शों में आस्था रखते थे। अनेक मन्त्रो में असत्य की कडी निन्दा की गई है। ऋषि लोग सन्मार्ग व सत्कर्म के लिए देवताओ से याचना करते थे। आचार्य का घर विद्यालय था जहाँ वह शिष्यो को वैदिक शास्त्रीय शिक्षा देता था। ये ग्रन्थ कण्ठस्थ किए जाते थे। प्रवचन तथा उच्चारण का विशेष ध्यान रखा जाता था। विद्यार्थी के नैतिक, शारीरिक तथा मानसिक उन्नति व विकास का पूरा ध्यान रखा जाता था। शिक्षा मौखिक अभ्यास द्वारा दी जाती थी।

IV आर्य प्रमुखत तीन प्रकार के वस्त्र धारण करते थे-

(1) उत्तरीय,

(2) अधोवस्त्र और

(3) अधिवास (शरीर के ऊपरी भाग को ढकने वाला वस्त्र)।

वे पगडी भी पहनते थे। उनके वस्त्र सूत, ऊन तथा मृगचर्म द्वारा बनते थे। वे सिलाई से परिचित थे। धनी लोग जरी तथा अनेक रगो के वस्त्र धारण करते थे। शृगार में स्त्रियो की विशेष रुचि थी, जो विविध प्रकार के पुष्पो और आभूषणो द्वारा किया जाता था। काजल, तिलक विभिन्न तेलो सुगन्धियो तथा रगो के शृगार प्रयोग से उन्हे परिचय था, नाई (वप्ता) क्षौर कर्म करता था। स्वर्णकार आभूषण बनाता था, जो स्त्रियो व पुरुषो को समान रूप से प्रिय थे। ऋग्वेद की अनेक ऋचाओ मे माथे का टीका, भुजबन्ध, केयूर, नूपुर, ककण, मुद्रिका, पदक आदि का उल्लेख मिलता है। आभूषणो में प्रयुक्त होने वाली सामग्री स्वर्ण, रजत, बहुमूल्य रत्न (पत्थर), हाथीदात तथा मोती-मूँगे थे।

V सगीत मनोरजन का मुख्य साधन था। इसके तीन अग थे-नृत्य, गायन तथा वाद्य। वाद्यो में वीणा, शख, झाझ, मृदग, दुन्दुभि आदि प्रमुख थे। आखेट, घुडदौड, मल्लयुद्ध तथा रथो की दौड का आयोजन किया जाता था। जुआ खेलने का भी शौक था। स्त्री-पुरुष दोनो ही जुआ खेला करते थे जिसके कारण अनेक परिवारो की स्थिति दयनीय हो जाती थी।

आर्थिक जीवन--वैदिक आर्यों की जीविका का प्रधान साधन खेती तथा पशुपालन था, आर्य कृषि का बडा महत्त्व देते थे। खेती के लिए "उर्वर" व "क्षेत्र" शब्द का प्रयोग किया जाता था। जो दोनो प्रकार के होते थे-उपजाऊ (अज्नस्वती) तथा पडती (आर्तना) खेत पर किसी जाति का अधिकार नहीं होता था अपितु वह वैयक्तिक अधिकार का विषय था। खेत को हलों से जोत कर बीज बोने के योग्य बनाया जाता था। कर्षण (जोतना) वपन (बोना), लवन (काटना) व मर्दन (माडना) आदि शब्दों के प्रयोग से कृषि कर्म की पूरी प्रक्रिया का वर्णन मिलता है। ग्रामनिवासियो के खेत उनके घर के

निकट ही होते थे । यह सभ्यता ग्रामप्रधान थी । ऋग्वेद में कहीं भी नगरो का उल्लेख नहीं मिलता । चरागाह सामूहिक सम्पत्ति माने जाते थे । कृषिकर्म के साथ साथ पशुपालन भी आर्यों का प्रमुख उद्यम था । वास्तव में उनकी आर्थिक स्थिति का मूलाधार पशु था । यह कृषि में सहायक होने के साथ-साथ अन्य खाद्य पदार्थ प्राप्त करने का भी माध्यम था । धन के रूप में "पशुधन" शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है । गाय धन या मुद्रा की भाँति समझी जाती थी । मुख्यत ये लोग गाय, बैल, घोडे, भेड, बकरी, कुत्ते, हाथी, ऊँट आदि पालते थे।

उस समय विभिन्न प्रकार की कलाएँ एव दस्तकारी भी होती थी । आर्य लोग कला कौशल मे दक्ष थे । हर गाँव में बढई, लुहार व कुम्हार होता था । जुलाहो व सुनारों का भी उल्लेख मिलता है । चर्मकार पशुओ की खाल निकालता तथा उससे विभिन्न आवश्यक उपकरणो को तैयार करता था । शिल्पकारों, दस्तकारों व कारीगरो को महत्व प्राप्त था । कताई, बुनाई का कार्य स्त्रियाँ करती थीं । चिकित्सा भी व्यवसाय था । ऋग्वेद में व्यापारियो को वणिक् भी कहा है । ये लोग विभिन्न प्रकार की सामग्रियों का बडे पैमाने पर क्रय करके उसे अधिक लाभ पर बेच देते थे । वे ब्याज पर ऋण भी देते थे । व्यापार के प्रयोजन में नावों, रथों तथा अन्य उपयोगी पशुओ का प्रयोग होता था । व्यापार की वस्तुओ में वस्त्र, आभूषण तथा मूल्यवान धातुएँ प्रमुख थीं । आर्यों ने सिक्कों का निर्माण नहीं किया था किन्तु गाय तथा बैलों को धन का माप व विनिमय का साधन माना जाता था । "निष्क" एक प्रकार का आभूषण तथा निश्चित माप की चित्रित व अकपूर्ण मुद्रा थी । प्रजा का सामान्य जीवन सुख और समृद्धिपूर्ण था । उस समाज में आर्थिक विषमता न थी । कर्मप्रधान होने के कारण सभी आर्थिक कर्म समान रूप से आदरणीय थे ।

धार्मिक जीवन—वैदिक आर्य एक धर्मप्रधान जाति के थे । उनका देवताओं की सत्ता, प्रभाव तथा व्यापकता में दृढ विश्वास था । वे अग्नि के उपासक थे । यज्ञ की सस्था उनके धर्म का एक विशिष्ट अग था । वैदिक आर्यों ने विविध प्रकार की प्राकृतिक लीलाओ को सुगमता से समझने के लिए भिन्न भिन्न देवताओ की कल्पना की । उनका विश्वास है कि इन्हीं देवताओं के अनुग्रह से जगत् का समस्त कार्य सचालित होता है । वैदिक धर्म की यह विशेषता ध्यान देने योग्य है कि जिस देवता की स्तुति मन्त्रो के द्वारा की जाती है, वही देवता स्तुतिकाल में सबसे बडा, व्यापक, जगत् का स्रष्टा तथा ससार का सर्वाधिक उपकारी बन जाता है । यास्क के अनुसार इस जगत् के मूल मे एक ही महत्वशालिनी शक्ति विद्यमान है, जो निरतिशय ऐश्वर्यपूर्ण होने से "ईश्वर" कहलाती है । वह एक तथा अद्वितीय है । उसी एक देवता की अनेक रूपों में स्तुति की जाती है-

"महाभाग्यात् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते ।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवा प्रत्यगानि भवन्ति ॥" (निरुक्त 7 4 8)

ऋग्वेद में देवता गण को असुर अर्थात् असुविशिष्ट या प्राणशक्ति सम्पन्न कहा गया है । ये बलस्वरूप देवता विश्व के समस्त प्राणियो को व्याप्त कर स्थित रहते हैं । ऋग्वेद में "ऋत्" की बडी मनोरम कल्पना है, जिसका अर्थ है सत्य या अविनाशी सत्ता । विश्व में सुव्यवस्था, प्रतिष्ठा व नियमन का कारणभूत तत्व यही ऋत् है । देवतागण भी ऋत् के स्वरूप हैं और यही सत्यपूत ब्रह्म भी है । वैदिक आर्यों की कल्पना में यह जगद

पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश-इन तीन भागो मे विभक्त था और प्रत्येक लोक में देवताओ का निवास था।

देव परिचय–

(1) वरुण–यह द्युस्थान का प्रमुख देवता है। इनका मानव रूप एकान्त सुन्दर है। इनके रथ में घोडे जुते हैं, ये अपने नेत्र से समस्त भुवनो के भीतर घटित होने वाली घटनाओ का निरीक्षण करते हैं। वरुण के नियम निश्चित तथा दृढ हैं। इनके पाश प्रसिद्ध हैं। ये विश्व के नैतिक अध्यक्ष हैं।

(2) पुषन्–यह सौर देव हैं। इनके सिर पर जटाएँ तथा दाढी है और हाथ में स्वर्णनिर्मित माला व अकुश। इनके रथ के वाहन घोडो के स्थान पर बकरे हैं। इनका काम पशुओ की रक्षा करना है। ये सूर्य की पोषण शक्ति के प्रतिनिधि देव हैं।

मित्र तथा सविता सूर्य की रक्षण शक्ति एव प्रेरक शक्ति के प्रतिनिधि देव हैं।

(3) सूर्य–सौर देवो में सूर्य का रूप इतना ठोस है कि इसके भौतिक आधार अर्थात् उदय लेने वाले सूर्य को मन्त्रो में कभी भुलाया नहीं गया है। वह मनुष्या के कर्म का प्रेरक देव व जगम तथा स्थावर पदार्थों की आत्मा है। वह अपने रथ में बैठ कर विश्व का भ्रमण करता है।

(4) विष्णु–यह सर्वव्यापक देव सूर्य का क्रियाशील उद्योगसम्पन्न रूप है। विष्णु का महत्त्वशाली कार्य पृथ्वी को तीन डगो में माप डालने का है।

(5) उषा–प्रात सूर्योदय से पूर्व पूर्वदिशा मे यह देवी उदित होती है। ऋषियों ने इसकी स्तुति मे अत्यन्त सुन्दर मनोरम प्रभावशाली व प्रतिभासम्पन्न मन्त्र रचे हैं। उषा का मानवीय रूप-सौंदर्य का चरम अवसान है। वह बहुश सूर्य के साथ सम्बद्ध है।

(6) इन्द्र–इन्द्र वैदिक आर्यों का राष्ट्रीय देवता है। यह अन्तरिक्ष स्थान देव ऋग्वेद के चतुर्थांश सूक्तो में वर्णित है। यह अत्यन्त पराक्रमी व शत्रुसहारक है। वह वज्र धारण करता है। इसकी सोमपान मे बहुत अधिक रुचि है। इसने दुर्भिक्ष व अकाल के शत्रु वृत्र का वध किया। आर्यों को विजय प्रदान कराने वाला देव होने के कारण इसकी भव्य स्तुतियाँ बल व ओज से परिपूर्ण हैं।

इस क्षेत्र के अन्य देवो मे अपानपात् (जल का पुत्र), पर्जन्य (वर्षाकालीन मेघ) आप (जलदेवियाँ), रुद्र, मरुत् आदि प्रमुख हैं।

(7) अग्नि–पृथ्वीस्थान देवो में अग्नि ही प्रमुख है, जो इन्द्र के अनन्तर सर्वमान्य देवता है। यह यज्ञीय अग्नि का प्रतिनिधि रूप है। इसका विविध प्रकार से वर्णन किया गया है।

बृहस्पति व सोम का भी देवों के रूप में वर्णन प्राप्त होता है।

यज्ञ वैदिक धर्म का मेरुदण्ड है। देवो की स्तुति व वरदान प्राप्ति के लिए यज्ञ किया जाता था। साधारण गृहस्थ ब्राह्मणो व पुरोहितो द्वारा यज्ञ कराते थे। राजा तथा धनी वर्ग विराट् यज्ञो का आयोजन करते थे। धीरे-धीरे इस कर्मकाण्ड में काफी वृद्धि होती गई और यह जटिल प्रक्रिया हो गई। इस काल में स्वर्ग और नरक का भी कल्पना हो चुकी थी। ऋग्वेद मे मोक्ष का वर्णन नहीं है इस काल का दर्शन आशावादिता से परिपूर्ण है।

उपर्युक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि ऋग्वैदिक धर्म व दर्शन अपने आरम्भिक चरणों में ही बड़ा प्रौढ़ था, जो आगे आने वाली पीढ़ियों के सम्मुख अनेक आदर्श एवं मापदण्ड का स्रोत बना रहा।

राजनीतिक जीवन—ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि ऋग्वेदकालीन भारत में राजनीतिक एकता का विकास पूरे ज़ोरों पर था। ऋग्वेद में "दाशराज्ञयुद्ध" या दस राजाओं के संघर्ष का वर्णन है। यह संघर्ष उत्तर पश्चिम में बसे हुए पूर्वकालीन जन और ब्रह्मावर्त के उत्तर-कालीन आर्यों के मध्य राज्याधिकार की प्राप्ति के लिए भरतों के राजा सुदास के साथ हुआ था। इसमें ऋग्वेदकालीन सभी जातियों ने भाग लिया, जिनमें अनार्य भी शामिल थे। प्रभुत्व के लिए किए गए इस संघर्ष के फलस्वरूप राजनीतिक विकास हुआ। ऋग्वैदिक भारत सामूहिक राजनीतिक संगठन की इकाई के रूप में एक सार्वभौम सम्राट् शासनान्तर्गत आ गया।

आर्यों ने उत्तरी भारत के विशाल भू-भाग में पर्याप्त विस्तार कर लिया था। आर्य लोग काबुल, गोमती, स्वात, सिन्धु, झेलम, चिनाब, रावी, व्यास, सतलज, सरस्वती, यमुना तथा गंगा नदियों एवं उनके भू-भागों से पूर्णतः परिचित थे। प्रारम्भ में ये हिमाचल के प्रदेश में रहते थे। इन्हें अपने आर्य प्रतिद्वन्द्वियों से पूर्व की ओर तथा अनार्य प्रतिद्वन्द्वियों से पश्चिम की ओर संघर्ष करना पड़ा था। दिवोदास तथा सुदास इस "भारत" जन के प्रमुख शासक थे। आर्यों में पुरु, कवि, शृंजय, अनु, द्रुह्य, यदु, तुर्वश मत्स्य, चेदि, उशीनर आदि वंश थे, जो उत्तर भारत के विभिन्न भागों में निवास करते थे। इन भागों में ही लिंगपूजक तथा कटुवक्ता अनेक अनार्य भी रहते थे, जो गाय-बैलों का अपहरण करने वालों के रूप में कुख्यात थे। इनको दास या दस्यु भी कहा गया है। इनके राजाओं में भेद, शम्बर, धुनि; चुमरि आदि मुख्य थे, जिन पर आर्यों ने निर्णायक विजय प्राप्त की।

राज्य की विभिन्न इकाइयां—इनकी संख्या कुल 5 थी-कुल, ग्राम, विश, जन तथा राष्ट्र। कुल-गृह या परिवार सामाजिक व्यवस्था के साथ-साथ राजनीतिक व्यवस्था की इकाई थी। कई कुलों के समूहों को मिलाकर ग्राम बनता था। इसका प्रधान ग्रामणी था। यह ग्राम के कुटुम्बों में सर्वाधिक सम्माननीय, वयोवृद्ध तथा अनुभवी व्यक्ति होता था। शासन की प्रमुख प्रशासनिक इकाई के रूप में ग्रामों की रक्षा, व्यवस्था तथा नियन्त्रण के लिए अनेक उपाय किये जाते थे। कई ग्रामों को मिलाकर विश का संगठन किया जाता था, जिसका प्रधान विशपति होता था। कई विशों का समूह जन होता था तथा सम्पूर्ण राज्य के लिए राष्ट्र शब्द का प्रयोग किया जाता था। इसके पर्याय के रूप में "गण" शब्द भी मिलता है। ये शब्द संघात्मक शासन प्रणाली की ओर संकेत करते हैं।

ऋग्वेद में राजा के लिए "राजन्" शब्द को प्रयुक्त किया है। उसे "प्रजा का रक्षक" तथा "नगरों पर विजय पाने वाला" कहा गया है। यहाँ राजा के नायकत्व से विहीन दीन जातियों का उल्लेख भी है, जो राजा के महत्त्व को प्रमाणित करते हैं। राजा का पद वंशानुगत था, किन्तु विशेष परिस्थितियों में वह चुना भी जाता था। प्रजा की रक्षा का भार धारण करके राजा को प्रजा से स्वामिनिष्ठा तथा आज्ञाकारिता प्राप्त होती थी। वह राज्याभिषेक के समय धर्मपूर्वक प्रजापालन की शपथ लेता था। उस काल में राजा के प्रमुख कार्य ये थे-

(1) प्रजा की रक्षा
(2) शत्रुओ का विनाश
(3) धर्म की स्थापना
(4) शास्त्रोक्त विधि के अनुसार आचरण
(5) निष्पक्ष न्याय तथा दण्ड की व्यवस्था
(6) प्रजा की भौतिक एव आध्यात्मिक उन्नति हेतु प्रयास।

ऋग्वेद मे सहस्र स्तम्भयुक्त राजप्रासाद का उल्लेख महल की विशालता व राजा के गौरव को अभिव्यक्त करता है। राजा के मन्त्रियो मे पुरोहित प्रमुख होता था। वह राजा का पथप्रदर्शक, परामर्शदाता, दार्शनिक एव मित्र था। ऋग्वेद मे सभा का तो उल्लेख मिलता है, किन्तु इसके सगठन तथा कार्यों के विषय मे कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती। प्रतीत होता है कि सभा शब्द का प्रयोग सम्मेलन के पर्याय के रूप मे किया गया हो। कुछ विद्वान् इस सभा को "ग्राम सस्था" मानते हैं। वैधानिक रूप में "समिति" सर्वप्रधान थी। 'राजा अजेय शक्ति के साथ समिति से भेट करके उसका हृदय जीत लेता है तथा समिति के प्रस्तावो को प्रभावित करता है।" 'राज्य की समृद्धि के लिए राजा तथा समिति का एकमत होना आवश्यक है।" समस्त प्रजा की उपस्थिति मे "समिति" राजन का निर्वाचन करती थी। इस प्रकार ये दोनो राजनीतिक महत्त्व की सस्थाएँ राजा पर अकुश रखती थीं।

तत्कालीन न्याय व्यवस्था के विषय मे बहुत ही कम परिचय प्राप्त हो सका है। राजा तथा पुरोहित इस व्यवस्था के प्रमुख पदाधिकारी थे। न्याय का उद्देश्य सुधारात्मक व आदर्शात्मक था। चोरी डकैती ठगी व लूटपाट होती थी। रात के समय गाय बैलो का अपहरण साधारण अपराध था। हत्यारे द्वारा मृतक के सम्बन्धियो को क्षतिपूर्ति की जाती थी। अपराधी को सूली पर टाँक देना सामान्य दण्ड था। ऋणी का उधार देने वाले की सेवा करने का दण्ड दिया जाता था। पचनिर्णय द्वारा भी न्याय किया जाता था। इस काल के राजनीतिक जीवन में युद्धो को पर्याप्त महत्त्व प्राप्त था। युद्धो का कारण आत्मरक्षा विस्तार-वादी प्रवृत्ति तथा भूमि की आवश्यकताओ की पूर्ति करना था। किसी नियमित सेना का सगठन नहीं था। युद्ध होने पर जनसाधारण को युद्ध में भाग लेना पडता था। सैनिक अपनी रक्षा के लिए कवच शिरस्त्राण और ढाल धारण करते थे। शस्त्रो के रूप मे धनुषबाण, फरसा, कुल्हाडी, भाला, तलवार, हस्तघन बरछी आदि थे। युद्ध प्रेरणा को जाग्रत करने के लिए ढोल, तुरही तथा रणवाद्यो का प्रयोग किया जाता था। ऋग्वेद के "शर्ध", "व्रात" व "गण" आदि शब्दों को सैनिक इकाइयाँ माना गया है।

वैदिक सभ्यता का मूल्याकन—ऋग्वेद की ऋचाओ के समय से हम जीवन और विचार की दोनों धाराओं का विकास बराबर देखते हैं। आरम्भ की ऋचाओ मे बाहरी दुनिया की बाते भरी पडी हैं, प्रकृति की सुन्दरता और रहस्य तथा जीवन के आनन्द का वर्णन है और जीवन-बल भरपूर देखने को मिलता है। इसके बाद विचार आता है और खोज की भावना उपजती है तथा इस लोक से परे जो लोक है उसका रहस्य गहराई पकडता है तथा ऋग्वैदिक काल की आर्य सभ्यता विश्व की महानतम सभ्यताओ की विकासावस्था के दृष्टिकोण से ही नहीं, अपितु अपने सभ्य समाज के सारतत्वो के परिवेश

में उन सभ्यताओ को पूर्ण विकसित अवस्था से भी श्रेष्ठ प्रमाणित होती है । "ऋग्वेद में जिस समाज का चित्र है, वह समाज अत्यन्त सुखी और सम्पन्न था, और कहीं भी यह संकेत नहीं मिलता कि उस समाज के लोग तनिक भी असन्तुष्ट थे । यह ससार दु ख का आगार है अथवा जीवन नश्वर एव क्लेशपूर्ण है, इस भावना पर ऋग्वेद ने कहीं भी जोर नहीं दिया ।" **(दिनकर)**

इतिहास की उस प्रारम्भिक अवस्था में ही हमारा समाज उन्नति के शिखर पर जा पहुँचा था । अत हम कह सकते हैं कि ऋग्वेद में भारतीय सस्कृति के उषा काल के स्थान पर उसके मध्याह्न काल के दर्शन होते हैं । आरम्भिक काल से ही भारत मे ऐसी राजनीतिक सस्थाएँ तथा विधान विकसित हो चुके थे, जिनके आधार पर न केवल कालान्तर में विशाल साम्राज्यो का ही निर्माण हुआ, वरन् आज तक उस राजनीतिक दर्शन को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है । आर्थिक दृष्टि से ऋग्वैदिक सभ्यता की समृद्धि दिनो-दिन बढती जा रही थी । किन्तु इस सभ्यता की महान् एव अविस्मरणीय देन धार्मिक एव दार्शनिक क्षेत्र में है । धर्म और दर्शन का जितना भी विकास हुआ, उसका आधार ऋग्वैदिक धर्म तथा दर्शन ही रहा है । वृक्ष की हरी-भरी पत्तियो से उसकी जड़ो के शक्तिशाली तथा पोषक होने का अनुमान लगाया जाता है । यही बात भारतीय सभ्यता व सस्कृति के सन्दर्भ में देखी जाये, तो हमारी वर्तमान सभ्यता व सस्कृति के अटूटपन तथा निरन्तरता के मूल गुणो की प्राप्ति ऋग्वेद सभ्यता में ही प्राप्त होती है । अत हम कह सकते हैं कि वैदिक सभ्यता का स्तर बहुत ऊँचा था ।

3. वैदिकोत्तर काल

वैदिक सस्कृति के पश्चात् भारतीय सस्कृति के विकास क्रम में जिस नवीन युग का आरम्भ हुआ, उसे वैदिकोत्तर काल कहा जाता है । वस्तुत इन दोनो कालों या युगो के मध्य कोई निश्चित सीमा रेखा नहीं खींची जा सकती है । क्योंकि सस्कृति की गति निरन्तर तथा अबाध होती है । पुराना बिल्कुल समाप्त नहीं होता और नया बिल्कुल नया नहीं होता । एक सक्रमण काल अवश्य होता है, जिसमें दोनो धाराएँ मिली-जुली रहती हैं। इस युग की दो विशेषताएँ दृष्टिगत होती हैं-

(1) उत्तर वैदिक काल की सस्कृति अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत तथा समृद्ध थी।

(2) वैदिककालीन सस्कृति की अपेक्षा अब सिद्धान्त और व्यवहार में अधिक परिपक्वता आ गई थी ।

समय निर्धारण—इसका समय 1500 से 500 ईस्वी पूर्व के मध्य का स्वीकारा गया है । इसी समय से वैदिक काल की सभ्यता से कुछ भिन्नता परिलक्षित होने लगी थी । यह ऋग्वेद के अन्तिम चरण से लेकर महात्मा बुद्ध के आविर्भाव तक माना जाता है ।

प्रमाण सामग्री या जानकारी के स्रोत—इसमे यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के अतिरिक्त ब्राह्मण, आरण्यक व उपनिषदो का परिगणन किया जाता है । वैदिक सहिताओ के बाद ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना हुई, जो भारोपीय गद्य साहित्य के प्राचीन ग्रन्थ माने जाते हैं । इनमे वैदिक कर्मकाण्ड का सूक्ष्मतर विवेचन किया गया है । फिर इनके *उपसहार प्रतीत होने वाले "आरण्यको" की रचना हुई । वेदों के अन्तिम भाग होने के* कारण "उप-निषदों" को वेदान्त भी कहा जाता है । इनमें दर्शन की व्याख्या की गई है । उत्तर वैदिक सभ्यता की जानकारी के अन्य स्रोत वेदाग हैं । ये सख्या में छ हैं-शिक्षा

कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द और ज्योतिष। इसके अतिरिक्त दो प्रकार की अन्य रचनाएँ भी इसी मे आती हैं सूत्र साहित्य एव उपजीव्य काव्य। प्रथम के अन्तर्गत व्याकरण के ग्रन्थ व उसके भाष्य हैं तथा द्वितीय मे रामायण व महाभारत को लिया जाता है।

भौगोलिक सीमा का विस्तार–वैदिकोत्तर काल मे आर्य सभ्यता ने विस्तार क्रम को और आगे बढाया। पश्चिम से अर्थात् पजाब के पचजन लोगों के निवास से पूर्व की ओर सरस्वती और दृषद्वती के बीच सभ्यता का विस्तारोन्मुख रहा। इस उत्तर युग का केन्द्र कुरुक्षेत्र था जिसके चारो ओर का भाग आगे चल कर मध्यप्रदेश कहलाया। इस समय तक आर्य सभ्यता विन्ध्य के उस पार तक नहीं फैली थी।

सामाजिक जीवन– यह युग सामाजिक जीवन के उत्तरोत्तर विकास का युग था। अब यह जीवन स्थिरता प्राप्त करने लगा था। पारिवारिक जीवन में पिता प्रधान था और इस नाते वह ग्रामपरिषद् तथा पचायत में परिवार का प्रतिनिधित्व करता था। माता का भी बडा आदर था। पति पत्नी के सम्बन्ध बडे सुखद थे। इस युग में अनेक नगरो की स्थिति एव महत्त्व के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं। आर्य विस्तार के कारण जगलो की सफाई होने जनसख्या की वृद्धि व उद्योगो का विकास होने के कारण विशिष्ट ग्राम नगरो के रूप मे खिल उठे। ये धार्मिक सास्कृतिक राजनीतिक तथा सामाजिक गतिविधियो के प्रमुख केन्द्र थे। आर्यों का भोजन साधारण रुचिकर पौष्टिक तथा विविधतापूर्ण था। वस्त्रो में अब वे लोग कई प्रकार की नीचो धोतियो गमछे कम्बलों तथा शालो का प्रयोग करने लगे थे। मनोरजन के अन्तर्गत सभ्यता के विकास के साथ साथ मानव अभिरुचियो में विविधता भी आ गई थी। रथदौड आखेट द्यूत चौपड आदि मे अब अधिक उत्सुकता व प्रवीणता उत्पन्न हो गई थी। उत्सवों पर्वों यज्ञो व सामाजिक अनुष्ठानो के आयोजनो पर सगीत व नृत्य के कार्यक्रम होते थे। स्त्रियो को बडा आदर व सम्मान प्राप्त था किन्तु अपेक्षाकृत उनका पद कुछ गिर गया था। सामाजिक दृष्टि से विवाह का बडा महत्त्व था। बाल विवाह का अभाव था। स्त्री पुरुष अपनी इच्छानुसार विवाह करते थे। कई अन्तर्जातीय विवाहो का भी उल्लेख मिलता है। बहुविवाह की प्रथा थी। विधवा विवाह एव सतीप्रथा का प्रचलन था। कुटुम्ब मे अतिथि के आगमन को सौभाग्यसूचक तथा कृपास्वरूप माना जाता था। सामाजिक शान्ति व्यवस्था तथा सहयोग के अनेक आदर्शों का स्पष्ट विवरण मिलता है।

वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति एव अकुरण तो वैदिक काल मे ही हो चुका था अब उसका विकास हो रहा था। धार्मिक अनुष्ठानो के बढते हुए महत्त्व तथा जीवन के प्रति बदलते हुए दृष्टिकोण के कारण वर्ग सम्बन्धी भावनाएँ तेजी के साथ उभर रही थीं। वैवाहिक नियम अब कुछ कठोर होने लगे थे। मिश्रण के भय के कारण स्त्रियो की स्वतन्त्रता का ह्रास हो रहा था। अब सामाजिक नियम रूढिवादी हो रहे थे। फिर भी वर्णव्यवस्था में काफी लचीलापन था। इस काल मे विस्तृत और विविध विषयक साहित्य की रचना हुई। उपनिषदो में बुद्धि और ज्ञान की उन्नति की पराकाष्ठा है। "यह साहित्य का स्वर्ण युग था जिसका जन्म उन चरक सन्नक वैदिक सस्थाओ मे हुआ, जो अपनी शिक्षा विधि की क्षमता और सफलता के लिए विख्यात थीं।' तत्कालीन शिक्षण पद्धति की प्रमुख विशेषता गुरुकुल प्रणाली थी। अनेक विशालकाय विद्यापीठो में पारगत आचार्य सामूहिक शिक्षा देते थे। विद्वत् सम्मेलन व शास्त्रार्थ भी होते थे। वेदपाठ की शिक्षा पर

विशेष बल दिया जाता था। छान्दोग्य उपनिषद् में अध्ययन के विविध विषयों की सूची मिलती है।

आर्थिक जीवन–कृषि के उपकरणो का पर्याप्त विकास हो जाने के कारण पर्याप्त खाद्यान्न उत्पन्न होता था। व्यापारी वर्ग धनसम्पन्न था। इस युग मे व्यवसायों व उद्योग-धन्धो के क्षेत्र में बडी प्रगति हुई। धातुओ के विषय में ज्ञान और प्रयोग बढ चुका था। विभिन्न व्यवसाय करने वालो ने अपने पृथक्-पृथक् सघ बना लिए थे व इन सगठनों को राज्य की ओर से मान्यता प्राप्त थी। इस काल में मुद्रा का प्रचलन हो चुका था।

धार्मिक जीवन–गुरु चरण सुश्रूषा, तप व त्याग एव श्रवण, मनन व निदिध्यासन के अभ्यास से विकसित आर्यों का धर्म अद्वितीय था। नई धार्मिक प्रवृत्तियो में परलोक गमन विषयक विश्वास इस युग की नई देन थी। यज्ञ और अग्नि का अभिन्न सम्बन्ध था। कर्मकाण्डीय जटिलता के कारण धार्मिक जीवन को ठेकेदारी पुरोहितो के नियन्त्रण में थी। परिणामस्वरूप पुरोहित तथा ब्राह्मण वर्ग को अतिशय महत्त्व दिया जाने लगा। अन्धविश्वास भी धार्मिक जीवन के अग बन गए। देवता मानव रूपधारी प्रकृति के प्रतिनिधि मात्र न रह कर, प्रकृति से भिन्न माने जाने लगे। तप का महत्त्व बढ गया तथा भक्ति सम्प्रदाय के विचारो की शुरूआत होने लगी। अब दर्शन सम्बन्धी अनेक विचारधाराएँ प्रवाहित हो रही थीं, यद्यपि उनमें मत-वैभिन्न्य था। तू भी ब्रह्म है और मैं भी ब्रह्म हूँ आत्म एव ब्रह्म का यह सम्बन्ध उत्तर वैदिक काल की महान् दार्शनिक देन है।

राजनीतिक जीवन–राजतन्त्रात्मक प्रणाली शासन का सामान्य रूप धारण कर चुकी थी। यद्यपि इसके अन्तर्गत कई प्रजातन्त्रीय धाराएँ भी थीं। सम्भवत सामान्य प्रणाली का जन्म हो चुका था। अब राजा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त भी प्रचलित था। राजा पूर्णत निरकुश नहीं था। यद्यपि राजा का पद वशानुगत था तथापि प्रजा का अनुमोदन आवश्यक शर्त रही होगी। राजा के अभिषेक की एक भव्य प्रक्रिया थी। उसके पास राज्यसत्ता एक धरोहर के रूप नें रहती थी। उसके प्रभाव व शक्ति में भारी वृद्धि हो रही थी। इस काल की सस्थाओ मे समिति जन-प्रतिनिधित्व करती थी। राज्य के पदाधिकारियों मे मन्त्री पद पुरोहित का होता था। इसके अतिरिक्त सेनापति, सग्रहाणी, ग्रामणी, सूत, प्रतिहारी, अक्षावाप, युवराज आदि पद भी होते थे। गाँवों मे न्याय पचायतें थीं। बड़े न्यायालय का नाम "सभा" था। कर राज्य की आय का प्रमुख स्रोत था। राज्य की आमदनी राजा को प्राप्त उपहारो के रूप मे भी होती थी।

4 मध्यकाल

यह परिवर्तनो के युग की सस्कृति है। उत्तरोत्तर क्रियाशीलता के कारण सस्कृति में गुणो के साथ दोषो का भी समावेश होना एक स्वाभाविक ऐतिहासिक प्रक्रिया है। इन धार्मिक क्रान्तियो के रूप में भारत का समाज करवटें बदल रहा था। प्राचीन वैदिक कर्मकाण्ड से जनमानस ऊब चुका था। वह कुछ नया दृष्टिकोण चाहता था। यज्ञ में बलि के रूप में हिंसा का प्रवेश हो गया था। मानव इन सबसे अपने को मुक्त करने के लिए छटपटा रहा था। ऐसे समय में जैन धर्म व बौद्ध धर्म का आविर्भाव हुआ।

जैन धर्म–इसके प्रवर्तक महावीर स्वामी का जन्म ईसा से 599 वर्ष पूर्व वैशाली के पास कुण्डिनपुर गाँव में हुआ था। यह स्थान बिहार के मुजफ्फरपुर जिले में है। इन्होंने 30 वर्ष की आयु में गृहत्याग किया तथा 12 वर्ष के भ्रमण तथा तप के बाद कैवल्य ज्ञान

प्राप्त किया। फिर इन्होंने अपने सिद्धान्तो का प्रचार किया। इनको मानने वाला जैन है, भले ही वह किसी भी जाति या वर्ण का हो। इस धर्म का स्वरूप "**अहिंसा परमो धर्म**" पर आधारित है। जैन मतावलम्बी सहिष्णुता मे विश्वास करते हैं। कालान्तर में यह धर्म दो सम्प्रदायो मे विभक्त हो गया-दिगम्बर व श्वेताम्बर। भारतीय संस्कृति पर जैन धर्म का प्रभाव इस प्रकार है-

(1) प्राणिमात्र के प्रति अहिंसा की भावना,
(2) निरामिष व शाकाहारी भोजन पर बल
(3) स्वय द्वारा किए गए कर्मों पर निर्भरता,
(4) विविध कलात्मक मन्दिरो तथा मूर्तियो का निर्माण और
(5) स्याद्वाद या प्रत्येक वस्तु की अनेकात्मकता की स्वीकृति।

बौद्ध धर्म–557 ईस्वी पूर्व मे कपिलवस्तु नगर में राजकुमार सिद्धार्थ का जन्म हुआ। इनकी बाल्यकाल मे ही वैराग्य वृत्ति थी। जब ये 18 वर्ष के थे, तब पिता ने इनका विवाह कर दिया तथा इनके एक पुत्र भी उत्पन्न हो गया। किन्तु सस्कारो की प्रबलता के कारण एक दिन ये घरबार छोड कर बाहर निकल गए। इन्होंने काफी भ्रमण व ज्ञानार्जन किया, किन्तु इनके मन को शान्ति न मिली। फिर एक बार इन्होंने गया मे एक वट वृक्ष के नीचे समाधि लगाई और इनको बोध हुआ कि "**सरल एव सच्चा जीवन ही सुख का मार्ग है, जो सभी यज्ञो, शास्त्रार्थों तथा तपस्याओ से बढकर है।**" इसके बाद सिद्धार्थ बुद्ध हो गए। इन्होंने अपने अनुयायियो को उपदेश दिया कि यह ससार दु ख से परिपूर्ण है। अज्ञान इसका कारण है। तृष्णा का त्याग इससे मुक्ति का उपाय है। प्रज्ञा के उदय होने से प्राणी दु खो से छूट कर निर्वाण प्राप्त करता है। बुद्ध "अति" के विरुद्ध थे। इन्होंने अपने अनुयायी बौद्धों के लिए ये पाँच नियम निर्धारित किये-

(1) अहिंसा का पालन, (2) चोरी न करना,
(3) झूठ न बोलना, (4) नशीली वस्तुओ के सेवन का त्याग और
(5) व्यभिचार न करना।

भारतीय संस्कृति पर बौद्ध धर्म का जो प्रभाव पड़ा, वह इस प्रकार है-

(1) जीवन का उत्थान स्वय के कर्मों पर ही आधारित है,
(2) बिना किसी भेदभाव के सभी मोक्ष के अधिकारी हैं,
(3) परस्पर व्यवहार मे अहिंसा व दया भाव रखना चाहिए व
(4) अद्‌भुत स्थापत्य कला का विशेष प्रभाव पड़ा।

पौराणिक युग–तदनन्तर बारहवीं सदी ईस्वी तक का काल पौराणिक युग कहलाता है। इस समय पुराणो मे वर्णित अवतारवाद का विशेष महत्त्व स्थापित हो गया था व विष्णु के विविध अवतारो की कल्पना साकार होती गई। विष्णु को परब्रह्म का स्वरूप प्राप्त हो गया और श्रीकृष्ण उनके इस स्वरूप के सर्वाधिक महत्त्वशाली अवतार बन गए। इसी काल में राम का भी वर्चस्व होने लगा और भारत के मध्ययुग की संस्कृति में ये राम और कृष्ण दो ही व्यक्ति कर्णधार बन गए। इस धर्म में इन बातो की प्रधानता है-भक्ति, मूर्तिपूजा, अवतारवाद, नामसकीर्तन, पितर पूजा और श्राद्ध तथा तीर्थमहात्म्य। इस युग की विशेषताएँ हैं-

(1) वर्ण-व्यवस्था को अत्यधिक महत्त्व,

(2) ऊँच-नीच के भेद में वृद्धि
(3) खानपान मे प्रतिबन्ध,
(4) अपनी जाति में ही विवाह पर बल तथा
(5) अशुद्ध होने पर व्रत व प्रायश्चित ।

इस काल मे स्त्रियो की स्थिति में पतन आ गया तथा पातिव्रत्य को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा । विधवा विवाह बन्द हो गया और सती प्रथा का प्रचलन बढा । इस काल में राजतन्त्र का चरम विकास हुआ । राजा को पृथ्वी पर ईश्वर का अवतार माना जाने लगा एव जनमानस में यह धारणा बलवती हो गई कि उसके किसी भी आदेश का विरोध करना महापाप है ।

हिन्दू-मुस्लिम सस्कृतियो का सम्पर्क—ग्यारहवीं सदी ईस्वी से भारत पर मुसल्मानो के आक्रमण निरन्तर हाते रहे और फिर उनका स्थायी राज्य यहाँ पर स्थापित हो गया । इस समय सस्कृति तथा सभ्यता का ह्रास चरम सीमा पर था । यह सकीर्ण सस्कृति मुसलमानों को हजम न कर सकी । इसमे अब जाति-पाति, खानपान, पूजा पाठ तथा अपने धर्माचार के अतिरिक्त अन्य कुछ न था । समाज में पर्दा प्रथा, बालविवाह, वाम-मार्ग तथा अन्धविश्वास ने अपनी जडें गहरी जमा ली थीं । इस प्रवृत्ति के विरुद्ध समाज में सुधार की भी एक लहर उठी । सन्तों का भक्ति आन्दोलन भी प्रारम्भ हुआ । इन सदियो मे कला कौशल की विशेष उन्नति हुई । हिन्दू तथा मुसलमान राजाओ ने अनेक सुन्दर भवन, लाट मन्दिर व मस्जिदे बनवाईं ।

5 आधुनिक काल

18वीं सदी ईस्वी के मध्य से यह काल पाश्चात्य सस्कृति के सम्पर्क से माना जाता है । इसे भारतीय सस्कृति का उत्थान काल भी कहा जाता है । इस समय तक भारत में अग्रेजी राज्य की स्थापना हो चुकी थी । इसका भारत के जनजीवन पर अद्भुत प्रभाव पडा । इसी समय से भारत मे एक व्यवस्थात्मक तथा सगठनात्मक एकता का सूत्रपात हुआ । समूचे भारत में जो नया जीवन आया उसके निम्नाकित कारण थे

(1) यातायात व आवागमन के वैज्ञानिक साधन,
(2) बडे सगठन व व्यवस्था बैठाने की अपूर्व शक्ति और
(3) अनुशासन की प्रबल भावना ।

इस काल में भारत नवीन सभ्यता, नवीन विचारधारा एव नवीन दृष्टिकोण से प्रभावित हुआ । राज्य तथा शिक्षा की भाषा फारसी के स्थान पर अग्रेजी हो गई । रेडियो व सिनेमा ने समाज को पूरी तरह से बदल दिया । जीवन निर्वाह के साधन बदलने लगे । भारत के सामाजिक जीवन ने एक नया दृष्टिकोण अपनाया । महात्मा गाधी के नेतृत्व में भारत ने स्वतन्त्रता सग्राम में सफलता पाई । यद्यपि इसमें आजादी के दीवाने क्रान्तिकारियों का भी योगदान स्वल्प नहीं रहा है । भारत ने 15 अगस्त सन् 1947 में स्वाधीनता प्राप्त की तथा अब हम एक मानव सस्कृति की ओर अग्रसर हो रहे हैं । हमारी इस महान् सस्कृति का भूतकाल गौरवपूर्ण रहा है और आज हम इसी के पदचिह्नो पर चलते हुए भयभीत मानवता को आशा प्रदान करने में सलग्न हैं । ससार के सभी राष्ट्र भारत से कुछ आशा रखते हैं और भारत उनके विश्वास को सत्य करने का प्रयास कर रहा है ।

अध्याय 3

वर्णव्यवस्था

भारतीय संस्कृति में वर्णव्यवस्था का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहा है । इसकी स्थापना आर्यों की सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत की गई थी । यह प्राचीन भारतीय समाज की आधारशिला थी । उस समय हिन्दू समाज में सहयोग एवं सहकारिता की भावना प्रबल रूप से कार्यरत थी । इस भावना के अनुरूप जन्म से ही व्यक्ति के क्रियाकलापों तथा उसकी सामाजिक परिस्थिति का निर्णय हो जाता था । उस युग मे द्विज और एकज की धारणा, आर्य और अनार्य की धारणा तथा वर्ण की धारणा के सिद्धान्तो पर व्यक्ति की सामाजिक परिस्थिति निर्भर होती थी । एक ओर पाश्चात्य जगत् की संस्कृति में धर्म और राज्य के मध्य सदैव संघर्ष होता रहा, दूसरी ओर प्राचीन भारत मे ऐसे शाश्वत मूल्यों का निर्धारण किया गया, जिनके आधार पर भौतिक एवं आध्यात्मिक उपलब्धियाँ सबको समान रूप से सुलभ हो सकीं । वर्णव्यवस्था इन शाश्वत मूल्यों में से एक है ।

वर्ण शब्द का अर्थ–'वर्ण' शब्द में 'वृज्' अथवा 'वरी' धातु है जिसका अर्थ चुनना या वरण करना होता है । इससे यह तात्पर्य निकलता है कि वर्ण से आशय किसी विशेष व्यवसाय को चुनने या अपनाने से है । वर्ण उस वर्ग का सूचक शब्द प्रतीत होता है, जिसका समाज में विशिष्ट कार्य या व्यवसाय है और अपनी इस विशेषता के कारण वह समाज में एक वर्ग के रूप में प्रतिष्ठित है । सामान्य अर्थ में चारों वर्ण अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र कर्म या अवस्था के कारण अलग-अलग वर्गों का प्रतिनिधित्व करते प्रतीत होते हैं । समाजशास्त्रीय भाषा मे वर्ण का अर्थ अपने चुने हुए विशिष्ट व्यवसाय से आबद्ध वर्ग से है । यह अपनी विशेषताओ के कारण समाज के अन्य समूहो से अलग होकर अपने हितो के विषय में जागरूक रहता है । रग अथवा आलोक के अर्थ में वर्ण शब्द का सर्वप्राचीन प्रयोग ऋग्वेद में मिलता है । प्राकृतिक सरचना के अनुसार लोगो के दो वर्ग थे श्वेत तथा श्याम । वैदिक समाज में भी यही स्थिति थी, जिन्हे क्रमश आर्य और अनार्य या दस्यु अथवा दास कहा जाता था । इन दोनो वर्गों में जन्मजात, रक्तगत शरीरगत तथा सस्कारगत प्रजातीय भेद था । इन्हीं दो वर्गों से कालान्तर में वर्ण व्यवस्था विस्तृत रूप से विकसित हुई ।

वर्णव्यवस्था के मूल में विद्यमान सिद्धान्त– वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति के विषय में प्रमुख रूप से ये पाँच सिद्धान्त प्रचलित हैं-

(1) दैवी सिद्धान्त–प्राचीन धर्म ग्रन्थो में वर्णों की उत्पत्ति दैवी मानी गई है और इनके विभाजन को आदरपूर्वक पवित्र माना गया है । इस परम्परागत सिद्धान्त के

अनुसार वर्णों की उत्पत्ति ईश्वरकृत है । ऋग्वेद के सुप्रसिद्ध पुरुष सूक्त में वर्णों की उत्पत्ति विराट् पुरुष से बताते हुए कहा गया है कि उसके मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उरु से वैश्य तथा पद से शूद्र उत्पन्न हुए-

"ब्राह्मणो ऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य कृत ।
उरू तदस्य यद् वैश्य पद्भ्या शूद्रो ऽजायत ॥"

–ऋग्वेद, 10–90–12

ऋग्वेद में इस विराट् पुरुष को सृष्टिकर्ता मान कर यह भी कहा गया है कि उसके सहस्र सिर, सहस्र आखे तथा सहस्र पैर थे और वह भूत तथा भविष्यद्रष्टा था । महाभारत के शान्तिपर्व में इसी दैवी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए ऋग्वेद की भाति ही वर्णों की उत्पत्ति बताई गई है । केवल इतना-सा अन्तर है कि यहां विराट् पुरुष के स्थान पर ब्रह्मा का उल्लेख किया गया है । गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि उन्होंने चारो वर्णों की सृष्टि गुण और कर्म के आधार पर की है तथा वे ही उनके कर्त्ता तथा विनाशक हैं-

"चातुर्वर्ण्य मया सृष्ट गुणकर्मविभागश ।
तस्य कर्तारमपि मा विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥" –गीता, 4 13

मनुस्मृति (1.31) में भी विवरण मिलता है कि ब्रह्मा ने लोक वृद्धि के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को क्रमश मुख, भुजा, जघा तथा पैरों से उत्पन्न किया । ऐसा ही वर्णन विष्णु मत्स्य, ब्रह्म तथा वायु पुराण में प्राप्त होता है ।

(2) गुण का सिद्धान्त–इस मान्यता की आधारभूत धारणा यह है कि मनुष्य अपने गुणो के अनुसार वर्ण प्राप्त करता है, इसी कारण वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति का यह सिद्धान्त गुण का सिद्धान्त कहा गया है । साख्य दर्शन के अनुसार समस्त प्रकृति तीन प्रकार के मूल अणुओ तथा परमाणुओं के मेल का परिणाम है । ये तीन हैं-सत्व, रज और तम । सत्वगुण का लक्षण है शाति, ज्ञान, तप तथा शुद्ध आचरण । रज का लक्षण है क्रियाशीलता, राजसी प्रवृत्ति तथा धन व यश अर्जित करने का उत्साह । तम का लक्षण है जडता, अहकार, आलस्य आदि । इन तीनों गुणों को क्रमश श्वेत, रक्त तथा कृष्ण वर्ण कहा गया है । इन तीनो गुणों से युक्त परमाणु समस्त प्रकृति में पाये जाते हैं । किन्तु किसी में इनमें से एक गुण की प्रधानता होती है, तो दूसरे में दूसरे गुण की । किस व्यक्ति में कौन से गुण की प्रधानता होगी, यह उसके स्वभाव पर निर्भर करता है । इस आधार पर शास्त्रकारों की यह मान्यता है कि प्रवृति के अनुसार तीन वर्णों के व्यक्ति पाए जाते हैं । एक तो वे जिनमें सत्वगुण प्रधान होता है तथा रज व तम अपेक्षाकृत न्यून । ये ब्राह्मण वर्ण में आते हैं । रजोगुण प्रधान व्यक्ति दो प्रकार के होते हैं-एक तो मान, सम्मान व यश के प्रति आसक्त होते हैं एव दूसरे धन और सचय के प्रति लगाव रखते हैं । इनको क्रमश क्षत्रिय और वैश्य की सज्ञा दी गई है । तमोगुण प्रधान व्यक्ति शूद्र की श्रेणी में रखे गए, इनको शास्त्रकारों ने काला कहा है ।

(3) वर्ण अथवा रग का सिद्धान्त–वैदिक युग में वर्ण शब्द का प्रयोग 'रंग' के अर्थ में किया गया है क्योंकि आर्य श्वेत (गौर) वर्ण के तथा अनार्य कृष्ण (श्याम) वर्ण के थे, अत इन दोनो में भिन्नता दर्शाने के लिए ही वर्ण शब्द प्रयुक्त किया गया । कालान्तर में जब सामाजिक समूहों का निर्धारण किया गया तो आर्य-अनार्य भेद दर्शाने की 'वर्ण'

(रग) परम्परा का अनुसरण करते हुए चारो वर्णों के रग निश्चित कर दिए गए । यह प्रतिपादित किया गया कि ब्रह्मा ने ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति की । जिनका रग क्रमश श्वेत, लोहित (लाल) पीत (पीला) और काला था (महाभारत शाति पर्व 188.5) । वस्तुत श्वेत रग सत्वगुण का, लाल रग रजोगुण का, पीला रग सत्व और तमो गुण के मिश्रण का और काला रग तमोगुण का प्रतिनिधि माना गया था । इस सिद्धान्त से यह आभास मिलता है कि इसमे त्वचा के रग के साथ साथ गुण और कर्म को भी प्रमुखता दी गई थी और रगो को गुणो से सयुक्त कर दिया गया था ।

(4) **कर्म का सिद्धान्त**– वरण करने या चुनने के अर्थ मे वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति को स्वीकार करते हुए जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया वह कर्म या कार्य से सम्बन्धित था । भारतीय सामाजिक व्यवस्था में परम्परा से वर्ण का यहा अर्थ प्रचलित है। इसके अनुसार वर्ण व्यवस्था मे प्रत्येक सदस्य की सामाजिक स्थिति का चयन उसके कर्म के आधार पर किया गया । इस सिद्धान्त पर गठित वर्णव्यवस्था मे प्रत्येक वर्ण का कार्य सामाजिक जीवन के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण था जितना व्यक्ति के जीवन के लिए प्रत्येक अग का कार्य होता है । ऋग्वेद के पुरुष सूक्त मे प्राप्त होने वाला विवरण इसी का समर्थक है । इस दृष्टिकोण से वर्णव्यवस्था कर्म की अभियोजना मात्र प्रतीत होती है । यह सिद्धान्त धार्मिक पृष्ठभूमि मे भी सशक्त प्रतीत होता है । उपनिषदो मे तो यह व्यवस्था की गई है कि मनुष्य जो वर्तमान जीवन जीता है वह पूर्वजन्म मे किए गए कर्म का ही प्रतिफल है । अत सत्कर्म करने वालो का जन्म उच्च वर्ण मे होता है और बुरे कर्म करने वालो का निम्न वर्ग में–

"तद्य इह रमणीयचरणा अभ्यासो हयत्ते रमणीया योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनि वा क्षत्रिययोनि वा वैश्ययोनि वाथ । य इह कपूयचरणा अभ्यासो हयसे कपूया योनिमापद्येरन् श्वयोनि वा सूकरयोनि वा चाण्डालयोनि वा" (छान्दोग्य 5-10 7)

(5) **जन्म का सिद्धान्त**–वर्णों की उत्पत्ति जन्म से भी मानी गई है । जन्म से ही व्यक्ति स्वाभाविक रूप मे जन्मजात प्रवृत्तियो से युक्त होता है । इसमे वशानुगत गुण प्रमुख होते हैं । इस रूप मे प्राप्त जन्मजात प्रवृत्तियो की सीमाओ का कोई भी व्यक्ति उल्लघन नहीं कर सकता क्योकि वे उसके स्वभाव और आचरण में अन्तर्निहित होती हैं। वर्णव्यवस्था मे व्यक्ति का जन्मजात गुण उसके जीवन को व्यावहारिक बनाता है ।

इस प्रकार उपर्युक्त सिद्धान्तो से वर्णव्यवस्था के सम्बन्ध मे प्रचलित मान्यताओ का तो पता चल जाता है किन्तु वास्तविकता के सम्बन्ध में अभी भी शका बनी ही रहती है । इस सम्बन्ध मे एक मत यह भी है कि जिस प्रकार शासन धर्म अर्थ व सेवक-ये राष्ट्र के चार प्रमुख अग होते हैं उसी प्रकार समाज के लिए भी चार अगो का होना अपरिहार्य है । फलस्वरूप राज्य एव समाज के रूप मे समन्वय लाने के लिए कार्यगत प्रवीणता व कुशलता हेतु वर्णव्यवस्था का जन्म हुआ । समाज राज्य एव व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए पृष्ठभूमि तैयार करना ही वर्णव्यवस्था का उद्देश्य था । उस काल में कर्म के अनुसार ही वर्ण की श्रेणी प्राप्त होती थी । इसके कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं

(1) परशुराम जन्म से ब्राह्मण किन्तु कर्म से क्षत्रिय थे

(2) विश्वामित्र जन्म से क्षत्रिय तथा कर्म से ब्राह्मण (ऋषि) थे

(3) वशिष्ठ नामक प्रसिद्ध ऋषि वैश्या पुत्र थे

(4) वेदव्यास मुनि मछुआरिन के पुत्र थे और

(5) विधिनिर्माता पाराशर शूद्रो में निम्नतर चाण्डाल के पुत्र थे।

इस प्रकार वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति वैज्ञानिक धार्मिक सामाजिक एव दार्शनिक सिद्धान्तो के आधार पर हुई थी। अपने प्रारम्भिक काल में यह व्यवस्था कर्मप्रधान थी तथा कर्म में श्रेष्ठता प्राप्त करना ही इसका उद्देश्य था। किन्तु धीरे धीरे कालान्तर में यह कठोर होती गई और इन चारो वर्णों का कर्म सकुचित सीमाओं द्वारा बद्ध कर दिया गया। अब बालक की वही जाति होने लगी जो उसके पिता की थी। अत अब कर्म के अनुसार वर्ण परिवर्तन करना सम्भव न रहा। फलत समय के साथ साथ विकास होते रहने पर वर्णव्यवस्था में कर्म के स्थान पर जन्म प्रधान हो गया।

चारो वर्णों का विकास

वैदिक सस्कृति में प्रारम्भ में आर्यों के दो प्रमुख वर्ग थे आर्य और अनार्य। आर्यों में आपस में कोई भेदभाव न था। वे एक सुगठित एव सुसगठित जाति के थे। यद्यपि उनका निवास प्रारम्भ से सप्तसिन्धु तक ही सीमित था तथापि आवश्यकताओ में वृद्धि के कारण उनका विस्तार होने लगा। अब तो वे दूर दूर जाकर गाव बसाने लगे। उस समय परिवार के मुखिया के नाम पर गोत्र का निर्धारण होता था। शनै शनै एक ही स्थान पर एक ही गोत्र के कई परिवार उसी गोत्र में सम्मिलित हो गए। फलस्वरूप अनेक गोत्रों के समूहो ने गोष्ठियों ग्रामो एव जनपदों का निर्माण किया। आर्यों की ही तरह अनार्यों ने भी इस प्रथा का अनुसरण किया। उनके सम्पर्क के कारण आर्यों में भी अन्तर उत्पन्न होने लगा। अत रक्त की शुद्धता स्थिर रखने के लिए आर्यों ने अपने मध्य तीन वर्ग बनाकर उनके कर्म निर्धारित कर दिये। ऐसा करने में उनका प्रमुख उद्देश्य आर्यत्व की रक्षा करना ही था। प्रथम वर्ग धार्मिक कृत्यों का अधिकारी बना जो ब्राह्मण कहलाया। दूसरा वर्ग रक्षा एव शासन करने का अधिकारी बना जो क्षत्रिय कहलाया। तीसरा वर्ग कृषि पशुपालन व अन्य व्यवसायो का अधिकारी था जो वैश्य कहलाया। अन्तिम वर्ग मे वे प्राणी थे जो सर्वथा निकम्मे थे और जो उपर्युक्त तीनों में से कहीं पर भी उपयुक्त सिद्ध होने में असमर्थ थे। इनका कार्य मात्र सदस्यो की सेवा करना था। ये सब शूद्र कहलाए। इस प्रकार चारों वर्णों का विकास होता रहा।

चारो वर्णों का परिचय–1 ब्राह्मण–समाज में ब्राह्मण वर्ण सर्वोच्च स्थान पर था। उसे प्रत्येक क्षेत्र में विशेषाधिकार प्राप्त थे। उसका धर्म था वेद पढना व पढाना यज्ञ करना व कराना तथा दान लेना व देना। ब्राह्मण से त्याग कर्त्तव्यपरायणता साधना तप तथा बौद्धिक श्रेष्ठता की अपेक्षा की जाती थी। वह राज्य और समाज के हित के लिए धार्मिक क्रियाएँ सम्पन्न करता था तथा साधना एव तपश्चर्या द्वारा समाज का मार्ग निर्देशन करता था।

ब्राह्मण को अनेक विशेष सुविधाएँ प्राप्त थीं। पुरोहित के रूप में वह राजा को महत्त्वपूर्ण परामर्श देता था। राज्याभिषेक के समय वह राजा को प्रजा व राज्य के प्रति कर्त्तव्यपरायणता का बोध कराता था। वह स्वय राजा पर आश्रित नहीं था जैसाकि शतपथ ब्राह्मण के इस कथन से स्पष्ट होता है कि हे मनुष्यो यह व्यक्ति तुम्हारा राजा है ब्राह्मणो का राजा तो सोम है। ब्राह्मण अवध्य अदण्ड्य अवहिष्कार्य तथा अपरिहार्य था। (गौतम धर्मसूत्र)। मनु ने ब्राह्मण की हत्या को महापातक माना है। एक ही प्रकार का अपराध करने पर भी अन्य वर्णों की अपेक्षा ब्राह्मण के लिए उदार दण्ड की व्यवस्था थी।

"विद्या अपने त्राण के लिए ब्राह्मण के निकट आई तथा उसने विद्या का आदर सत्कार किया"—निरुक्त के इस उद्धरण से ज्ञात होता है कि सभी वर्णो को शिक्षा देने का दायित्व ब्राह्मण पर था। अर्थशास्त्र के अनुसार अध्ययन और अध्यापन उसका स्वधर्म था। मनु की तो मान्यता है कि ब्राह्मण मूर्ख होने पर भी देवता के समान था। जाति की विशिष्टता, उत्पत्ति स्थान की श्रेष्ठता (ब्रह्मा का मुख), श्रुति-स्मृति विहित आचरण तथा यज्ञोपवीत संस्कार आदि की श्रेष्ठता के कारण ब्राह्मण सभी वर्णों का स्वामी था। उसे आर्थिक क्षेत्र मे भी अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे। दान लेने का अधिकारी वही था। उसे दान देने मे गौरव अनुभव किया जाता था। सोने के सींग और चादी के खुर मढा कर वस्त्र ओढा कर दूध देने वाली सीधी गाय कास के दुग्धपात्र एव दक्षिणा के साथ दान देना चाहिए-

"हेमश्रृगी शफै रौप्यै सुशाला वस्त्रसयुक्ता।
सकास्यपात्रा दातव्या क्षीरिणी गौ सद्क्षिणा॥"

—याज्ञवल्क्य स्मृति, 1 204

यज्ञ की बची सामग्री ब्राह्मण की ही होती थी। उसके धन को राजा भी ग्रहण नहीं कर सकता था। वह राजकर से भी मुक्त था। धर्मसूत्रो के अनुसार प्रतिग्रह का एकमात्र अधिकार ब्राह्मण को प्राप्त था। ब्राह्मण को प्रत्येक वर्ण से एक-एक पत्नी रखने का अधिकार था। चार पत्नियाँ रखना समाज मे उसकी विशेष स्थिति गरिमा और प्रतिष्ठा को व्यक्त करती है। आपातकाल मे ब्राह्मण वर्णोत्तर कर्म कर सकता था। यदि अपने परिवार का पालन पोषण करने मे अध्यापन, यज्ञ तथा दान प्राप्ति द्वारा पर्याप्त धन सामग्री नहीं मिलती थी, तो वह क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ण के कर्म अपना सकता था। कौटिल्य ने ब्राह्मण सेना का उल्लेख किया है। महाभारत से विदित होता है कि तत्कालीन समाज में कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा जैसे वीर पराक्रमी ब्राह्मण थे। मनु ने सकट के समय में ब्राह्मणों को कृषि करने का प्रावधान किया है। सकट के समय वह व्यापार भी कर सकता था। परन्तु मास, लाख और नमक बेचने वाला ब्राह्मण पतित तथा दूध बेचने वाला ब्राह्मण तीन दिन मे शूद्र हो जाता था। धन देकर ब्याज लेने का कर्म उनके लिए वर्जित था। स्वधर्म तथा आपातकालीन कर्म अपनाने के कारण ब्राह्मणो के ब्रह्मसम देवसम शूद्रसम चाण्डालसम, क्षत्रसम तथा वैश्यसम आदि कई वर्ग हो गए थे।

2 क्षत्रिय—क्षत्रिय वर्ण पर राज्य और समाज की रक्षा का भार था। उनका वर्णगत गुण शासन और सैन्यकर्म था। चतुर्वर्णो का सरक्षण करना उनका उत्तरदायित्व था। उन्हे अध्ययन और अध्यापन का भी अधिकार था। क्षत्रिय वर्ण की स्थिति द्वितीय श्रेणी की थी। गौतम ने इस वर्ण को तीन वेदो पर अधीत बताया है। कौटिल्य ने क्षत्रिय के प्रमुख कर्मों मे अध्ययन, यज्ञ करना, शस्त्र धारण करना और भूतरक्षण की गणना की है। मनु ने यह व्यवस्था दी है कि क्षत्रिय प्रजा की रक्षा करे, दान दे, वेद पढे और विषयों मे आसक्त न हो। न्याय की स्थापना करना तथा अधर्मियो को दण्ड देना भी क्षत्रिय के कर्तव्य क्षेत्र मे सम्मिलित था। वे समाज की भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति और सरक्षण के लिए राज करते थे।

युद्ध मे जीती गई सामग्रियो पर क्षत्रियों का अधिकार होता था। समय-समय पर अधीनस्थ राजाओ से मिलने वाले उपहारो पर भी क्षत्रिय शासक का स्वत्व होता था।

क्षत्रिय सैनिक या राजपुरुष राजा के वेतनभोगी होते थे। क्षत्रिय शिक्षक भी बन सकते थे परन्तु वे इसके बदले में कोई शुल्क ग्रहण नहीं कर सकते थे। पचाग्नि विद्या की उत्पत्ति और विकास का श्रेय क्षत्रियो को ही प्राप्त था। दण्ड के क्षेत्र में क्षत्रिय को केवल ब्राह्मण के प्रति किए गए कुछ अपराधो मे अन्य वर्णों की अपेक्षा कम दण्ड दिया जाता था। गौतम के अनुसार यदि क्षत्रिय ब्राह्मण को अपशब्द कहे तो 100 कार्षापण और यदि वैश्य ऐसा करे तो 150 कार्षापण का दण्ड देना चाहिए। आपातकाल में क्षत्रिय अपने से नीचे के वर्ण के कर्म अपना सकते थे ' मनु, गौतम और बौधायन के अनुसार वे वैश्यकर्म अपना सकते थे। व्यापार मे उनके लिए रस, तिल नमक, पत्थर, पशु और मनुष्यो का क्रय-विक्रय वर्जित था।

3 वैश्य–ब्रह्मा के उदर से उत्पन्न वैश्य वर्ण अपने उदर की पूर्ति के साथ-साथ समाज को अर्थव्यवस्था एव भरण-पोषण का भार वहन करते थे। वे अपने सतत प्रयत्नो द्वारा समाज एव राज्य को आर्थिक सुदृढता प्रदान करते थे। उनके प्रमुख कर्त्तव्यो में कृषिकर्म पशुपालन व्यापार, उद्योग-धन्धे तथा दान आदि थे। इसके अतिरिक्त उन्हे वेदों के अध्ययन का अधिकार भी प्राप्त था। वे जो कुछ भी उत्पन्न करते थे उस पर समाज एव राज्य का पूर्ण नियन्त्रण होता था। अपनी आय का कुछ अश उन्हें राज्य को आय कर के रूप मे देना पडता था। आर्थिक समृद्धि तथा विकास के लिए वे यज्ञों का आयोजन भी करते थे। समाज में उन्हे क्रमश तीसरा स्थान प्राप्त था। गौतम तथा कौटिल्य के अनुसार अध्ययन भजन और दान वैश्यो का परम कर्त्तव्य था। कृषि, गौरक्षा तथा वाणिज्य उनके स्वाभाविक कर्म थे। पशुओ की रक्षा करना, दान देना यज्ञ करना वेद पढना व्यापार करना ब्याज लेना तथा कृषिकर्म वैश्यो के कर्त्तव्य थे। दूसरो की फसलो तथा बीजो की देखभाल करने पर वैश्यो को निश्चित पारिश्रमिक मिलता था।

वैश्य वर्ण द्वारा ही राज्य को कर के रूप मे प्राप्त होने वाले धन का अधिकाश भाग दिया जाता था। इससे राज्य को आर्थिक स्थिति सुदृढ होती थी। फिर भी समाज मे उन्हे विशेष आदर सम्मान प्राप्त नहीं था। बौधायन ने वैश्यो की अवस्था शूद्रो के समकक्ष बताई है। इसका मुख्य कारण इस वर्ण का अध्ययन और यज्ञ से विरत होना था। आपातकाल मे वैश्य अपनी जीविका का निर्वाह करने के लिए दूसरे कर्म कर सकता था। गाय ब्राह्मण तथा अपने वर्ण की रक्षा के लिए वह शस्त्र धारण कर सकता था। मनु के अनुसार अपने वर्ण के लिए निषिद्ध कर्मों का त्याग करते हुए वह शूद्रवृत्ति को अपना सकता था। प्राय ब्राह्मणो और क्षत्रियो की सेवा द्वारा भी वह जीविका चला सकता था। विभिन्न व्यवसायो, उद्योगो एव व्यापार करने के कारण वैश्यो मे पाच श्रेणिया बन गई थीं-

(1) स्थानीय वणिक्
(2) कारवा,
(3) सामुद्रिक व्यापारी
(4) विभिन्न उद्योग करने वाले वणिक् और
(5) साधारण व्यापारी।

4 शूद्र–समाज मे शूद्र वर्ण की स्थिति निम्नतम थी। इनको पतित तथा हेय माना जाता था। अधिकार एव प्रतिष्ठा से वचित शूद्रो की तुलना पशुओ से की गई है। दैवी

उत्पत्ति के सिद्धान्त के अनुसार शूद्र समाज के चरण थे। जिस प्रकार शरीर का सारा भार पैरो पर होता है, उसी प्रकार इस वर्ण पर समाज की सेवा का पूरा-पूरा भार था। मनु के अनुसार तीनों वर्णों की सेवा करना यही एक कर्म शूद्रो के निमित्त ईश्वर ने बनाया है-

"एकमेव तु शूद्रस्य प्रभु कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णाना शुश्रूषामनसूयया ॥" (मनु 191)

यह वर्ण समाज के हीन कर्म करता था। शूद्र का अपना कोई धन नहीं होता था। उसके सारे धन पर स्वामी का ही अधिकार होता था। शूद्र पूर्ण रूप से द्विजो की दया पर निर्भर थे। वे अन्य तीनो वर्णों द्वारा परित्यक्त वस्तुओ का उपयोग करते थे। सेवा के बदले में उन्हें जूठा अन्न, पुराने वस्त्र धान के पुआल, पुराने बर्तन, खाट आदि दिये जाते थे। ब्राह्मण की सेवा करना शूद्रो का सौभाग्य सूचक था। यदि ब्राह्मण सेवा से उनका भरण-पोषण नहीं होता था तभी वे धनिक वैश्य की सेवा करते थे। आपति काल में वे विभिन्न उद्योग धन्धे अपना सकते थे। यह एक रोचक बात है कि आपातकाल मे वे जो कर्म कर सकते थे। वे उनके स्वधर्म से अच्छे थे। भूख से पीडित होने पर शूद्र कारु कर्म कर सकते थे। इसमें भोजन बनाने कपडा बनाने तथा बढई के कार्य सम्मिलित थे।

उपजीव्य व महाकाव्यकाल में शूद्रो की दशा मे कुछ प्रगति हुई अब वे व्यापार तथा वाणिज्य कर सकते थे। महाभारत के अनुसार युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ में शूद्र प्रतिनिधियो को भी आमत्रित किया था। मनु के विचारो मे शूद्रो की स्थिति मे सुधार होने के सकेत मिलते हैं। उसने शूद्रो की श्रेणी मे विदेशी तत्त्वो को भी सम्मिलित करके कुछ सुविधाओ की प्रस्तावना की। अब शूद्रो को काष्ठशिल्प धातुशिल्प तथा चित्रकला आदि कर्मों को अपनाने की आज्ञा दी गई। मनु ने यहा तक कहा है कि नीच (शूद्र) से भी उत्तम विद्या ग्रहण करनी चाहिए। मेधातिथि के मनुस्मृति भाष्य से विदित होता है कि चाण्डाल के वचन भी एक प्रकार के धर्म अथवा व्यवस्था माने जाते थे। उसने कहा है कि यदि चाण्डाल भी "इस स्थान पर बहुत देर तक मत रुको ' अथवा "इस जल में स्नान न करो" वचन कहे तो उसे मानना चाहिए।" इससे यह स्पष्ट होता है कि शूद्रो के सामाजिक उद्धार की बात सोची जाने लगी थी। फिर भी सामाजिक व्यवस्था की जडे इतनी गहरी हो चुकी थीं कि पुरातन सामाजिक मान्यताओ और व्यवहार की उपेक्षा शूद्रो के लिए असम्भव और दुष्कर थी। किसी सीमा तक यह अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि शूद्रो के प्रति उदार भावना के बीजारोपण से शूद्रो मे दो वर्गों का विकास होने लगा था

1 शूद्रो का सन्मार्गी वर्ग वैश्यो के समकक्ष तथा

2 सामान्य वर्ग यथास्थिति पर बना रहा।

चारो वर्णो के कर्त्तव्य—चारो वर्णों का विकास एव परिचय प्राप्त कर लेने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विभिन्न वर्णों की धारणा गुणो पर आधारित रही है। प्रत्येक वर्ण के साथ उनका विशिष्ट स्वभाव जुडा हुआ था जन्मजात माना जाता था। उदाहरणार्थ ब्राह्मण को स्वभाव से शान्त और आध्यात्म प्रेमी होना आवश्यक था। वर्ण व्यवस्था के विकास का आधार धर्म था। व्यक्ति की वर्णानुसार गणना उसके गुण धर्म के आधार पर की जाती थी। कर्म भी धर्ममूलक था। चारो वर्ण धर्ममूलक प्रवृत्तियो और विशिष्ट सस्कारों के कारण पृथक् माने जाते थे। प्रत्येक वर्ण का कर्म निश्चित था। व्यक्ति के कर्मानुसार वर्ण

धर्म की नियोजना की गई थी। चारों वर्णों के कर्त्तव्यों को प्रमुख रूप से दो भाग में विभाजित किया जा सकता है-सामान्य धर्म और विशेष धर्म।

1 सामान्य धर्म–सामान्य धर्म चारो वर्णों के व्यक्तियों के लिए था। प्रत्येक व्यक्ति इसका पालन करता था। भारतीय समाजशास्त्रिया के अनुसार इसके अन्तर्गत निम्नाकित कर्त्तव्य थे-

(1) प्राणिया को हानि न पहुँचाना,
(2) सत्य की निरन्तर खोज करना,
(3) *अधिकारपूर्वक दूसरे की वस्तु को लेने से बचाना,*
(4) चरित्र एव जीवन की पवित्रता को बनाए रखना,
(5) इन्द्रियो पर नियन्त्रण रखना, तथा
(6) आत्मसयम, क्षमा, ईमानदारी, दान आदि सद्गुणों का पालन करना।

2 विशेष धर्म–अलग अलग वर्ण के व्यक्तिया के लिए कुछ विशिष्ट धर्मों का निर्धारण किया गया था। इन्हें हो "वर्ण धर्म" कहा जाता है। विभिन्न वर्णों के लिए जिन कर्त्तव्या का निधारण किया गया, उनका वर्णन निम्नलिखित है-

(1) ब्राह्मण–ब्राह्मण चारा वर्णों में सर्वश्रेष्ठ माना गया। उसकी श्रेष्टता का आधार उसकी सात्विक प्रवृत्ति और निश्छल स्वभाव था। मनुस्मृतिकार ने ब्राह्मणा के लिए ये कर्त्तव्य निर्धारित किये हैं–

"अध्यापनमध्ययन यजन याजन तथा।
दान प्रतिग्रह चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥"

अर्थात् (1) अध्ययन (2) अध्यापन, (3) यज्ञ करना, (4) यज्ञ कराना (5) दान देना तथा (6) दान लेना। इसी प्रकार भीष्म ने ब्राह्मणा के तीन धर्म बताये हैं (1) पढाना, (2) आत्मनियन्त्रण तथा (3) तप का अभ्यास करना। ब्राह्मण के गुणा में (1) ज्ञान (2) आस्तिकता (3) क्षमा (4) संयम (5) असग्रह, (6) सदाचार तथा (7) न्यायप्रियता आदि की गणना की गई है।

(2) क्षत्रिय–वर्णव्यवस्था मे क्षत्रिया का दूसरा स्थान प्राप्त था। धर्मशास्त्रा के अनुसार

"प्रजाना रक्षण दानमिन्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्त्र समासत॥"

अर्थात् (1) प्रजा की रक्षा करना, (2) दान देना, (3) यज्ञ करना (4) अध्ययन करना तथा (5) विषया मे आसक्त न होना ये क्षत्रिय के सक्षेप में कर्त्तव्य हैं। क्षत्रिय के प्रथम कर्त्तव्य में धर्म और जीवन की रक्षा आ जाती है। गाता म क्षत्रियों के निन गुणा का उल्लेख किया गया है, वे ये हैं

"शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्य युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्र कर्म स्वभावजम्॥" गीता 18.43

अर्थात् (1) शौर्य, (2) तेज (3) धैर्य, (4) चातुर्य (5) युद्ध में डटे रहना (6) दान देना तथा (7) स्वामीभाव।

(3) वैश्य–वर्णव्यवस्था के क्रम मे इसका महत्त्व तीसरे स्थान पर था। मनुस्मृति के अनुसार इस वर्ण के कर्त्तव्य यो हैं

पशूना रक्षण दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथ कुसीद च वैश्यस्य कृषिमेव च।'

अर्थात् (1) पशुओ का रक्षण (2) दान देना (3) यज्ञ करना (4) अध्ययन करना (5) लेन देन का व्यापार (6) ब्याज लेना तथा (7) कृषि करना। भगवद्गीता मे 'कृषिगौरक्ष्यवाणिज्य वैश्यकर्म स्वभावजम्' कह कर श्रीकृष्ण ने वैश्यो के 3 धर्म बताए हैं (1) कृषि (2) गोरक्षा तथा (3) वाणिज्य।

(4) शूद्र–शूद्र वर्णव्यवस्था के अन्तिम स्तर मे आते हैं। शास्त्रकारो ने लिखा है कि शूद्र का धर्म उपर्युक्त तीन वर्णों ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य की बिना ईर्ष्याभाव से सेवा करना है

' एकमेव तु शूद्रस्य प्रभु कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णाना शुश्रूषामनसूयया।

वर्णव्यवस्था के गुणो की विवेचना–वर्णव्यवस्था भारतीय सस्कृति का आधार स्तम्भ रही है तथा हजारो वर्षो से चली आ रही है। इसकी निरन्तरता से स्पष्ट होता है कि इसमे अनेक गुण रहे होंगे। यह व्यवस्था आर्यों द्वारा प्रतिपादित एक मौलिक कृति है जिसके ये गुण हैं

(1) सस्कृति, समाज एव धर्म की रक्षा–भारत की इन तीनो वस्तुओ की रक्षा का श्रेय वर्णव्यवस्था को ही है। अपनी नियमित व्यवस्था के कारण वर्णों ने दूसरी जातियो के साथ सम्मिश्रण पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इसी वर्णव्यवस्था के कारण ही हमारी सस्कृति एव धर्म को यूनानी हूण तथा मुसलमान आक्रमणकारी प्रभावित न कर सके। वास्तव में सामाजिक एव सास्कृतिक अभ्युदय के लिए सभी वर्ण एक दूसरे के लिए त्याग करते हुए, पारस्परिक सहयोग प्राप्त करते थे। समय के अनेक थपेडो को सहन करके यह व्यवस्था आज भी वर्तमान है।

(2) आध्यात्मिक उन्नति–इस व्यवस्था ने समाज मे ब्राह्मणो के रूप मे एक ऐसे वर्ण का निर्माण किया जिसका कार्य समाज की आध्यात्मिक उन्नति करना था। ब्राह्मणो को धन के लोभ से मुक्त कर दिया गया। उन्हे धनोपार्जन तथा सुरक्षा की चिन्ता नहीं थी। अत वे सारी शक्ति आध्यात्मिक उन्नति मे लगा देते थे। इस कारण आध्यामिक जगत् मे विशेष उन्नति हुई। ब्राह्मण मोक्ष पाने का साधन बताते थे तथा उसकी प्राप्ति सभी के लिए उपलब्ध थी।

(3) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा–सभी वर्णों को अपने अपने कर्मक्षेत्र मे पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त थी। अत उन्हे विकास करने का समान अवसर मिला। ब्राह्मणो के कार्यक्षेत्र मे क्षत्रिय बाधक नहीं थे और न ही क्षत्रिय वैश्य के कार्य मे हस्तक्षेप करता था। इस प्रकार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के मूल सिद्धान्तो की रक्षा होती थी।

(4) एकता की भावना–वर्णव्यवस्था के कारण एकता की स्थापना हुई। एक ही कर्म करने वाले अपने हितो की रक्षा करने के लिए सघ बना लेते थे। उनमे परस्पर

यो कह कर वह कर्ण बैठ गया। यही दुर्दशा अभागे शूद्रो की रही है। ये वेदनापूर्ण स्वर अकेले कर्ण के नहीं समूचे शूद्र वर्ण के हैं।

वर्णव्यवस्था का महत्त्व–वर्णव्यवस्था के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता क्योंकि अपने मूलरूप में यह व्यवस्था समाज का लचीला वर्गीकरण था। भारतीय समाजशास्त्रियो के अनुसार "सामाजिक उच्चता" का आधार आर्थिक और भौतिक वस्तुएँ हैं। इसलिये उन्होंने बौद्धिकता को सर्वोच्च स्थान दिया है। बौद्धिकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन और बुद्धि की प्रतिष्ठा को स्थापित करना ही वर्णव्यवस्था का आधार था। भारतीय संस्कृति का उद्देश्य बुद्धि की सर्वोच्च पतिष्ठा और वर्ण के लचीलेपन के द्वारा समाज के अधिक से अधिक व्यक्तियो को बौद्धिक बनाना था। वर्णव्यवस्था के जो व्यक्ति अपने कार्यों का सम्पादन नहीं करते थे उनका वर्ण परिवर्तित हो जाता था। इस व्यवस्था के द्वारा अपने कर्तव्यो के प्रति जागरूकता पैदा करना इसका उद्देश्य था।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार कर्त्तव्य हैं सम्मान शासन सम्पन्नता और सेवा ये चार अधिकार हैं। कर्त्तव्यो और अधिकारो को प्रवृत्ति के अनुसार चार भागो मे बाँट कर उन्हे निश्चित करना ही वर्णव्यवस्था का उद्देश्य था। यह व्यवस्था कर्म की प्रधानता को स्वीकार करके समाज की प्रगति मे वृद्धि करती थी। जन्मजात आधार व्यक्तियो को अकर्मण्य बना देता है। व्यक्ति को कार्यशील बनाना ही इसका ध्येय था। भारतीय व्यवस्थाकार जानते थे कि समाज का विकास स्वार्थ और परार्थ दोना के समन्वय से हो सकता है। इसी के द्वारा समाज का विकास सम्भव है। इसीलिए उन्होंने आर्थिक दृष्टि की अवहेलना तो नहीं की, परन्तु पदार्थ को मुख्य बना कर स्वार्थ को परार्थ के साधक के रूप मे गौण स्थान दिया। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसकी आवश्यकताएँ अकेले पूर्ण नहीं हो सकतीं। उसे दूसरो की सहायता और सहयोग की आवश्यकता होती है। यही तत्त्व वर्णव्यवस्था के मूल में था। इस योजना का उद्देश्य वशानुक्रमण और शिक्षा की शक्तियो का प्रयोग करके विभिन्न वर्णों के सदस्यो मे यथायोग्य भावना और परम्परा का विकास करना था। इसीलिए यह विभाजन इतना कठोर नहीं था।

वर्णव्यवस्था कर्मवादी, बुद्धिवादी त्यागवादी आशावादी और प्रजातन्त्रवादी जैसे महान् सिद्धान्तो पर आधारित थी। अध्यापको योद्धाओ व्यापारियो और सेवको इन चार वर्गों मे मानव समाज का विभाजन मनोविज्ञान नीतिशास्त्र प्राणिशास्त्र और अर्थशास्त्र पर आधारित है। स्वभावत कुछ व्यक्ति कुशाग्र होते हैं, कुछ लालची और दूसरे इन दोनो से भिन्न। "स्वधर्म" या स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के कार्य बँटे हुए थे। ये सभी मिलकर एक सावयवी समग्रता का निर्माण करते थे। सामाजिक सहयोजन और जागरूकता मानव की मौलिक विशेषताएँ मानी जाती थीं। यही वर्णव्यवस्था बदलती हुई परिस्थितियो में भारतीय संस्कृति की रक्षा करने मे समर्थ हो सकी।

शूद्रो की स्थिति पर एक दृष्टिकोण–भारतीय संस्कृति मे शूद्र को कर्मकाण्ड का अधिकार तो दिया गया है परन्तु उसे वेद के अध्ययन की आज्ञा नहीं दी गई। लोगो का विचार है कि शूद्र को वेदाध्ययन की आज्ञा न देकर उस पर अत्याचार किया गया था। जब द्विज अर्थात् अवशिष्ट तीनों वर्ण आध्यात्मिक विद्या को प्राप्त कर सकते थे तो शूद्र को इससे क्यों वंचित रखा गया ? यहाँ एक ऐसा भी युग आया जबकि शूद्र को यदि वेद मन्त्र

सुनाई पड जाये तो उसके कानों में गर्म गर्म पिघला हुआ सीसा डाल दिया जाता था। इन सब का आशय यह रहा कि शूद्र द्वारा अध्यात्म विद्या को प्राप्त करना भारत में पसन्द नहीं किया जाता था। शूद्र सदैव अशिक्षित और अनपढ रहा। इस अन्याय के विरुद्ध सुधार के आन्दोलन भी चलते रहे। महापुरुषों ने इसकी आलोचना भी की, किन्तु व्यवहारिक जीवन में यह अन्याय सदा उपस्थित रहा। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत में जहाँ छुआछूत को अवैध घोषित किया गया वहाँ यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि भविष्य में कोई संस्था किसी भी व्यक्ति को जातिभेद के कारण शिक्षा देने से मना नहीं कर सकती। वास्तव में यह बहुत बडा सुधार है।

किन्तु भारतीय संस्कृति इतनी उन्नत व उदार होती हुई भी किस प्रकार इस अन्याय की व्यवस्था कर पाई। "सर्वे भवन्तु सुखिन" एवं "वसुधैव कुटुम्बकम्" के उपासको ने सभी को एक समान वेदविद्या का अधिकार क्यो नहीं दिया ? वस्तुत यह आक्षेप केवल वर्तमान अवनति की स्थिति मे ही जातिभेद को देख कर ठीक दिखाई देता है। जब वर्तमान वर्णव्यवस्था का आधार गुण तथा कर्म न होकर केवल जन्म ही हो, जब ब्राह्मण का मूर्ख पुत्र ब्राह्मण ही कहलाए और शूद्र की प्रतिभाशील सन्तान को शूद्र ही कहा जाए, तो सभी को एक समान वेदविद्या का अधिकार न देना अन्याय अत्याचार ही होगा। यदि कोई मूर्ख ब्राह्मण वेद पढ सकता है, तो बुद्धिमान शूद्र क्यो नहीं ? इस अन्याय के विरुद्ध ही कबीर नानक, दयानन्द तथा गाँधी जैसे महापुरुषो ने आवाज उठाई थी।

परन्तु वर्णव्यवस्था का वास्तविक और वैज्ञानिक आधार गुण और कर्म था, जन्म नहीं। द्विज या ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वही व्यक्ति कहलाता था जिसमे बौद्धिक और नैतिक क्षमता हो तथा शूद्र वह था जिसमें बौद्धिक व नैतिक गुणों का अभाव हो। इस रूप में ब्राह्मण की बौद्धिक गुणों से रहित सन्तान शूद्र होगी तथा शूद्र का बुद्धिमान पुत्र ब्राह्मण होगा। दूसरे शब्दों में ब्राह्मण की सन्तान को वेदविद्या का अधिकार नहीं होगा और शूद्र का पुत्र वेद का अध्ययन कर सकेगा। यदि हम वर्णव्यवस्था को इसी वैज्ञानिक स्थिति मे स्वीकारें तो शूद्र जो गुण व कर्म से रहित है के साथ अन्याय करने का प्रश्न ही नहीं रहता क्योंकि प्रत्येक गुण रहित व्यक्ति चाहे वह ब्राह्मण की सन्तान हो अथवा शूद्र की, उसे समान रूप से वेद पढने के अधिकार से वचित रखा गया है।

हमारे शास्त्र भी इसी तथ्य के साक्षी हैं। मनु का कथन है, "किसी व्यक्ति के वर्ण का निश्चय उसके गुणो से होता है जन्म से नहीं। व्यक्ति की जाति का आधार है, उसका चरित्र फिर चाहे उसने किसी भी जाति में जन्म लिया हो। जिसमे ब्राह्मण के गुण नहीं हैं वह नाममात्र का ही ब्राह्मण है। यह उसी प्रकार है जैसे कोई लकडी के हाथी को हाथी और हिरण की खाल को हिरण कहे। वह ब्राह्मण इसी जन्म में शूद्र कहा जाना चाहिए जो वेद के ज्ञान से रहित है और वह शूद्र ब्राह्मण हो जाता है जिसमें ब्राह्मण की योग्यता है। यही बात क्षत्रिय और वैश्य पर लागू होती है।" "चारों वर्णों का आधार गुण, कर्म और स्वभाव है।" (गीता)। "बहुत से ऋषि जिनकी ब्राह्मण भी पूजा करते हैं निम्न जातियों में से थे। महर्षि वशिष्ठ का जन्म वेश्या के गर्भ से ज्ञात हुआ है व्यास माहीगीर स्त्री के पुत्र थे और पाराशर की माता चाण्डाल जाति से थी।" (डॉ राधाकृष्णन्)। यह ठीक है कि पीछे से जन्म ही वर्ण का आधार हो गया किन्तु सिद्धान्त में यह बात नहीं थी। अत आर्य संस्कृति पर शूद्र के ऊपर किए गए अत्याचार का आक्षेप नहीं आता।

वर्णव्यवस्था की आज के युग मे उपयोगिता—वर्णव्यवस्था सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन से यह तथ्य निकलता है कि इससे हमारे देश को लाभ के स्थान पर हानि ही अधिक हुई है । किन्तु यह उल्लेखनीय है कि जिस काल में इस व्यवस्था की स्थापना हुई थी उस समय यह व्यवस्था अपने महान् गौरवपूर्ण रूप में विद्यमान थी । इस व्यवस्था द्वारा समाज में सगति रही एकमुखता रही तथा पारस्परिक सघर्ष का अभाव रहा । ब्राह्मण यज्ञ करते समय सम्पूर्ण समाज के कल्याण की कामना करते थे हे देव सभी वर्णों में दीप्ति प्रदान करो ।" यजुर्वेद में कहा गया है कि शूद्रा से भी कल्याणी वाक्य का प्रयोग करने से मनुष्य देवताओ का प्रिय बन सकता है । शतपथ ब्राह्मण में वर्णों के सहयोग की अपेक्षा करते हुए कहा गया है कि ब्राह्मण लोगो के व्यक्तित्व का विकास करता है और लोग कृतज्ञतावश उस की पूजा करते हैं दान देते हैं, उससे शत्रुता नहीं करते और उसको अवध्य मानते हैं । आज वर्ण्यवस्था का घोर विरोध हो रहा है । यह ठीक भी है क्योंकि आधुनिक युग में इसकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

इसमें दोष उन आदिकालीन वर्णव्यवस्थापकी का नहीं अपितु स्वय हमारा ही है कि मृत एव महत्त्वहीन व्यवस्था को आज भी हम अपने हृदय से लगाए हुए हैं और उसे अपनाए हुए हैं । भारतीय सस्कृति की आत्मा ने सदैव ही मानव को उसके सत्य रूप में देखा है । मूल एव प्राकृतिक अधिकारो में हमारा दृढ विश्वास है । अत समय समय पर इस वर्ण व्यवस्था को मिटाने की बात भी हमने स्वय ही कही है । अत यह स्वीकार करने में हमें तनिक भी झिझक नहीं होनी चाहिए कि आज के युग में वर्णव्यवस्था का कोई उपयोगिता नहीं रही है ।

प्राचीन भारत मे जातिप्रथा

आज भारत में तीन हजार से भी अधिक जातियाँ व उपजातियाँ हैं । भारतीय जाति व्यवस्था सामाजिक सगठन का सामान्य रूप है जो हिन्दू समाज को समूहो में विभक्त करता है जिसके स्तर व्यवहार और आचरण मे सम्यक् अन्तर है । इसके विकसित होने में हजारो वर्ष लगे हैं । इस पृथ्वी पर मानव का आगमन हुआ और फिर उसने विकास करना प्रारम्भ किया । उसकी सख्या में वृद्धि हुई तथा प्रकृति और वातावरण के साथ उसने समन्वय करके जीवन निर्वाह की कला में निपुणता प्राप्त करली । धीरे धीरे ससार मे सभ्यता के कई केन्द्र बने और मनुष्यो ने पृथ्वी पर दूर दूर की यात्राएँ प्रारम्भ कर दीं । जहाँ अधिक सुविधाएँ मिलीं वहीं पर वे बसने लगे और धीरे धीरे वह भी समय आया जबकि विभिन्न प्रदेशीय लोग पृथक् पृथक् नामो से पुकारे जाने लगे । मानव के मध्य भेद उत्पन्न होने का यह प्रथम अवसर था और सम्भवत यहीं कहीं 'जाति की भावना ने जन्म लिया ।

जाति का अर्थ और स्वरूप— जाति ' शब्द जन् धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ प्रजाति जन्म या भेद है । इसका सम्बन्ध जन्मगत आधार पर स्थिति व्यवस्था से माना जा सकता है । विद्वानो ने जातिप्रथा को वर्गगत ढाँचे पर आधारित ऐसी प्रथा माना है जिसमें आबद्धता और गतिशीलता है । ऐसी स्थिति में इस प्रथा में उदार भावनाओ के रहते हुए भी कुछ प्रतिबन्धो का होना अवश्यम्भावी है । भारतीय जातिप्रथा के लिए कहा गया है कि "यह कुटुम्बो या कुटुम्बो के समूह का समवेत रूप है जो साधारण नाम के साथ

एक काल्पनिक पूर्वज, मनुष्य या देवता, एक सामान्य वश परम्परा अथवा उसके उद्भव का दावा करते हैं। ऐसे समान परम्परागत व्यवसाय करते रहने पर बल देते हैं, जो सजातीय समुदाय के रूप में उनके द्वारा मान्य होते हैं। जो अपना इस प्रकार का मत व्यक्त करने मे समर्थ होते हैं।" (रिजले)

भारतीय जातिप्रथा को अन्तर्विवाही समूह अथवा समूहों का सम्मिलित रूप भी कहा गया है, जिसकी सदस्यता वश परम्परागत मानी गई है। विभिन्न जातियाँ एक-दूसरे की विरोधी होती हैं। इसमें जन्म को प्रधान्ता देते हुए व्यवसाय रक्त, विवाह आदि की विशेषता एक दूसरी जाति को पृथक् करती है और अपने कुछ विशेष अधिकारों के कारण ऊँच-नीच की भावना से ग्रस्त रहती है। जन्म के आधार पर विकसित जातियो का जीवन और सस्कृति इन विशेषताओ से परिपूर्ण है-

(1) एक जाति का सदस्य अपनी जाति से बाहर विवाह नहीं कर सकता।

(2) खान-पान में विभिन्न जातियाँ एक-दूसरे से प्रतिबन्ध रखती हैं।

(3) अधिकाश जातियो के व्यवसाय निश्चित हैं।

(4) जातियो के ऊँच नीच के भेद-भाव में ब्राह्मणो की स्थिति मान्य व सर्वोच्च है।

(5) जन्म से निर्धारित जाति के नियम तोडने पर व्यक्ति जाति से बहिष्कृत हो जाता है।

(6) जाति की सम्पूर्ण व्यवस्था ब्राह्मणो की प्रतिष्ठा पर निर्भर करती है।

जाति प्रथा की उत्पत्ति के सिद्धान्त-(1) दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त-इस सिद्धान्त के मानने वालो का कथन है कि ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में वर्णित वह मन्त्र इसका समर्थक है, जिसमें ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति क्रमश मुख भुजा, उदर तथा चरण से मानी गई है। किन्तु इसे जाति की उत्पत्ति का सिद्धान्त नहीं माना जा सकता है। वास्तव में ये चारों वर्ण तो "आर्य जाति" के अग थे। एक ही आर्य जाति को विभिन्न वर्गों में विभाजित करने वाले इस वर्णव्यवस्था के सिद्धान्त मे जाति की उत्पत्ति का सकेत नहीं है।

(2) राजनैतिक उत्पत्ति का सिद्धान्त-ऐसी मान्यता है कि जाति प्रथा की उत्पत्ति ब्राह्मणों ने अपनी प्रभुसत्ता बनाए रखने के लिए की। "जातिप्रथा इण्डो आर्यन सस्कृति के ब्राह्मणो का शिशु है जो गगा और यमुना के मैदान में पला तथा वहाँ से देश के अन्य भागों में ले जाया गया।" (डॉ घूर्ये)। किन्तु वास्तविकता यह है कि ब्राह्मणो ने अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए जातिप्रथा को नहीं वरन् वर्णव्यवस्था को बनाया। वे आर्य जाति के सिरमौर बने अनार्य जाति के नहीं। उन्होंने अनार्यों को "दस्यु" कहा है "अपना दास" नहीं। फिर भी इतना अवश्य माना जा सकता है कि वर्णव्यवस्था के प्रतिपादको ने "दस्यु अनार्यों" को वर्णव्यवस्था से बाहर रख कर उनको एक पृथक् जाति के रूप में मूक मान्यता दे दी।

(3) आर्थिक सिद्धान्त-इसके अनुसार आर्थिक सघो तथा श्रेणियो द्वारा जाति की उत्पत्ति हुई है। किन्तु इसे भी समुचित एव युक्तिसगत इसलिए नहीं माना जाता कि

आर्थिक सघ तो विश्व के अन्य भागो में भी थे, फिर भारत मे ही जाति व्यवस्था की उत्पत्ति क्यो हुई ?

(4) व्यावसायिक सिद्धान्त–कुछ विचारको का कथन है कि जाति-प्रथा की उत्पत्ति का कारण व्यावसायिक कार्य हैं। ऊँच नीच का भेदभाव व्यवसाय के ऊपर निर्भर करता है। अत उच्च व्यवसाय करने वालो ने अपने को ऊँचा माना तथा दूसरो को नीचा और इस भेदभाव ने जाति-व्यवस्था को जन्म दिया। किन्तु यह विचार भी हमे पूर्णरूप से सन्तुष्ट करने में असमर्थ रहता है, क्योंकि यदि इस सिद्धान्त को समुचित मान लिया जाये, तो भी यह समस्या बनी ही रहती है कि तब विभिन्न व्यवसायो को करने वाले वर्ण किस प्रकार आर्य जाति के अग हो गए ?

(5) प्रजातीय सिद्धान्त–रिजले महोदय के अनुसार जाति की उत्पत्ति प्रजातीय भावना और अनुलोम विवाह प्रथा से हुई है। आर्य जब भारत मे आए, तब वे अपने को यहाँ के निवासियो से उच्च और श्रेष्ठ मानते थे। इसके साथ ही उन्होंने यहाँ की लडकियो से अनुलोम विवाह भी प्रारम्भ किए। परिणामस्वरूप कालान्तर मे विभिन्न जातियाँ उत्पन्न हो गईं जो प्रजातीय और सास्कृतिक विभिन्नताओ पर आधारित थीं। परन्तु इस सिद्धान्त की भी आलोचना की गई है।

(6) धार्मिक सिद्धान्त–इस सिद्धान्त के अनुसार जाति प्रथा की उत्पत्ति एक ही देवता की उपासना, समान धर्म में आस्था एक जैसे धार्मिक कृत्य करने वालो के पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्धा द्वारा हुई है। किन्तु इसे अगीकार कर लेने पर जाति और गोत्र के सम्बन्ध में भ्रम उत्पन्न होता है।

(7) आकर्षण शक्ति का सिद्धान्त–इसे "माना सिद्धान्त" भी कहा जाता है। "माना" एक प्रकार की आकर्षण शक्ति है जो एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति पर गहरा प्रभाव डालती है। हट्टन महोदय का विचार है कि आर्यों ने अपने को "माना" के प्रभाव से बचाने के लिए अनेक प्रतिबन्ध लगा दिए तथा अपने सदस्यो को भारत के आदिम निवासियो से पृथक् कर दिया और यहीं से जातिप्रथा का प्रारम्भ हुआ।

जातिप्रथा की उत्पत्ति से सम्बन्धित इन उपर्युक्त सभी सिद्धान्तो के वर्णन एव समालोचना से यह निष्कर्ष निकलता है कि जातिप्रथा की उत्पत्ति के विषय में किसी एक सर्वसम्मत सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है।

जातिप्रथा का विकास–वैदिक युग में जातिप्रथा की स्थिति बडी स्पष्ट थी। एक आर्य जाति थी और दूसरी अनार्य जाति। आर्यों के मध्य कार्य विभाजन करने के लिए वर्णव्यवस्था का नियमन किया गया। यह निर्धारण विशुद्ध रूप से रग के आधार पर नहीं था क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तो एक ही रग के थे। वर्णव्यवस्था का मुख्य आधार कार्यक्षमता तथा कुशलता ही था। अनार्य वर्णव्यवस्था के बाहर थे। इनसे पहली ही दृष्टि में आर्य घृणा करने लगे थे अत उन्होंने अनार्यों को अपने से अलगाव देने के लिए उन्हे अलग जाति का कहा। इस प्रकार जाति प्रथा का विकास आर्य तथा अनार्य जाति से प्रारम्भ हुआ। आर्यों के चारो वर्ण एक आर्यजाति के थे। भले ही शूद्र अपवित्र माने गए किन्तु आर्यों ने उन्हे अपनी वर्णव्यवस्था में स्थान तो दिया। अनेक शूद्रो ने कर्म द्वारा ब्राह्मणत्व भी प्राप्त किया था। बाद में जब जनसख्या बढी और वर्णों को पहचानना कठिन होने लगा, तो अपनी श्रेष्ठता या अस्तित्व बनाए रखने के लिए प्रत्येक वर्ण अपने को "जाति" मान बैठा।

यद्यपि कृषि, पशुपालन और व्यापार आर्यों के प्रधान कर्म थे, किन्तु उनके विस्तार के साथ-साथ अनेक उद्योग-धन्धों का भी विकास हुआ और इनमे लगे रहने के कारण अनेक वर्गों का भी उदय हुआ। इनमे भी कुछ व्यवसाय वाले उच्च थे तथा अन्य निम्न। उच्च व्यवसाय करने वाले वैश्य के अन्तर्गत हो गए और दूसरे निम्न श्रेणी के अन्तर्गत, जिनको अस्पृश्य माना जाने लगा। वैदिक युग में ही ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चार श्रेणियों के अतिरिक्त अनेक व्यवसायपरक जातियाँ उत्पन्न हो चुकी थीं, जैसे-चर्मन, चर्मकार, कापीर, लोहार, तष्टा, बढई, वसा, नापित, भिषक आदि। ये पृथक्-पृथक् व्यावसायिक समूह विभिन्न सामाजिक वर्ग के रूप मे विकसित हुए, जिन्हें आदिकालीन सामाजिक व्यवस्था में शूद्र के अन्तर्गत माना गया। अतः उस समाज में ही विभिन्न प्रकार के व्यवसायी और शिल्पी प्रकाश में आ चुके थे, जो कालान्तर मे पृथक् इकाई के रूप में आर्थिक जीवन को वृद्धि प्रदान कर रहे थे। उत्तर वैदिककाल में यह परम्परा और अधिक विकसित हुई। रथकार, सूत, कर्मार, रज्जुसर्ग, मणिकार, सुराकार, निषाद, श्वनि (श्वान-रक्षक) आदि अनेक व्यवसाय-प्रधान वर्गों का उल्लेख उत्तर वैदिक ग्रन्थो में हुआ है। इस प्रकार पेशे अथवा व्यवसाय क्रमशः पैतृक होते गए, जिससे समाज में अनेक ज्यातियाँ बन गईं।

तन्तुवाय, कुम्भकार, तक्षक (बढई) जैसी शिल्पप्रधान जातियाँ बौद्धयुग में भी थीं। कौटिल्य ने पेशे के आधार पर जातियों की सख्या छः बताई है-(1) दार्शनिक, (2) व्यापारी, (3) योद्धा, (4) शिकारी, (5) पर्यवेक्षक, और (6) परामर्शदाता। लोगों का मनोरजन करने वाली तथा भ्रमणशील नट, मायाकार, सपेरे, गन्धर्व (गाने बजाने वाले), भेरीवादक आदि अव्यवस्थित एव असगठित जातियाँ एक-दूसरे स्थान पर जा कर अनेक करतब दिखाती हुई अपना जीवन यापन करने लगी थीं।

जातियो के प्रकार—गुणो के आधार पर उन्नत और विकसित होने वाली जातियों के ये सात प्रकार माने गए हैं-

(1) जनजाति—अपने विशिष्ट गुणा से समाविष्ट ये जनजातियाँ भारत में सदा से रही हैं। हिन्दू समाज के सम्पर्क में आकर ये उसी का अंग बन गईं। ये जनजातियाँ या आदिम जातियाँ प्रायः निम्न वर्ण में ग्रहण की गई थीं। इनकी सत्ता आर्यों के आगमन के पूर्व थी, जिनको बाद में शूद्रों की श्रेणियों में ले लिया गया।

(2) व्यवसायपरक जातियाँ—वास्तव में वर्णव्यवस्था का आधार व्यवसाय ही था। इसके आधार पर रथकार, चर्मकार, कर्मार (लुहार), मणिकार सुराकार जैसी अनेक जातियाँ व उपजातियाँ बन गईं।

(3) सम्प्रदाय आश्रित जाति—किसी देवता विशेष के प्रति श्रद्धा और आस्था रखने के कारण भी उसके अनुयायियो की एक जाति बन जाती है। शैव धर्म के लिगायत सम्प्रदाय की अनुयायी जाति "लिगराज" जाति के रूप में विकसित हुई जो बम्बई में एक जाति के रूप में है (डॉ जयशकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास)।

(4) वर्णसकर जाति—यह अन्तर्जातीय विवाह से उत्पन्न सन्तान मानी जाती है, जिसे माता-पिता में से किसी भी वर्ण या जाति प्राप्त नहीं हो सकी। धर्मशास्त्रकारों ने इन मिश्रित या सकर जातियों का उल्लेख किया है, जैसे-निषाद, मगध, सूत, आभीर, चाण्डाल आदि। वस्तुत चार मूल वर्णों के मध्य तथा प्रत्येक वर्ण में ही किए गए अनलोम

(उचित) तथा प्रतिलोम (अनुचित) विवाहों के परिणामस्वरूप अनेक सकर (मिश्रित) जातियाँ बन गई थीं।

(5) राष्ट्रीय भावना से बनी जाति–ऐसी जाति का मूल आधार राष्ट्रीय हित होता है। मरहठा जाति इसी राष्ट्रीय भावना से बनी थी, जो महान् मुगल साम्राज्य के विरुद्ध संगठित होकर नवीन जाति के रूप में उद्‌भूत हुई।

(6) प्रादेशिकता से बनी जाति–बहुधा मनुष्य आजीविका के लिए दूसरे स्थान पर जाकर बस जाते रहे हैं और वहाँ के अनुरूप अपना आचार, विचार व्यवहार और आदत बना लेते हैं। फलस्वरूप दूसरे प्रदेश की प्रथा, परम्परा का पालन करते हुए वहाँ की स्त्रियों से विवाह करके नई जाति का उदय करते थे।

(7) रीति-रिवाज से बनी जाति–विभिन्न रीति-रिवाज तथा आचार-विचार से भी जाति बन जाती है, जैसे-जाट और राजपूत।

जाति व वर्ण में अन्तर–प्राय लोग जाति और वर्ण का प्रयोग समान अर्थ मे करते हैं, किन्तु यह उपयुक्त नहीं है। जाति का आधार जन्म और वर्ण का गुण तथा कर्म है। जाति ही आज सामाजिक व्यवस्था की वास्तविक इकाई है। वर्णों मे अनेकानेक जातियाँ हैं। ये दोनो पृथक् सस्थाएँ भिन्न सामाजिक आदर्शों से आबद्ध हैं। वास्तव में जाति और वर्ण दो धारणाएँ हैं। वर्ण समाज के चार वर्ग थे जिनमें गतिशीलता थी अर्थात् क्षत्रिय ब्राह्मण हो सकते थे। कर्म का विशेष महत्त्व था। कर्मों के बदलने पर वर्ण बदल जाया करते थे, परन्तु जाति में परिवर्तन सम्भव नहीं, क्योंकि यह जन्मजात है।

वर्ण निश्चित रूप से आधुनिक सन्दर्भ में जाति नहीं है। यह तो जातियो का समूह है। इससे स्पष्ट है कि वर्ण ही जाति का आधार है। यही कारण है कि वर्ण जाति न हो कर भारतीय सस्कृति की एक आदर्श सरचना थी। जाति तो समाज की गत्यात्मकता का परिणाम थी। वर्ण केवल चार हैं, जबकि आज के युग में भारत मे लगभग तीन हजार जातियाँ हैं। इस प्रकार वर्ण सामाजिक सरचना का वास्तविक चित्रण नहीं है। इसके अतिरिक्त वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत अछूतों को स्थान प्राप्त नहीं है, जबकि हिन्दू समाज की जाति सरचना के वे अग हैं। वर्ण के अन्तर्गत 'शूद्र' का प्रयोग लचीला है क्योंकि शूद्रो के एक सिरे पर धनी, शक्तिशाली एव सम्पन्न वर्ग है और दूसरे सिरे पर आदिम जातियाँ हैं।

वर्ण एक जाति नहीं हो सकता, क्योंकि समस्त भारत के ब्राह्मण भी अन्तर्विवाही नहीं हैं। वर्ण के अनुसार जाति को जिस प्रतिष्ठाक्रम में रखा जाता है, वस्तुत व्यावहारिक रूप मे वह भिन्न पाया जाता है। जाति प्रतिष्ठा क्रम में परिवर्तन सम्भव होता आया है, परन्तु वर्ण की सरचना में प्रतिष्ठाक्रम सार्वकालिक रूप से स्थिर कर दिया गया है। वर्णव्यवस्था में प्रतिष्ठाक्रम धार्मिक दृष्टिकोण से रखा गया है। वर्णव्यवस्था के अनुरूप जाति-व्यवस्था की व्याख्या गलत और भ्रामक रही है तथापि वर्णव्यवस्था ने सम्पूर्ण भारत को एक सामान्य सामाजिक भाषा दी है, जिससे एकता की भावना की वृद्धि में सहायता मिली है।

वर्णव्यवस्था और जाति व्यवस्था को एक नहीं कहा जा सकता। निस्सन्देह वर्णव्यवस्था हिन्दू समाज की सरचना का आदर्श रही है, जबकि जाति व्यवस्था कालान्तर में विकसित उसका व्यावहारिक पक्ष है। इन दोनों के अन्तर को हम अग्रस्थ छ बिन्दुओ पर अभिव्यक्त कर सकते हैं-

जाति

(1) जाति जन्ममूलक है ।
(2) जाति का निर्धारण जन्म के आधार पर होता है ।
(3) जाति व्यवस्था कठोर होती है ।
(4) जातियो की सख्या लगभग 3 हजार है ।
(5) जातियों में उपजातिया भी होती हैं ।
(6) जातिप्रथा अन्तर्राष्ट्रीय है ।

वर्ण

(1) वर्ण गुण व कर्म मूलक है ।
(2) वर्ण का निर्धारण गुण व कर्तव्य के आधार पर होता है ।
(3) वर्णव्यवस्था में लचीलापन होता है ।
(4) वर्ण केवल 4 हैं ।
(5) वर्णव्यवस्था में उपवर्णों जैसी कोई चीज नहीं है ।
(6) वर्णव्यवस्था केवल भारत में सीमित है ।

वर्तमान सन्दर्भ मे मूल्याकन–"वर्णव्यवस्था और जाति भारत को "आत्म सस्कृति" को प्रधान विशेषता रही है । एक सुप्रसिद्ध विवेचक के अनुसार, यह हिन्दू धर्म का सबसे विशिष्ट और उसमे एकता लाने वाला गुण है । इस समय भारत भर में हिन्दू सैकडो जातियों और उपजातियो मे बँटे हुए हैं । जातिपाति के इस भेद के विषय में, जो भारतीय सामाजिक जीवन की बडी विशेषता है, बहुत भ्रम भी पाया जाता है । इसका सम्बन्ध मुख्यतया व्यक्ति के निजी घरेलू और धार्मिक जीवन से है, सार्वजनिक जीवन से नहीं । इसमें दो भिन्न भिन्न जातियो के परस्पर रोटी-बेटी के सम्बन्ध का निषेध है अर्थात् सन्ततिशास्त्र के आधार पर ही दो भिन्न जातियो के व्यक्ति आपस में विवाह सम्बन्ध नहीं कर सकते और न एक ही थाली में बैठकर भोजन कर सकते हैं अथवा अशुद्ध हाथों से छुआ हुआ भोजन नहीं कर सकते हैं । भोजन व्यक्ति का निजी कर्म है । यह उतना ही पवित्र है, जितना ईश्वर को सम्बोधित करके किया हुआ सन्ध्या कर्म । पर यह स्मरण रखना चाहिए कि जातिपाति का भेद हिन्दू धर्म का एक अग मात्र है ।"

(हिन्दू सभ्यता, डॉ मुकर्जी)

गाधीजो के अनुसार, वर्णव्यवस्था का दर्शन कुछ प्राकृतिक नियम ही है । यह एक सहज ही क्रियाशील तथा स्वाभाविक व्यवस्था है, जिसका उद्देश्य उचित व्यक्ति को उचित पेशे में लगाए रखना है क्योंकि सभी व्यक्ति शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से समान नहीं होते । वर्ण के नियम का यह अर्थ है कि धार्मिक कर्त्तव्य के रूप में प्रत्येक व्यक्ति अपने पूर्वजो के वशानुगत पेशो को अपनायेगा, जहाँ तक कि वह मौलिक नैतिकता के नियम के विरुद्ध नहीं है । वह अपनी आजीविका का उपार्जन उसी पेशे के द्वारा करेगा । इससे वह सम्पत्ति भले ही न जोड पाए, परन्तु अपनी न्यायोचित आवश्यकताओ की पूर्ति के बाद उसके पास जो भी धन शेष रह जायेगा, उसे जन कल्याण के लिए व्यय करेगा ।

परन्तु आज स्थिति नितान्त भिन्न है । धीरे-धीरे वर्ण और जाति समानान्तर हो गए और जाति व्यवस्था में जो दोष आए, उनका समाज पर विपरीत प्रभाव पडा । लोगो ने इस व्यवस्था के विरुद्ध आवाज उठाई क्योंकि इसी ने हिन्दू समाज को ऐसे पृथक्-पृथक्

टुकड़ों में विभाजित कर दिया, जो एक-दूसरे को सीधी आँख नहीं देखते। छुआछूत तथा ऊँच-नीच की भावना इतनी उग्र हो गई है कि डॉ अम्बेडकर ने तो शूद्रों का हिन्दू जाति से अलग ही घोषित कर दिया। द्रविड़ मुनेत्र कड़गम अन्दोलन जातिगत साम्प्रदायिक भावना का ही उग्र रूप था। आधुनिक परिवर्तनों का भी इस पर प्रभाव पड़ा। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप जातिगत उद्योग-धन्धों का कोई स्थान न रहा। कारखाना में किसी भी जाति का व्यक्ति मशीनों पर कार्य कर सकता था।

पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित नवयुवक जातीय संकीर्णता तथा कट्टरता से घृणा करने लगे तथा जाति बन्धन ढीले होने लगे। शासन की जनतन्त्र प्रणाली व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा समानता पर जोर देती है। हमारे देश के नेताओं ने जातिगत संकीर्णता छुआछूत एवं कट्टरता के विरुद्ध आवाज उठाई। छुआछूत तो स्वतन्त्रता के बाद विधिवत् बन्द कर दी गई। यातायात के द्रुत साधनों के कारण भारतवासी पश्चिमी देशों की जनता के सम्पर्क में आए। वहाँ जाति व्यवस्था जैसी कोई चीज नहीं थी। अतः यहाँ भी लोग जाति के नियमों की परवाह न कर एक-दूसरे देश के लोगों से मिलने लगे। आधुनिक समाज भी जातिप्रथा को उपयोगी नहीं समझता। शिक्षित वर्ग की भावना जातिप्रथा के विरुद्ध हो चुकी है। जातिगत व्यवसाय, सजातीय विवाह, खान पान तथा यात्रा प्रतिबन्ध टूट चुके हैं तथा ऊँच-नीच व छुआछूत की भावना समाप्त होती जा रही है। प्राचीन वर्णव्यवस्था का रूप योग्यता के अनुसार व्यवसाय अपनाने की स्वतन्त्रता तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता व समानता को प्रतिपादित करता है। अतः वह आधुनिक समाज को अंगीकार हो सकती है।

समाज अब इतना आगे बढ़ गया है कि किसी प्रकार का रूढ़िगत बन्धन स्वीकार नहीं कर सकता। प्राचीन वर्णव्यवस्था की भाँति वर्णव्यवस्था तो सभी देशों में किसी न किसी रूप में विद्यमान है। हिन्दू समाज में जहाँ जाति व्यवस्था की जड़ें इतनी गहरी हैं कि युग-युग के सुधारवादी प्रयत्नों के बावजूद समाप्त नहीं हुई। यह कल्पना नहीं की जा सकती कि जाति व्यवस्था समूल नष्ट हो जाएगी। वैसे नवीन चेतना विकृत जाति व्यवस्था के स्थान पर अनजाने ही स्वतन्त्रता व समानता पर आधारित वर्णव्यवस्था को स्थापित कर रही है। इस प्रकार की व्यवस्था की आवश्यकता इसलिए भी है कि इससे वर्णों के अन्तर्गत अनुशासन रहेगा तथा निकट का सम्पर्क स्थापित होने का अवसर प्राप्त होगा। पृथक्-पृथक् वर्ण समाज रूपी शरीर के अभिन्न अंग बनकर व्यवस्था की स्थापना करेंगे। संसार में ऐसा कोई समाज दिखाई नहीं देता, जहाँ किसी न किसी प्रकार के उप समूहों की स्थापना न हुई हो। यह प्राकृतिक है। तब हिन्दू समाज को प्रगतिशील वर्णव्यवस्था से अधिक उपयोगी व मान्य और कौनसी व्यवस्था मिलेगी यदि समाज को फिर से जंगली अवस्था से न फेंकना हो।

अध्याय 4

आश्रम व्यवस्था, ऋण एवं यज्ञ

प्राचीन भरत में आश्रम व्यवस्था को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। प्रत्येक देश को सभ्यता और संस्कृति में कुछ मूलभूत आधार रहते हैं, जिनके कारण उसकी विशिष्टता अपना पृथक् महत्त्व रखती है। भारतीय संस्कृति का प्रमुख स्वरूप वर्ण और आश्रम व्यवस्था है। ये दोनों व्यवस्थाएँ विज्ञानसिद्ध हैं। "आश्रम व्यवस्था अपने-अपने कर्त्तव्यों और अधिकारों के विभेदों द्वारा सामाजिक संघर्षों में अभाव तथा वैयक्तिक उन्नति को अबाध गति द्वारा निरन्तर चलाते रहने में न केवल समाज को अपितु राष्ट्र को भी पूर्ण सहयोग देती हुई, विश्व में शान्ति स्थापित व असीम सुख का उपभोग कराने वाली एकमात्र सुन्दर व्यवस्था है।" इस व्यवस्था की नियोजना मनुष्य के जीवन को सुसगठित तथा सुव्यवस्थित करने के लिए की गई थी। इस योजना द्वारा जीवन का इस प्रकार गति देने का प्रयत्न किया कि जिससे व्यक्ति को अपने आप इस विश्व में अपने लिए मार्ग न ढूँढना पड़े। वर्णाश्रम की अभियाजना व्यक्ति में दैवीय गुणों का आरोप कर उसे सामाजिक जीवन में सहयोग एव व्यक्तिगत जीवन में आत्मिक उन्नति का मार्ग दर्शाती थी।

भारतीय जीवन दर्शन में आश्रम व्यवस्था का स्थान–भारतीय चिन्तन के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक क्षण किसी न किसी प्रकार की क्रिया करता रहता है। भगवद् गीता में श्रीकृष्ण का कथन है कि–

> "न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
> कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥" (3.5)

अर्थात् कोई भी पुरुष किसी काल में क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता है, निस्सन्देह सभी पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों द्वारा परवश हुए कर्म करते हैं। कर्म शुभ व अशुभ के भेद से दो प्रकार के होते हैं। परिणाम में सुख देने वाले शुभ तथा दु ख देने वाले अशुभ कर्म होते हैं। इस प्रकार मनुष्य की क्रिया के सम्बन्ध मे किसी प्रकार का भ्रम नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति में क्रिया दो बातों से निश्चित होती है-पूर्वजन्म के कर्म एव इस जन्म के सस्कार। आश्रम व्यवस्था इस जन्म के सस्कारा के निर्माण एव व्यक्तिगत तथा सामाजिक क्रियाओं के नियोजन का प्रयत्न है। वर्ण का महत्त्व पूर्वजन्म के सस्कारा या कर्मों को इस जन्म के कर्मों से सयुक्त करने का है। यही कारण है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण के व्यक्तिया के लिए अलग-अलग ढग से आश्रमा मे प्रवेश एव कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विधान किया गया। आश्रम व्यवस्था प्राचीन भारतीय चिन्तन के अद्वितीय ज्ञान और प्रज्ञा की भी प्रतीक है। वस्तुत जीवन की वास्तविकता का ध्यान मे

रखते हुए, कर्तव्य और आध्यात्म के आधार पर मानव जीवन को ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रमो में विभाजित किया गया। इसका सर्वोपरि और अन्तिम उद्देश्य मोक्ष माना गया। अन्य शब्दो में आश्रम व्यवस्था द्वारा आदर्शात्मक आध्यात्मिक मार्ग का अनुसरण करते हुए मोक्ष प्राप्ति की अभियोजना प्रस्तावित की गई।

आर्यों द्वारा जीवन के मर्म को भली भाति समझ कर ही इस व्यवस्था को विकसित किया गया था। हमारे समाज मे व्यक्ति का प्रमुख ध्येय धर्म का प्राप्ति है जिसके द्वारा वह मोक्ष प्राप्त करता है। मनुष्य अपने धर्म की यथोचित प्राप्ति कर सके तथा जीवन के जजाल में फसने से बच सके, इसके लिए व्यक्ति के जीवन को चार भागो में विभाजित किया गया है। यही विभाजन आश्रम धर्म है। इस व्यवस्था के द्वारा व्यक्ति अर्थ और काम के सहारे अपने उद्देश्य या साध्य धर्म की प्राप्ति करता है। भौतिक इच्छाओ तथा आध्यात्मिक लक्ष्य के समन्वय को पुरषार्थ कहा गया है और पुरषार्थ के सिद्धान्त को आश्रम व्यवस्था में व्यक्त किया गया है। इसके द्वारा मनुष्य अर्थ और काम का उपभोग करते हुए धर्म एव मोक्ष को प्राप्ति कर सकता है। "पुरषार्थ के सिद्धान्त की वास्तविक अभिव्यक्ति आश्रमो की हिन्दू योजना मे की गई।"

आश्रम का अर्थ—आश्रम शब्द में 'श्रम्' धातु है जिसका अर्थ परिश्रम करना है। "आश्राम्यन्ति अस्मिन् इति आश्रम " अर्थात् जिसमे रह कर अथवा ज्हाँ रहकर मनुष्य श्रम करता है, उसे आश्रम कहते हैं। अत आश्रम से अभिप्राय जीवन के ऐसे स्तरा से है जहाँ क्रमश मनुष्य परिश्रम करता रहता है। प्रत्येक भारतीय जीवन के विभिन्न स्थलो को कर्मभूमि स्वीकार करता है। आश्रम का शब्दार्थ विश्राम का स्थान है। अत यह शब्द घर कुटी आदि का पर्याय भी है। आश्रम का अर्थ उद्योग एव प्रयत्न से भी है। प्रत्येक आश्रम की अपनी अलग स्थिति है तथा प्रत्येक आश्रम मे व्यक्ति तत्सम्बन्धित कार्य करता है। यह कार्य ही उसका श्रम है। अत आश्रम मे प्रयत्न की क्रिया भी समाविष्ट है। प्रत्येक व्यक्ति अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन जितनी श्रेष्ठता से करेगा उतना ही वह श्रेष्ठतर होता चला जायेगा। व्यक्तिगत जीवन को श्रेष्ठतर एव उचित क्रम से विकसित करने के लिए आश्रम धर्म का महत्त्वपूर्ण बताया गया है। प्रत्येक आश्रम मे व्यक्ति अपने जीवन के आवश्यक कर्त्तव्यो को पूरा करता हुआ अपने उच्चतर लक्ष्य की ओर बढता है।"

प्रत्येक व्यक्ति की जीवनयात्रा में कुछ निश्चित सोपान बने होते हैं जहाँ उसे एक निश्चित प्रकार का कार्य करना पडता है। यहा एक प्रकार के कार्य करने की एक नियत अवधि होती है जिससे इसी जीवनयात्रा में प्रत्येक प्रकार के कार्य करता हुआ वह व्यक्ति मानव जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के योग्य बन जाता है। महाभारत के अनुसार जीवन के चार विश्राम-स्थल या आश्रम को चार सारणियो वाला एक सीढी समझना चाहिए। यह सीढी ब्रह्म के पास पहुँचने के लिए है। व्यक्ति इसके द्वारा ब्रह्म के साम्राज्य मे पहुँच जाता है अर्थात् वह मुक्ति को प्राप्त करता है। यही प्रत्येक भारतीय के जीवन की चरम कामना होती है। साहित्यिक दृष्टिकोण से आश्रम शब्द विश्रामस्थल या पडाव को सूचित करता है जहाँ व्यक्ति कुछ समय के लिए रुक जाता है। उसका यह अवरोध जीवनयात्रा की थकान को दूर करने के लिए या आगामी यात्रा के निमित्त अपने को तैयार करने के लिए है। अत आश्रमो को जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के लिए मानव द्वारा की जाने वाली जीवनयात्रा के मध्य का विश्रामस्थल मानना चाहिए।

मनु के अनुसार मनुष्य परमगति को प्राप्त करने के लिए ही अपने जीवन को चार आश्रमों में बिताता है।

आश्रम व्यवस्था का आधार–हिन्दू विचारको ने मानव जीवन को समग्रतापूर्वक व्यवस्थित रूप प्रदान करने के लिए उसे आश्रमों के अन्तर्गत विभाजित किया है। लौकिक और पारलौकिक दोनो जीवनो की महत्ता होते हुए भी वे पारलौकिक जीवन को अधिक महत्त्व देते थे। उनके विचारो का यह आधार क्रियात्मक और वास्तविक जीवन से सम्बद्ध था। उन्होंने अत्यन्त मनोयोगपूर्वक मानव की कार्यपद्धतियों का समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक अध्ययन करके जीवन के मूलभूत कर्त्तव्यो का विभाजन किया था। उनके विचार-दर्शन के अनुसार जीवन मे कर्त्तव्यपरायणता, बौद्धिकता, धार्मिकता और आध्यात्मिकता का योग था। इसलिए उन्होने समष्टिरूप जीवन की व्याख्या की। उन्होंने जीवन का लक्ष्य जीना ही नहीं, अपितु आदर्शात्मिक, आध्यात्मिक मार्ग का अनुसरण करते हुए मोक्ष की ओर प्रवृत्त होना भी माना है। मनुष्य का सात्विक और शुद्धाचरित जीवन उसके व्यक्तित्व का निर्माण करता है तथा उसकी आध्यात्मिक प्रगति में सहायक होता है। इसी दृष्टि से आश्रम व्यवस्था का दर्शन प्राचीन व्यवस्थाकारो के अद्वितीय ज्ञान और प्रज्ञा का प्रतीक है। इसका आधार ज्ञान, कर्त्तव्य और अध्यात्म है।

आश्रम व्यवस्था का आधार पुरुषार्थ की धारणा में निहित है। इसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन मे धर्म, अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि करनी चाहिए। इसी आधार पर जीवन के प्रथम भाग में धर्म का ज्ञान एव अभ्यास सिखाया जाता था। अर्थ एवं काम सामाजिक व्यवस्था के दो आवश्यक अग मानकर प्रत्येक व्यक्ति को गृहस्थाश्रम मे अपने जीवन के द्वितीय काल अर्थात् यौवन में प्रविष्ट होने तथा अर्थार्जन करके अपनी इच्छाओ को धर्म के अनुसार पूरा करने की प्रस्तावना की गई। व्यक्ति की जब शक्ति कम होने लगती है, तब वह अपनी मृत्यु के सम्बन्ध मे विचार करने लगता है और उसमें अपने आप ही वैराग्य की प्रवृत्ति जागने लगती है। इसी मनोविज्ञान के आधार पर जीवन के तृतीय एव चतुर्थ भाग में व्यक्ति को क्रमश अपनी सासारिक इच्छाओं का दमन करके उच्चतम लक्ष्य मोक्ष की ओर अग्रसित करने के लिए वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रमो का विधान किया गया। इन दोनों आश्रमो में व्यक्ति मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता था।

आश्रम व्यवस्था का एक और आधार ऋणो की धारणा थी। व्यक्ति का यदि अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना ही है, तो फिर उसके लिए गृहस्थाश्रम की क्या आवश्यकता है ? यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना शरीर माता-पिता की कृपा से मिलता है अत उसे माता-पिता की सेवा करके तथा पुत्रोत्पत्ति करके पितृऋण से उऋण होना चाहिए। माता-पिता ने उसे मानव शरीर देकर जो ऋण उस पर चढाया है, वह बिना पुत्रोत्पत्ति के मुक्त नहीं हो सकता। अत प्रत्येक व्यक्ति के लिए गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करना आवश्यक माना गया। दूसरा महत्त्वपूर्ण ऋण है ऋषि ऋण। ऋषियो ने आध्यात्मिक सस्कृति तथा सामाजिक व्यवस्था का निर्माण एवं सचालन किया। उनके प्रति व्यक्ति का जो दायित्व है, वह उनकी संस्कृति के अनुरूप जीवन व्यतीत करके, संस्कृति को हस्तान्तरित करके तथा उनको सम्मान और दान देकर चुकता किया जा सकता है। तीसरा महत्त्वपूर्ण ऋण देव

ऋण है । देवताओ की कृपा से हमको यह शरीर प्राप्त हुआ है और उन्हीं के द्वारा पोषित होता है । अत देवताओ को हविष् देना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य हो जाता है । जो व्यक्ति इन तीनों ऋणो से उऋण हो जाता है वह सामाजिक पारिवारिक एव दैविक उद्देश्यों को पूरा कर लेता है । ऋणो की धारणा व्यक्ति को सामाजिक बनाने एव परम्परा की निरन्तरता को बनाए रखने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रमाणित हुई ।

इन सन्दर्भ में यज्ञ की भावना भी महत्वपूर्ण है । यज्ञ शब्द का भाव कर्त्तव्य है, अर्थात् कर्मों को दूसरों के लिए करना । गीता के अनुसार ईश्वर को अर्पण करके कर्म करने का नाम यज्ञ है । इस प्रकार प्रत्येक कर्म यज्ञ की श्रेणी में आ जाता है । उच्चतर लक्ष्य की प्राप्ति यज्ञ के माध्यम से होती है । श्रीकृष्ण का कथन है-

"यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽय कर्मबन्धन ।
तदर्थ कर्म कौन्तेय मुक्तसग समाचर ॥" –(गीता, 3 9)

अर्थात् हे अर्जुन ! बन्धन के भय से कर्मों का त्याग करना उचित नहीं है, क्योंकि यज्ञ विष्णु के निमित्त किये कर्म के सिवाय अन्य कर्म बन्धनकारक होते हैं, अत उस विष्णु की प्रसन्नता के लिए आसक्ति छोड़कर निष्काम भाव से कर्म कर । यज्ञ से मनुष्य की उन्नति मानी गई है । यज्ञो मे 'पच महायज्ञ' महत्वपूर्ण हैं-पितृ ऋषि, देव, भूत और अतिथि यज्ञ । यह स्वीकार किया गया कि इन यज्ञो के करने से व्यक्ति समस्त पापों से धुल कर निर्मल हो जाता है ।

आश्रम व्यवस्था भारतीय जीवन दर्शन की मूल प्रेरणा का भी आधार थी । इस प्रेरणा से मनुष्य का जीवन एक आश्रम से होता हुआ अन्तिम आश्रम तक पहुँचता था तथा कर्मनिष्ठा और सात्विकता से चरम लक्ष्य की प्राप्ति करता था । इस व्यवस्था के माध्यम से प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच समन्वय स्थापित करते हुए इन दोनो को एक-दूसरे का विरोधी नहीं माना वरन् प्रवृत्ति के उपरान्त निवृत्ति प्राप्त करने की बात कही गई ।

जीवन में विविधताएँ एव उतार-चढाव हैं । उसकी गतिशीलता मे जगत् की वास्तविकता तथा जीवन की क्रियाशीलता दोनो का समन्वित प्रवाह है । इसे सुनिश्चित एव सुनियोजित लक्ष्य तक पहुँचा देना ही आश्रम व्यवस्था का उपयुक्त कार्य है । जीवन को उचित क्रमबद्धता सुविचारित व्यवस्था तथा सुनिश्चित धार्मिकता प्रदान करना ही भारतीय जीवन दर्शन का मूल प्रेरक तत्व रहा है । इस प्रकार लौकिक कर्त्तव्यों को सम्पन्न करने के उपरान्त वह पारलौकिक जीवन के प्रति उत्सर्जित होता था । भारतीय चिन्तको ने मानव जीवन को एक सौ वर्ष का मानकर उसके चार भाग किये हैं, जिनको क्रमश ज्ञान प्राप्ति, सासारिक जीवन का उपभोग ससार का परित्याग कर ईश्वर का आराधन तथा अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति के निमित्त तपश्चर्या की ओर प्रवृत्ति कहा जा सकता है ।

आश्रम व्यवस्था का विकास

आश्रम व्यवस्था का उद्भव उत्तर वैदिक युग मे किसी समय हो चुका था । यद्यपि कई आधुनिक विचारकों का मत है कि इसका प्रचलन बुद्ध के पश्चात् अथवा पिटक की रचना के बाद हुआ क्योंकि इन रचनाओ ने इनका उल्लेख नहीं किया है । अपने मत की पुष्टि में ऐसे लेखको का कथन है कि प्राचीन उपनिषदो में चारो आश्रमो के

नाम नहीं मिलते, किन्तु इस मत से सहमत होने मे प्रमुख बाधा यह है कि यद्यपि वैदिक संहिताओ तथा ब्राह्मण ग्रन्थो मे आश्रम व्यवस्था का उल्लेख नहीं है, तथापि इनमें से प्रथम दो आश्रमो, ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ की व्याख्या किसी न किसी रूप मे की गई है। उत्तर वैदिक काल के ग्रन्थो में ब्रह्मचारी शब्द का प्रयोग कई स्थानो पर हुआ है। इसके अतिरिक्त गृहस्थ मुनि तथा यति (सन्यासी) का उल्लेख भी मिलता है। जाबालोपनिषत् में सर्वप्रथम चारो आश्रमो का नामोल्लेख प्राप्त होता है। शतपथ ब्राह्मण में जीवन का चारो आश्रमो में विभाजन मिलता है

"ब्रह्मचर्याश्रम समाप्य गृही भवेत्।
गृहीभूत्वा वनी भवेत् वनीभूत्वा प्रव्रजेत्॥" (शतपथ ब्राह्मण)

बृहदारण्यकोपनिषत् मे याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहते हैं कि वे गृहस्थी से प्रव्रज्या ग्रहण करने जा रहे हैं। याज्ञवल्क्य ने ही जनक को चारों आश्रमो की व्याख्या सुनाई थी। श्वेताश्वतर ने ब्रह्मज्ञान की चर्चा आश्रम नियमो से ऊपर उठ जाने वाले लोगो से की थी। अत स्पष्ट है कि उपनिषद् काल तक आश्रम निर्माण की व्यवस्था निश्चित हो रही थी, जो सूत्रकाल में आकर पूर्ण रूप से व्यवस्थित हो गई। इस समय तक आश्रम के विभिन्न विभागो के नाम तथा उनके नियमो का निर्धारण होता रहा। सूत्रो के युग में ही आश्रमो के पारस्परिक सम्बन्ध और उनकी कर्मगत व्यवस्थाएँ स्थिर हुईं विभिन्न आश्रमो के पृथक् पृथक् नियम बने तथा उनके पालन के लिए विभिन्न मार्गों का निर्देश हुआ।

सूत्रकाल तक आश्रम व्यवस्था प्रतिष्ठित और गठित हो चुकी थी। आश्रमों की सख्या 4 और उनके कर्त्तव्य भी निर्धारित किये जा चुके थे। "नामो और क्रमो के अन्तर होते हुए भी उनका मूल आधार एक ही ज्ञापित किया गया है।" (पी वी काणे)। स्मृतियुग तक आकर आश्रम व्यवस्था का पूर्ण विकास हो चुका था तथा उनके विभिन्न आचारगत नियमो की व्याख्या भी हो चुकी थी। पुराणों में इस व्यवस्था का उद्‌भव ब्रह्मा से मानकर इसे दैवी अभिव्यक्ति दी गई है, ताकि लोगों की रुचि इसे स्वीकार करने में हो। बौधायन के अनुसार प्रहलाद के पुत्र कपिल ने देवताओ की स्पर्धा में इसका प्रजनन किया था। इससे स्पष्ट होता है कि देवताओ की दृष्टि मे आश्रम व्यवस्था जीवन की अत्यन्त उन्नत और विकसित व्यवस्था थी, जिससे जगत् मे उनकी महत्ता और गरिमा स्थापित हुई थी। इस महत्ता की स्पर्द्धा में असुरो ने अपने समाज में आश्रम व्यवस्था प्रारम्भ की। वायु एव ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार, "आश्रमो का चिन्तन समाज के विभिन्न सदस्यो द्वारा निष्ठापूर्वक अपने कर्म सम्पादन करने के लिए किया गया है।" महाराज सगर के राज्य मे आश्रम व्यवस्था का पूर्णत पालन किया जाता था। आश्रमधर्म का पालन करने वालो को पुण्य लोक की प्राप्ति होती थी। अत समाज में इसकी प्रतिष्ठा होकर यह व्यवस्था अविभाज्य अग बन चुकी थी। इसका पालन न करने वाले या निरादर करने वाले यातना के भागी होते थे और उन्हें नरक मिलता था। इस प्रकार आश्रम व्यवस्था का पालन समाज के लोगो के लिए अत्यन्त आवश्यक माना गया था। इसका पालन करने वाला प्रशसनीय था तथा उल्लघन करने वाला निन्दनीय। समाज के समुदायगत, व्यक्तिगत और बुद्धिगत स्तर के सघटन और नियमन म आश्रम व्यवस्था आधारपीठिका रही है।

आश्रम व्यवस्था का वर्गीकरण–जिस प्रकार सामाजिक सगठन और सुव्यवस्था के लिए वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत पूरा समाज विभाजित किया गया था, उसी प्रकार व्यक्तिगत जीवन को समुन्नत करने के लिए जीवन-यात्रा के सम्पूर्ण काल को चार स्तरों या आश्रमों में विभाजित कर दिया गया था। प्रारम्भ में आश्रमों की सख्या तीन थी-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ। वानप्रस्थ और सन्यास को एक ही आश्रम के अन्तर्गत रखा गया था, क्योंकि दोनों का आधार आध्यात्म था और लक्ष्य सत्य की खोज। व्यक्ति को सन्यास में जो कुछ भी करना होता था उसी की तैयारी वह वानप्रस्थ आश्रम मे करता था। मनुष्य त्याग, तपस्या और ध्यान का जो जीवन बिताता था, वह उचित रूप में जीवन के अनुरूप था। सम्भवत इसीलिए दोनों में भेद करना उचित नहीं समझा गया।

छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार धर्म के तीन स्कन्ध (आधार स्तम्भ) हैं-यज्ञ, अध्ययन और दान। प्रथम स्कन्ध में तप, द्वितीय मे ब्रह्मचारी का आचार्यकुल में निवास और तृतीय मे अपने शरीर को क्षीण कर देना है। इनसे पुण्यलोक की प्राप्ति होकर ब्रह्मसस्थ अमरत्व प्राप्त होता है-

"त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययन दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्य-कुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन् सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसस्थो ऽ मृतत्वमेति।" (छान्दोग्य 2 23 1)

मनु ने भी एक स्थान पर "त्रय आश्रमा" (2.230) अर्थात् तीन आश्रमो का उल्लेख किया है। बाद में उसने एक सौ वर्ष के चार आश्रमो को पच्चीस-पच्चीस के चार भागों में बाटा है। शास्त्रकारो ने निम्न चार आश्रमो की चर्चा की है-

(1) ब्रह्मचर्य,
(2) गृहस्थ
(3) वानप्रस्थ और
(4) परिव्राजक (यति)

आश्रम व्यवस्था का मूल आधार सामाजिक व्यवस्था रही है। वानप्रस्थ और सन्यास सामाजिक सम्बन्धो को त्यागने और छोड़ने का क्रम माना गया है। ससार और समाज से विरत होकर अलग हो जाना सन्यासी के लिए अत्यन्त आवश्यक था। उसका जीवन ही त्यागमय था। उसे सामाजिक और सासारिक रीति-रिवाजो तथा आचार विचार में कोई आस्था नहीं थी। इस रूप में वह समाज का सदस्य नहीं था। ऐसी स्थिति मे उत्तर वैदिक काल के समाज में सन्यास आश्रम को पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया गया था। ब्रह्मचर्य गृहस्थ व वानप्रस्थ को ही सामाजिक व्यवस्था में सम्मिलित किया गया था। वस्तुत वानप्रस्थ सन्यास का ही प्रारम्भिक रूप था, जिसके अन्तर्गत व्यक्ति अध्यात्म को अपना कर धार्मिक कृत्य सम्पन्न करता था। कालान्तर मे सन्यास नामक चौथा आश्रम निर्मित होने पर, जब व्यक्ति सन्यासी बनता था तब वह समाज और ससार से पूर्णत विच्छिन्न हो जाता था।

अनुशासन व्यवस्था का ही दूसरा रूप आश्रम व्यवस्था–आश्रमो की नियोजना में व्यवस्थित जीवन का अधिक महत्त्व था। अव्यवस्थित जीवन से आश्रम का विकास नहीं हो सकता था और न ही कोई आदर्श उपस्थित हो सकता था। इसलिए

शास्त्रकारों ने व्यवस्थित जीवन का पालन करने के लिए निर्देश दिये हैं। ब्रह्मचर्य मनुष्य के प्रारम्भ का ऐसा जीवन था जो उचित और निश्चित मार्गदर्शन के अभाव में भटक कर अपना बौद्धिक और शैक्षणिक उत्कर्ष नहीं कर पा सकता था। ब्रह्मचारी के लिए सही मार्ग का अवलोकन उस निश्चित व्यवस्था से ही सम्भव था जो उसके निमित्त धर्म शास्त्रकारों द्वारा निर्दिष्ट की गई थी। इसी प्रकार गृहस्थ के लिए भी गार्हस्थ्य जीवन के नियमों और व्यवस्थाओ का अनुपालन करना वाछनीय था। सुखी और समृद्ध गृहस्थ जीवन व्यवस्थित निर्देशो का पालन करने पर ही कहा जा सकता था। परिवार के प्रति विभिन्न कर्त्तव्यो और उत्तरदायित्वो का निर्वाह ही समुचित गृहस्थ जीवन का लक्षण था। सन्तानोत्पत्ति के साथ विभिन्न यज्ञ सम्पन्न करना एक गृहस्थ के लिए अनिवार्य था। वानप्रस्थ आश्रम त्याग निर्लिप्तता योग और तपश्चर्या का जीवन था। इस आश्रम मे मनुष्य इन्द्रिय निग्रह अपना कर मोह ममता से दूर विरक्ति का जीवन जीता था। त्यागमय तथा सयमयुक्त मनुष्य का यह आश्रम उसे सन्यास की ओर ले जाता था जहाँ उसे सन्यास का कठोर और सयमित जीवन व्यतीत करना होता था। यही सन्यासाश्रम मनुष्य को मोक्ष प्राप्ति की ओर उत्प्रेरित करता था। इस प्रकार चारों आश्रमो में अनुशासन व्यवस्था का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था।

पुरुषार्थ से सम्बन्ध तथा आश्रमो की आयु—पुरुषार्थ और आश्रम का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की अभिव्यक्ति आश्रम में होती रही है। चारों आश्रमो का निष्ठापूर्वक निष्पादन व्यक्ति के उत्कर्ष का मूल आधार था। आश्रम के मार्ग पर जीवन सहज और सरल ढग से गतिमान होता था तथा अपने को व्यवस्थित करता था। जीवन के आधारस्तम्भ इन पुरुषार्थों के आधार पर मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण होता था जिनकी सफलता आश्रम पर ही निर्भर करती थी। ब्रह्मचर्याश्रम के माध्यम से व्यक्ति धर्म के तत्त्व को समझने और गुनने मे समर्थ होता था। अर्थ और काम नामक पुरुषार्थ गृहस्थाश्रम के माध्यम से सम्पन्न किए जाते थे। इसी आश्रम में रह कर व्यक्ति अर्थोपार्जन तथा कामोपभोग करता था। सन्तानोत्पत्ति काम की पूर्णता की परिचायक थी। सन्यास आश्रम के अन्तर्गत मोक्ष नामक पुरुषार्थ की नियोजना की जाती थी। सन्यासी का अन्तिम लक्ष्य मोक्षप्राप्ति ही था। इस प्रकार पुरुषार्थों की चरितार्थता आश्रमो पर ही निर्भर करती थी।

किस आयु मे एक व्यक्ति को भिन्न भिन्न आश्रमो मे प्रवेश करना चाहिए और जीवन का कितना समय एक आश्रम में बिताना चाहिए इस विषय पर शास्त्रकारो में पर्याप्त मतभेद हैं। वैदिक काल में मानव को जीवनयात्रा की सादर्श अवधि एक सौ वर्ष की मानी जाती थी। ऋग्वेद में जीवेम शरद शतम् द्वारा सौ वर्ष के जीवन की कामना की जाती रही है। ब्राह्मणकाल में पारलौकिक अमरत्व को जीवन का सार ध्येय माना गया है तथापि मानव जीवन का उद्देश्य अनन्त जीवन जैसे अमरत्व को ही प्राप्त करना नहीं है अपितु शतवर्षीय पूर्णायु प्राप्त करना भी है। इन सौ वर्षों के जीवन को समुन्नत बनाने के लिए ऋषियो ने उसे चार भागो में बाँटा था और प्रत्येक की अवधि पच्चीस वर्ष मानी थी। इस प्रकार जीवन के प्रथम पच्चीस वर्ष तक व्यक्ति को ब्रह्मचर्य अवस्था स्तर या आश्रम में रहने का निर्देश था और इस अवधि में उससे कठोर सयम व नियम से रहने की आशा की जाती थी। यह अध्ययन व ज्ञान प्राप्त करने की अवस्था मानी जाती थी क्योंकि इन दोनो कार्यों के लिए जीवन के प्रथम पच्चीस वर्ष का समय सबसे उत्तम होता है। इस आयु में

प्राणी के स्वभाव, व्यक्तित्व तथा गुणों में अपूर्व लचीलापन, सीखने का अभूतपूर्व उत्साह, जोश एव स्फूर्ति होती है । यही उसके अध्ययन अथवा विद्यार्जन की प्रक्रिया में अत्यधिक सहायक होता है ।

इस प्रकार पच्चीस वर्ष तक बल, वीर्य व ज्ञान का यथोचित अर्जन करते हुए प्रत्येक व्यक्ति स्वय को शारीरिक व मानसिक रूप से गृहस्थ में प्रवेश करने के योग्य बनाने का प्रयास करता है । पच्चीस वर्ष के बाद उसे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की आज्ञा है। पच्चीस से पचास वर्ष तक काम-वासना के सन्तुष्ट होने के साथ-साथ व्यक्ति अपनी सन्तान का लालन-पालन तथा अन्य पारिवारिक कर्तव्यो को करता था । इसके बाद पचास वर्ष से पिचहत्तर वर्ष तक की आयु का समय वनो मे स्थित आश्रमो में व्यतीत होता था । जीवन के गूढतम रहस्यों को समझने का प्रयत्न तथा मोक्ष प्राप्ति के उपायो पर विचार इसी वानप्रस्थाश्रम में ही होता था । पिचहत्तर वर्ष पूर्ण करने के पश्चात् व्यक्ति के लिए सन्यास ग्रहण कर लेने का निर्देश था । प्रत्येक आश्रम की पच्चीस वर्ष का अवधि एक सामान्य नियम या सैद्धान्तिक सीमा थी । व्यक्तिगत आवश्यकता के अनुसार यह अवधि कम ज्यादा भी हो सकती थी और होती भी थी । वात्स्यायन ने मानव जीवन को एक सौ वर्ष का मान कर उसे बाल्यावस्था, यौवनावस्था तथा स्थविर या वृद्धावस्था, इन तीन स्तरों में बाटा है ।

चारो आश्रमो का परिचय– मनुष्य के जीवन को कर्म के अनुसार व्यवस्थित करने के लिए इन आश्रमो की व्यवस्था की गई है । इनके नाम हैं-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास । सन्यास के लिए परिव्राजक शब्द भी मिलता है । महाभारत के अनुसार ब्रह्मा ने धर्मसरक्षण हेतु चारो आश्रमो को अभिनिर्दिष्ट किया था । पतजलि ने इनको 'चातुराश्रम्य' कहा है । मनु ने चारों आश्रमो का उल्लेख करते हुए चौथे को ''यति'' कहा है । ब्राह्मण के लिए इनकी आवश्यकता है । अन्य तीनो वर्णों के लिए केवल तीन आश्रम थे । उनके लिए सन्यास आश्रम का विधान नहीं था । विद्या के लिए ब्रह्मचर्य, सबके पालन के लिए गृहस्थ, इन्द्रियदमन के लिए वानप्रस्थ और मोक्ष सिद्धि के लिए सन्यास आश्रम की व्यवस्था थी । पुराणों ने भी चार आश्रमो की महिमा प्रदर्शित की है । ''ब्रह्मचारी गृहस्थ, वानप्रस्थी और परिव्राट्, चार आश्रम थे, पाचवाँ कोई नहीं'' (विष्णु पुराण) । गृहस्थ, भिक्षु, आचार्यकर्मा (ब्रह्मचारी) तथा वानप्रस्थ चार आश्रमजीवी हैं तथा वर्णों के धर्म को प्रतिष्ठित करने के उपरान्त ब्रह्मा ने चार आश्रमो को स्थापित किया । ''ब्राह्मण (द्विज) का जीव सात वर्ष की अवस्था के पश्चात् चार भागो (आश्रमों) में विभाजित है'' (ग्यारहवीं सदी का भारत में अल्बेरुनी) । अतएव निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि उत्तर वैदिक युग से पूर्व मध्ययुग तक चार आश्रमों का जीवन था । विभिन्न कालो और परिस्थितियों के आने पर भी ये उसी प्रकार के चार के चार बने रहे । आश्रम व्यवस्था का आधार अत्यन्त सुदृढ और सुनियोजित था । इनका विवरण इस प्रकार है-

(1) ब्रह्मचर्याश्रम– यह मनुष्य के बौद्धिक और शिक्षित जीवन के निमित्त था । विद्या और शिक्षा की प्राप्ति इसी के पालन से होती थी । इससे मनुष्य की ज्ञान-गरिमा बढती थी । ब्रह्मचर्य के अनुपालन से उसका मानसिक और बौद्धिक उत्कर्ष होता था । 'ब्रह्मचर्य' में दो शब्द हैं ब्रह्म और चर्य । इनमें ब्रह्म का अर्थ है ज्ञान तथा चर्य का है विचरण करना । अत इन दोनो का अर्थ हुआ ''ज्ञान में विचरण करना'' या ज्ञान के मार्ग पर चलना । ब्रह्मचर्य का तात्पर्य केवल इन्द्रियनिग्रह ही नहीं है, अपितु इसके साथ ही वेदाध्ययन भी

है । तप त्याग और सयम नियम का भी ब्रह्मचर्याश्रम में महत्त्व रहा है । जीवन में इनकी उपादेयता सार्थकता प्रदान करती थी । अपने तप और सयम से ब्रह्मचारी ज्ञान और विज्ञान का अर्जन करता है तथा अपने जीवन को प्रशस्त करता है ।

महाभारत के शान्तिपर्व के अनुसार इस आश्रम में ब्रह्मचारी को अन्तर्बाह्य की शुद्धि वैदिक सस्कार तथा व्रत नियमो का पालन करते हुए अपने मन को वश में करना चाहिए । प्रात एव सायकाल सन्ध्योपासन, सूर्योपासन और अग्निहोत्र द्वारा अग्नि देव की आराधना करनी चाहिए । तन्द्रा और आलस्य को त्याग कर प्रतिदिन गुरु को प्रणाम करना व वेदो के अभ्यास तथा श्रवण से अपनी अन्तरात्मा/को पवित्र करना चाहिए । प्रात , मध्याह्न और साय स्नान करना चाहिए । नित्य भिक्षा माग कर गुरु को अर्पित करना चाहिये । गुरु की आज्ञा के विपरीत आचरण नहीं करना चाहिये । गुरु की कृपा से लब्ध स्वाध्याय मे तत्पर रहना चाहिये ।

महान् मार्ग पर विचरण करने वाले इस आश्रम का प्रमुख उद्देश्य विद्या की प्राप्ति था । विद्या दो प्रकार की बताई गई है परा और अपरा । परम सत्य का नाम परा विद्या है तथा इससे अक्षर ब्रह्म का ज्ञान होता है । अपरा विद्या ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष का ज्ञान है । इससे बुद्धि का ईश्वर विषयक परिष्कार होना माना गया है । सामान्य रूप मे ब्रह्मचर्याश्रम में तप और सयम द्वारा विद्यार्जन की प्रस्तावना की गई है । कुछ धर्मसूत्रों में ब्रह्मचर्याश्रम का सबसे पहले वर्णन हुआ है और कुछ में गृहस्थाश्रम के पश्चात् । गौतम व बौधायन ने ब्रह्मचर्याश्रम को गृह-स्थाश्रम के बाद स्थान दिया है । सम्भवत इन व्यवस्थाकारों ने आश्रम के महत्त्व के आधार पर उनका क्रम निश्चित किया है । गृहस्थाश्रम की मानव जीवन मे बहुत अधिक महत्ता है, अत इसे प्रथम स्थान दिया है ।

प्रारम्भ व वेशभूषा–उपनयन (यज्ञोपवीत) सस्कार सम्पन्न होने के बाद ही ब्रह्मचर्य आश्रम प्रारम्भ होता था । उप अर्थात् समीप, नयन अर्थात् ले जाना । इसका तात्पर्य है, वह सस्कार जिसके द्वारा ब्रह्मचारी को गुरु के पास ले जाया जाता है । यह संस्कार द्विज (तीनों वर्णों) के लिए था, शूद्र के लिए नहीं । इस सस्कार के पश्चात् ही ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश मिल सकता था । कोई भी व्यक्ति बिना उपनयन के न तो द्विज कहला सकता था और न ही उस वर्ण या जाति का सदस्य ही माना जा सकता था, जिसमें कि वह जन्म लेता था "जन्मना जायते शूद्र सस्कारात् द्विज उच्यते ।" विद्या के निमित्त किए जाने वाले उपनयन सस्कार की सम्पन्नता अनियमित और अनुत्तरदायी जीवन की समाप्ति से सम्बद्ध थी, जब नियमित, अनुशासित तथा गम्भीर जीवन का प्रारम्भ होता था । ब्राह्मण का बसन्त ऋतु में, क्षत्रिय का ग्रीष्म में और वैश्य का शरद् ऋतु में उपनयन करने का निर्देश मिलता है । ब्राह्मण के उपनयन के लिए गायत्री मन्त्र, क्षत्रिय के लिए त्रिष्टुप् मन्त्र और वैश्य के लिए जगती मन्त्र का आधार ग्रहण किया जाता था ।

स्त्रियों को भी उपनयन का अधिकार था । इससे विदित होता है कि सूत्रकाल तक उन्हें भी वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त था । समावर्तन सस्कार सर्वदा वेदाध्ययन की समाप्ति के बाद ही सम्पन्न होता था । स्त्रियो के समावर्तन सस्कार का भी विधान किया गया था (आश्वलायन गृह्यसूत्र, 3 8 11) । यह इस बात का प्रमाण है कि स्त्रिया भी

ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करती हुई शिक्षा प्राप्त करती थीं। विवाह के समय उन्हें यज्ञोपवीत धारण करने का भी निर्देश दिया गया था जो उनके उपनयन सस्कार का द्योतक है।

प्रत्येक ब्रह्मचारी के लिए यज्ञोपवीत धारण करना अत्यन्त पवित्र समझा जाता था। वह मेखला और दण्ड भी धारण करता था। ब्राह्मण ब्रह्मचारी को मेखला मूज की क्षत्रिय को अयस् (लोहे) के खण्ड से युक्त मूज की तथा वैश्य को ऊन की होती थी। उत्तरीय (ऊर्ध्व या ऊपर का वस्त्र) तथा वास (अधोवस्त्र) ये दो वस्त्र ब्रह्मचारी धारण करता था। ब्राह्मण का उत्तरीय अजिन (मृगचर्म) का क्षत्रिय का रुरु (एक प्रकार का हरिण) का तथा वैश्य का गोचर्म या अजा (बकरे का) चर्म का होता था। धर्मशास्त्रों मे उपनयन के लिए आयु का निर्धारण किया गया है। ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य के लिए उपनयन सस्कार की आयु क्रमश आठ, ग्यारह और बारह वर्ष थी। मनु इस उम्र को गर्भावस्था से गिनते हैं।

ब्रह्मचारी का जीवन तथा मुख्य नियम–दीक्षित बालक ब्रह्मचारी कहलाता था। वह ब्रह्म (वेद) व्रत का पालन करता था। सभी व्यवस्थाकारो ने गुरु के सान्निध्य में रहकर विद्यार्जन करने की व्यवस्था निर्दिष्ट की है। गुरुकुल में रह कर छात्र विभिन्न विषयो का अध्ययन करता था। गुरुकुल का वातावरण अत्यन्त शान्त और एकान्त होता था। वहाँ शिक्षा तथा विद्या का अध्ययन सुचारु रूप से होता था। वेदाध्ययन के निमित्त गुरु के पास गये विद्यार्थी के लिए अभिवादन करना आवश्यक था। ब्रह्मचारी सूर्योपासना के बाद नियमित रूप से भिक्षा याचना करने जाता था, ताकि निरभिमान होकर सयम और नियम का पालन कर सके। ब्रह्मचारी प्रात और साय ही भोजन करता था बीच में भोजन करना निषिद्ध था। उसका जीवन अत्यन्त सयमित तथा नियमबद्ध होता था। शील साधना एव अनुशासन का वह मन से अनुसरण करता था।

ब्रह्मचारी के लिए भिक्षार्जन, भोजन शयन, गुरुशुश्रूषा समिधादान (यज्ञ की लकडियों को लाना), निवास आदि पर अनेक नियमो की व्यवस्था की गई थी। वह गुरु के पशुओ की देखभाल करता था तथा निष्ठापूर्वक गुरु की सेवा करता था। ब्रह्मचारी का जीवन सभी धर्मों में अत्यन्त श्रेष्ठ, ब्रह्मस्वरूप और आदरयुक्त था। उसके लिए नृत्य, गायन, वाद्य, सुगन्धित वस्तुएँ, माला, जूता, छाता, अजन हँसना स्त्री की मन से कामना करना तथा उसे अकारण स्पर्श करना आदि निषिद्ध था। सत्यभाषण अहकारहीनता और गुरु से पहले जागना आवश्यक था। गुरु विनयी, सेवारत और हितैषी विद्यार्थी को शिक्षा प्रदान करता था। महर्षि याज्ञवल्क्य के अनुसार कृतज्ञ, द्रोहहीन, मेधावी पवित्र, आधिव्याधि से मुक्त, परदोषान्वेषण से विरत, सदाचारी सेवा में समर्थ, बन्धु, विद्याप्रद एव धनदाता ये ही शास्त्र के अनुसार अध्यापन योग्य होते हैं-

> "कृतज्ञाद्रोहिमेधाविशुचिकल्यानसूयका ।
> अध्याप्या धर्मत साधुशक्ताप्तज्ञानवित्तदा ॥"
>
> (आचाराध्याय, 128)

सदाचरण एव सच्चरित्रता का पालन करना ब्रह्मचर्य की अनुपम साधना थी। अपनी इच्छा को वश में रखना तथा अपनी क्रियाओं को धर्मसमन्वित करना उसका श्रेष्ठ आचरण था। सिद्धि प्राप्ति हेतु वह अपनी विचरणशील इन्द्रियों को सयमित रखता था। वह

मनसा, वाचा, कर्मणा पवित्र रहता था। शौच (पवित्रता), सतोष, स्वाध्याय और ईश्वर का आराधन उसके मुख्य नियम थे। ये नियम मानसिक विकास के हेतु थे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि यमो के अनुपालन से ब्रह्मचारी का आत्मिक विकास होता था। वह ज्ञान पिपासु, अहिसक सत्यभाषी, सच्चरित्र, गुरुसेवक तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष से आसक्तिहीन होकर ब्रह्मचर्य का सात्विक जीवन व्यतीत करता था। वह सदैव अपना स्वभाव मृदुल रखता था।

गुरु तथा गुरुकुल–भारतीय सस्कृति में "आचार्य देवो भव" अर्थात् गुरु का देवभाव से आदर करो-यह श्रुति का सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। गुरु की आज्ञा अनुल्लघनीय थी। "आज्ञापालन सिद्धिसोपानम्" अर्थात् आज्ञापालन विद्या प्राप्ति के सिद्धान्त की सीढी है। गुरु के बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती, गुरु और शिष्य के सम्बन्ध कितने महत्वपूर्ण हैं इस सम्बन्ध मे ऋषि कहता है-

"स नौ यश।सह नौ ब्रह्मवर्चसम्।"

-(तैत्तिरीयोपनिषत्, शिक्षा वल्ली तृतीय अनुवाक्)

अर्थात् साथ-साथ हम दोनों का यश हो और साथ-साथ हम दोनों का तेज हो। ब्रह्मचारी के रूप में शिष्यत्व को ऐसी अनुपम साधना मानी गई, जो योग के समान थी। मनु ने दो प्रकार के गुरु बताए हैं-

(1) उपाध्याय–जो जीविका के लिए अध्यापन वृत्ति को स्वीकार करके वेद या वेदाग का कोई-सा भाग पढा सकते थे।

(2) आचार्य–जो शिष्य को कल्पसूत्रो और उपनिषदो सहित नि शुल्क वेद का अध्ययन कराते थे। शिक्षा के बाद गुरुदक्षिणा भी ग्रहण करते थे। पिता और माता को भी पुत्र का गुरु माना जाता था।

गुरु का निवास प्राय शहर के बाहर वन में होता था और विद्यार्थियो को उनके पास "अन्तेवासी" (पास में रहने वाला) के रूप में रहना पडता था। किसी शिष्य को गुरु ग्रहण करे या न करे इस सम्बन्ध में उसको पूर्ण अधिकार था। शिष्य की योग्यता के अनुरूप ही ज्ञान का दिया जाना गुरु के अधिकार में था। गुरुकुल प्रवेश प्राय दो सत्रो मे श्रावणी तथा बसन्त पचमी में होता था। विद्यालय सम्भवत. गुरुकुल आश्रम, परिषद्, घुमन्तू विद्वान्, सन्यासी, परिव्राजक अथवा राजसभा के रूप में थे। गुरुकुल ही शिक्षा के आधार थे।

ब्रह्मचर्याश्रम की अवधि तथा प्रकार–विद्यार्थी के ब्रह्मचर्याश्रम की अवधि प्राय बारह वर्ष की होती थी। उस समय तक वह लगभग पच्चीस वर्ष का हो जाता था। शिक्षा समाप्ति के बाद वह गुरु की आज्ञा से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। मनु के अनुसार ब्रह्मचारी गुरु के पास अध्ययनार्थ 36 वर्ष या उसके आधे वर्ष (18 वर्ष) या चतुर्थांश (9 वर्ष) तक या वेदों के ग्रहण करने की अवधि तक अध्ययनरत रहे। ससार के मोह को त्याग कर सयत आत्मा के साथ तपस्वी रूप में रहने वाले आजन्म ब्रह्मचारी विरल (कम) नहीं थे। सचमुच में वेदों के अध्ययन में ब्रह्मचारी को अनेक वर्ष लगाने पडते थे। वेदों का अध्ययन कम से कम नौ वर्ष में हो पाता था। तीन, दो या एक वेद में ब्रह्मचारी का पारगत होना आवश्यक था।

गुरुकुल मे रहकर विद्याध्ययन करने वाले ब्रह्मचारी कई प्रकार के होते थे। कुछ आचरण, व्यवहार व पढ़ने मे बहुत अच्छे होते थे। कुछ अध्ययन में मध्यम होते थे। कुछ मन्द और हीन रहते थे। इनको क्रमश उत्तम मध्यम और कनिष्ठ कहते थे। विवाह के पूर्व तक गुरुकुल मे निवास करने वाले "उपकुर्वाण" विद्यार्थी कहलाते थे जो यथाशक्ति गुरु दक्षिणा प्रदान कर, गुरु से आज्ञा पाकर घर आते थे। ये तीन प्रकार के स्नातक होते थे-वेदस्नातक, व्रतस्नातक और वेदव्रतस्नातक। "नैष्ठिक" ब्रह्मचारी आठ वर्ष की उम्र में उपनीत होकर 48 वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत करते हुए 56 वर्ष तक अध्ययनरत रहते थे। कभी-कभी वे जीवनपर्यन्त गुरु के समीप रह कर अध्ययन करते रहते थे। ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश की आयु 8 वर्ष से 24 वर्ष तक रखी गई थी।

महत्त्व–ब्रह्मचर्याश्रम मे रह कर मनुष्य शारीरिक शैक्षिक एव आध्यात्मिक योग्यता प्राप्त करता था। इसमें बुद्धि का प्रशिक्षण क्रियाओ का नियन्त्रण और इच्छाओ का परिष्कार आध्यात्मिक आकाक्षाओ की सन्तुष्टि तथा आत्मा का उद्धार होता था। ज्ञान और शिक्षा से उसका मस्तिष्क विकसित होता था। अनुशासन और सयम के अभ्यास से उसका भावी जीवन सुनियोजित मार्ग पर अग्रसर होता था। उसके अन्तस् की तामसी वृत्तियाँ और भ्रमित इन्द्रियाँ उसके ब्रह्मचर्य और सच्चरित्रता के सम्मुख शमित हो जाती थीं। निर्मल और बाधाहीन ब्रह्मचर्य जीवन के फलस्वरूप उसकी अभिव्यक्ति उचित दिशा की ओर बढ़ती थी तथा उसके मन के उद्वेग को उत्तेजित होने से रोकती थी।

ब्रह्मचारी का मन और मस्तिष्क सन्तुलन बनाए रखने मे पूर्ण रूप से समर्थ होता था। इस आश्रम के माध्यम से वह शरीर और मस्तिष्क के श्रम के महत्त्व को पहचान पाता था। जीवन मे "श्रम के महत्त्व" को समझते हुए वह नीरक्षीर विवेकी बन जाता था। इस प्रकार वह भौतिक और सासारिक जीवन की अपेक्षा आध्यात्मिक और बौद्धिक जीवन का अनुयायी बन जाता था। स्मृतिकारो ने इस आश्रम के महत्त्व को विविध प्रकार से बताया है। "ब्रह्मचारी ब्रह्मनिष्ठ होकर ब्रह्मलोक की प्राप्ति करता था" "ब्रह्मचर्य के बिना तपस्या व्यर्थ थी।" "ब्रह्मचर्य के पालन से आयु तेज बल वीर्य बुद्धि श्री यश पुण्य एव ईश्वरप्रियता प्राप्त होती थी।" अत यह भी आश्रमो की सिद्धि में मूल माना गया। ब्रह्मचर्य प्राय इन्द्रियनिग्रह एव कठोर व्रत का पर्याय हो गया। इसी भाव से कहा गया कि ब्रह्मचर्य से राजा राष्ट्र की रक्षा करता है यहाँ तक कि ब्रह्मचर्य से देवताओ ने मृत्यु को जीत लिया

"ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।"

(2) गृहस्थाश्रम–अन्य तीनो आश्रमो के इसी पर आश्रित रहने के कारण समाज में गृहस्थाश्रम का अत्यधिक मान रहा है। ब्रह्मचारी के समावर्तन (शिक्षा समाप्ति) समारोह के पश्चात् गृहस्थ का जीवन प्रारम्भ होता था। विवाहोपरान्त वह गृहस्थाश्रम मे प्रविष्ट होता था। पुराणो के मत से गृहस्थाश्रम ही अन्य आश्रमो का स्रोत था। वशिष्ठ ने इसी की प्रशसा मे लिखा है कि जिस प्रकार सभी नदी-नद सागर में सस्थित हो जाते है, उसी प्रकार सभी आश्रम भी गृहस्थाश्रम में "यथा नदीनदा सर्वे समुद्रेयान्ति सस्थितिम् एवमाश्रमिण सर्वे गृहस्थे यान्ति सस्थितिम्"। इस आश्रम मे पति और पत्नी धर्मानुसार व्यवहार करते थे। गृहस्थाश्रम से ही अन्य आश्रमो का विकास और विस्तार होता था।

इसी के अनुग्रह और आदर पर अन्य आश्रम पूर्णत निर्भर करते थे । इसीलिए यह आश्रम ज्येष्ठ और श्रेष्ठ कहा गया है । "गृहस्थधर्म का अनुसरण करने वाले को अपने गृह में ही कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य, हरिद्वार और केदार तीर्थ की प्राप्ति हो जाती है, जिनसे उसके सभी पाप धुल जाते हैं ।" (व्यास स्मृति)।

महाभारत में गृहस्थाश्रम की गरिमायुक्त प्रतिष्ठा है । इसे सभी आश्रमों में उत्कृष्ट माना गया है । माँ से इसकी तुलना करते हुए कहा है कि "जिस प्रकार माता का आधार पाकर सभी प्राणी जीवित रहते हैं, उसी प्रकार गृहस्थ के आधार से अन्य सभी आश्रम ।" "यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तव । एव गृहस्थमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति भिक्षव ॥" गृहस्थ का परित्याग कर सन्यास का अनुगमन करने वालों की निन्दा की गई है । गृहस्थाश्रम में ही देवताओं, पितरों और अतिथियों के लिए आयोजन होते हैं तथा त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ व काम की प्राप्ति होती है । "गृहस्थाश्रम ऐहिक और पारलौकिक सुख प्राप्ति के लिए विवाह करके अपने सामर्थ्य के अनुसार परोपकार करने और नियत काल में यथाविधि ईश्वरोपासना तथा गृह कृत्य करने एव सत्य-धर्म में ही अपना तन मन धन लगाने व धर्मानुसार सन्तानो की उत्पत्ति करने को कहते हैं" (सस्कारविधि में स्वामी दयानन्द सरस्वती)। "पहले केवल एक ही आश्रम था और वह था गृहस्थाश्रम"

(गौतम धर्म सूत्र)।

प्रारम्भ व कर्त्तव्य–ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति के बाद गुरगृह से स्नातक बन कर व्यक्ति गृहस्थाश्रम में विवाहोपरान्त प्रवेश करता था । इसमें प्राय पच्चीस वर्ष के ब्रह्मचर्य के बाद प्रवेश का विधान था । किन्तु कुछ पौराणिक व्याख्याकारों के अनुसार इस आश्रम में बाल्यकाल में ही प्रवेश पाया जा सकता था । "चार गुण हों तो गृहस्थ आश्रम मे प्रविष्ट होना चाहिए-(1) शरीर का स्वस्थ व शक्तिशाली होना, (2) विशाल हृदय का होना, (3) अच्छी मेधा का होना, तथा (4) हमेशा प्रसन्न रहना ।" इससे स्पष्ट है कि इस आश्रम में अल्पायु में प्रवेश करने पर निषेध भी था । सभी वर्णों के लिए गृहस्थाश्रम अनिवार्य था । इसमें विवाह के बाद प्रवेश करने से व्यक्ति काम की पूर्ति कर सकता था । काम मनुष्य की सासारिक वासनाओ का नाम है । व्यक्ति सासारिक वासनाओ में उलझ न जाये, इसी उद्देश्य से धर्मपूर्वक इस पुरुषार्थ की प्राप्ति का विधान किया गया । मनुष्य अपने उच्चतर लक्ष्य को न भूलें, इसके लिए ही विवाह का उद्देश्य धर्म की सिद्धि, प्रजा अथवा सन्तान की उत्पत्ति एव रति निश्चित किया गया ।

गृहपति व्यक्तिगत, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, आर्थिक आदि विभिन्न प्रकार के कर्त्तव्यों का पालन करता था । सत्य, अहिंसा, प्राणियों के प्रति दया, शम सामर्थ्यानुसार दान आदि गृहस्थ के उत्तम कर्म थे । मनु के अनुसार वह धृति, क्षमा, दम, अस्तेय शौच, इन्द्रियनिग्रह, ज्ञान, विद्या, सत्या और अक्रोध इन दस प्रकार के धर्मों का सेवन करता था । "(1) दूसरी स्त्री के साथ सम्पर्क न करना, (2) अपनी पत्नी तथा घर की रक्षा करना, (3) न दी गई वस्तु को न लेना, (4) मधु का सेवन न करना, और (5) मास ग्रहण न करना ये पाँच प्रकार के गृहस्थ के कर्म सुख देने वाले थे ।"

(महाभारत, अनुशासन पर्व)।

गृहस्थ के लिए निश्चित कर्तव्याकर्तव्यों का विधान निर्धारित था। इसमें सर्वप्रथम तो पति-पत्नी के सम्बन्ध, परिवार के अन्य सदस्यों के साथ परस्पर सम्बन्ध, समाज के साथ सम्बन्ध तथा नित्य एवं नैमित्तिक धर्म के कर्मों का समावेश था। इस सम्बन्ध में श्रुति का मत है-

"हे स्त्री पुरुषो, तुम बालकों के जनक ऋतु समय में सन्तानों को अच्छी प्रकार उत्पन्न करो। माता और पिता दोनों गृहस्थ आश्रम में प्रजा को उत्पन्न करो।"

"हे गृहस्थो, जैसे तुम्हारा पुत्र माता के साथ प्रीतियुक्त मन वाला, अनुकूल आचरण युक्त और पिता के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार का प्रेम वाला होवे, वैसे तुम भी पुत्रों के साथ सदा बर्ताव करो। जैसे स्त्री पति की प्रसन्नता के लिए माधुर्य गुणयुक्त वाणी को कहे, वैसे पति भी शान्त होकर अपनी पत्नी से सदा मधुर भाषण किया करे।"

"हे गृहस्थो, तुम में भाई-भाई द्वेष कभी न करें और बहिन-बहिन से द्वेष कभी न करे तथा भाई बहिन भी परस्पर द्वेष न करें, किन्तु सम्यक् प्रेम आदि गुणों से युक्त समान गुणकर्म स्वभाव वाले होकर मंगलकारक रीति से एक-दूसरे के साथ सुखदायक वाणी को बोला करें।"

"हे गृहस्थादि मनुष्यो, मुझ ईश्वर की आज्ञा से तुम्हारा जलपान, स्नानादि व्यवहार एकसा हो, तुम्हारा खानपान एकसा हो, तुम्हारे अश्वादि यान के जोत एकसे हों और तुमको मैं धर्मादि व्यवहार में भी एकीभूत करके नियुक्त करता हूँ।"

मनुस्मृति के अनुसार "पिता, भ्राता, पति और देवर के लिए यह उचित है कि अपनी कन्या, बहिन, स्त्री और भौजाई आदि की सदा पूजा करें अर्थात् उन्हें यथायोग्य मधुर भाषण, भोजन, वस्त्र, आभूषण आदि से प्रसन्न रखें।" स्त्री के लिए यह उचित माना गया कि वह सदा आनन्दित होकर चतुरता से गृहकार्यों में वर्तमान रहे तथा अन्नादि के उत्तम संस्कार, पात्र, वस्त्र, गृह आदि के उपकरण और भोजनादि में जितना नित्य धन आदि लगे उसके यथायोग्य खर्च करने में सदा प्रसन्न रहे।"

महाभारत के शान्तिपर्व में भीष्म कहते हैं कि "गृहस्थ को चाहिए कि वह अपनी ही स्त्री में अनुराग रखते हुए संतुष्ट रहे। ऋतुकाल में ही पत्नी के साथ समागम करे। शास्त्रों की आज्ञा का पालन करे। शठता और कुटिलता से दूर रहे। परिमित आहार ग्रहण करे। देवताओं की आराधना में तत्पर रहे। उपकार करने वालों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करे। सत्य बोले। सबके प्रति मृदुभाव रखे। किसी के प्रति क्रूर न बने और सदा क्षमाभाव रखे। गृहस्थाश्रमी पुरुष इन्द्रियों का संयम करे। गुरुजनों एवं शास्त्रों की आज्ञा माने, देवताओं और पितरों की तृप्ति के लिए हव्य और काव्य समर्पित करने में कभी भूल न होने दे। ब्राह्मणों को निरन्तर अन्न दान करे। ईर्ष्या द्वेष से दूर रहे। अन्य सब आश्रमों को भोजन देकर उनका पालन-पोषण करता रहे और सदा यज्ञ यागादि में लगा रहे।"

गृहस्थाश्रम के पालन से मनुष्य धर्म का अर्जन करता था, क्योंकि परलोक में सहायता के लिए माता, पिता, पुत्र, भार्या और सम्बन्धी नहीं होते, प्राणी अकेला ही जन्मता और मरता है तथा अकेला ही अपने पाप-पुण्य का फल भोगता है। केवल धर्म ही उसके साथ जाता है। अतः परलोक में अपनी सहायता के लिए धर्म का उत्तरोत्तर संचय करना चाहिए। इस प्रकार गृहस्थाश्रम में ज्ञानयोग की अपेक्षा कर्मयोग को अधिक प्रधानता मिली

"यथा वायु समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तव ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्वाश्रमा ॥
यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥" (मनु 3/77–78)

महाभारत के शान्ति पर्व में एक विवरण आता है कि "एक बार मनीषी पुरुषों ने सभी आश्रमों को तराजू के पलडे मे रखा। एक ओर तो तीनों आश्रम थे तथा दूसरी ओर अकेला गृहस्थाश्रम। इस प्रकार तोले जाने पर गृहस्थाश्रम ही अधिक गुरु अर्थात् भारी सिद्ध हुआ।" वहाँ पर एक अन्य प्रकरण में देवराज इन्द्र ने गृहस्थाश्रम को "सिद्धि क्षेत्र" कह कर श्रेष्ठतर बताया है। गृहस्थाश्रम की तुलना माता से की गई है। इसी पर्व मे कपिल ने उन लोगों की भर्त्सना की है, जो यह कहते हैं कि गृहस्थ में रह कर मोक्ष नहीं मिलता। महाकवि कालिदास ने रघुवश महाकाव्य में लिखा है कि गृहस्थाश्रम ही सबका उपकार करने में समर्थ है

"सर्वोपकारक्षम आश्रमोऽयम्।"

(3) वानप्रस्थाश्रम–

प्रारम्भ व कर्त्तव्य–गृहस्थाश्रम के उपरान्त इस तीसरे आश्रम का आरम्भ होता था। "वन की ओर प्रस्थान करना" वानप्रस्थ आश्रम था। अपने समस्त गार्हस्थ्य कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्व को सम्पन्न कर लेने के बाद सासारिक माया मोह को त्याग कर मनुष्य वानप्रस्थ जीवन की ओर मुडता था। याज्ञवल्क्य के अनुसार प्राणी ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद सीधे वानप्रस्थ आश्रम में भी प्रवेश कर सकता था। कुछ स्थानों पर वानप्रस्थ के लिए "वैखानस" शब्द प्रयुक्त किया गया है। मनु की मान्यता है कि जब व्यक्ति के सिर के बाल श्वेत होने लगें, शरीर पर झुर्रियाँ पडने लगें और उसके पौत्र हो जायें तब वह वानप्रस्थ होकर जगल की ओर चल दे। वह अकेला या पत्नी के साथ वानप्रस्थाश्रम में जा सकता है। "उसे ग्राम आहार (धान, यव आदि ग्राम सुलभ भोजन) तथा परिच्छद (गौ, घोड़ा, हाथी, शैया आदि गृह सम्पत्ति) को त्याग कर, वन में जाने की इच्छा न करने वाली पत्नी को पुत्रों के उत्तरदायित्व में सौंप कर अथवा वन में साथ जाने वाली पत्नी को साथ में लेकर वन की ओर प्रस्थान करना चाहिए।"

जो गृहस्थ जीवन के बाद वानप्रस्थ का जीवन नहीं अपनाते थे, उन्हे "पापकर्मा" कहा गया था। अत प्रत्येक द्विज गृहस्थ के लिए वानप्रस्थ का जीवन अनिवार्य था। इस जीवन में व्यक्ति त्याग, तप, अहिंसा और ज्ञान का अर्जन करता था। उसका प्रधान उद्देश्य आध्यात्मिक उत्कर्ष और समस्त भौतिक स्पृहाओं से मुक्ति पाने का उपक्रम था। विद्या, शरीर और तपस्या की वृद्धि के लिए वानप्रस्थ का सेवन किया जाता था। इसके लिए वह सयमित और कठोर जीवन का पालन करता था। गर्मी और सर्दी को सहन करते हुए तप करने के कारण वह "तप शील" था। उसका जीवन साधना का था जो सत्य, अहिंसा और इन्द्रियनिग्रह पर आधारित था। मनु ने सर्वदा वेदाध्ययन में लगे रहने, ठडा-गर्म, सुख-दु ख, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों को सहन करने सबसे मैत्री रखने मन को वश में रखने, दानशील बनने दान न लेने और सभी जीवों पर दया करने को कहा है। दिन में दो बार स्नान एव होमानुष्ठान करना उसका परम धर्म था।

सामान्यतया वानप्रस्थ मे प्रवेश की आयु पचास वर्ष या उसके पश्चात् थी। इस आश्रम में प्रवेश का उद्देश्य तपस्वी जीवन व्यतीत करते हुए मोक्ष प्राप्ति के लिए अपने को तैयार करना था। इस आश्रम मे पच महायज्ञ और अतिथि सत्कार पर विशेष बल था। मनु के अनुसार जो भोज्य पदार्थ हो, उसी से बलि अर्थात् पच महायज्ञ कर्म करे और भिक्षा अर्थात् जल, कन्दमूल फल से अतिथि को सन्तुष्ट करे। गौतम ने इसके अतिरिक्त शरीर को तप से पूर्ण करने की बात भी कही है। उसे बाल दाढी और नख नहीं काटना चाहिए। वनसुलभ चर्म, कुश तथा काश से अपना परिधान व उत्तरीय बनाना चाहिए। वह मृगचर्म एव वल्कल अर्थात् वृक्ष की त्वचा के वस्त्र पहनता था। उसके लिए सासारिकता और भौतिकता का त्याग आवश्यक था, ऐसे आचरण से ही मोक्ष की ओर उन्मुखता होती थी। उसके लिए गाँव में प्रवेश वर्जित था। क्षमा करना, दान देना और प्रतिग्रह न करना उसके प्रधान कर्त्तव्य थे।

महाभारत के अनुशासन पर्व मे उल्लेख है कि वानप्रस्थी को अपना तप बढाते हुए ग्रीष्म ऋतु में "पचाग्निव्रत" करना चाहिए अर्थात् अपने चारा ओर अग्नि जला कर उसके मध्य बैठना चाहिए। चारा दिशाओ की चार अग्नि तथा सिर पर सूर्य की धूप (अग्नि) पचाग्नि कहलाती है। वह वर्षा ऋतु मे खुले मैदान में रहे और शीत ऋतु में गीला वस्त्र धारण करे या सरोवर के जल मे विद्यमान रह कर तप करे। अपने शरार को घोर कष्ट देना तथा कठोर सयम से उसे तपाना वानप्रस्थ जीवन का प्रधान नियम था। इस आश्रम को अपनाने वाले ऐसे शासको के नाम भी मिलते हैं जिन्होंने अपना राज्य त्याग कर एकान्त का जीवन ग्रहण किया था। महाकवि कालिदास ने रघुवशी राजाआ को ऐसा ही बताया है। प्रतिहार पाल, सेन आदि राजवशो के कतिपय ऐसे अभिलेख इसकी पुष्टि करते हैं। पाल शासक विग्रहपाल ने अपने पुत्र नारायण पाल को राज्य सौंप कर साधु का जीवन अपनाया तथा सेन शासक सामन्तसेन वानप्रस्थ आश्रम अपना कर गगातटीय वन मे चला गया।

वानप्रस्थाश्रम का महत्त्व—आज के युग मे इस आश्रम का बडा भारी महत्त्व है। कुछ विद्वानो की मान्यता है कि यह आश्रम "बाणप्रस्थाश्रम" है अर्थात् मनुष्य को अपना घर बार छोडकर पचास वर्ष की उम्र के बाद वन की ओर "बाण की तरह प्रस्थान" करना चाहिए। जिस प्रकार धनुष से बाण द्रुतगति से निकल कर अपने लक्ष्य की ओर जाता है, उसी प्रकार का आचरण मनुष्य भी करे। आज हम देखते है कि न तो पिता-पुत्र मे और न ही सास-बहू मे बनती है। यदि प्राणी अपने जीवन के पचास वर्ष व्यतीत करने का बाद माया-मोह का परित्याग कर इस आश्रम को अगीकार कर ले तो उसे अपने पुत्रो व बहुओ से सम्मान प्राप्त हो सकता है तथा कलह की निवृत्ति भी हो सकती है। हमारा इतिहास इस प्रकार के उदाहरणो से भरा पडा है। इससे सम्बन्धित दो उदाहरण पर्याप्त हैं-(1) कस ने अपने पिता उग्रसेन को बन्दी बना कर स्वय शासक के पद को ग्रहण किया तथा (2) मुगल सम्राटों में औरगजेब ने भी इसी प्रकार अपने पिता शाहजहाँ को कारावास प्रदान किया।

सचमुच में साधना और तप से पूर्ण वानप्रस्थाश्रम का जीवन मोक्ष के मार्ग का दिग्दर्शक था। वह अपने पारिवारिक एव भावनात्मक सम्बन्धो को विच्छिन्न कर एकान्त तथा निडरता का जीवन व्यतीत करता था। कठोर व्यवस्थाओ और नियमबद्ध कर्त्तव्यों

संन्यासी का आचरण तथा महत्त्व–भारतीय ऋषियों की दृष्टि में यह सिद्ध अवस्था का जीवन था। जब व्यक्ति वानप्रस्थ अवस्था में कठोर तपस्या कर सांसारिक द्वन्द्वों पर विजय प्राप्त कर लेता था उस समय उसे कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता था। वह निरन्तर दुःखातीत जीवन व्यतीत करने का संकल्प कर लेता था। इसीलिए संन्यास आश्रम में प्रवेश के लिए पूर्ण वैराग्य एवं ज्ञान का होना अपरिहार्य था। इस आश्रम में प्रवेश के लिए व्यक्ति को गुरु की आवश्यकता होती थी। गुरु की आज्ञा एवं परीक्षा के बिना संन्यासी नहीं हुआ जा सकता था। "संन्यासी को चाहिए कि वह मन और इन्द्रियों को संयम से रखता हुआ मुनि वृत्ति से रहे और किसी वस्तु की कामना न करे। अपने लिए मठ या कुटी न बनवाए। निरन्तर घूमता रहे और जहाँ सूर्यास्त हो वहीं ठहर जावे। प्रारब्धवश जो भी मिल जाए उसी से जीवन निर्वाह करे। आशा व तृष्णा का सर्वथा त्याग करके सबके प्रति समता भाव रखे। भोगों से दूर रहे एवं हृदय में किसी प्रकार का विकार न आने दे। इन सब बातों के कारण इस आश्रम को "क्षेमाश्रम" (कल्याण प्राप्ति का स्थान) कहते हैं।

(महाभारत, शान्ति पर्व)

"संन्यासी इस संसार में आत्मनिष्ठा में स्थित सर्वथा अपेक्षा रहित मांस मद्य आदि का त्यागी आत्मा के सहाय से सुखार्थी हो कर विचार करे और सबको सत्योपदेश दे। सिर के सब बाल दाढ़ी, मूँछ और नखों का समय समय पर छेदन कराता रहे। पात्र दण्ड (लकड़ी) तथा गेरुए रंग के कपड़ों को धारण करे एवं प्राणीमात्र को कष्ट न देता हुआ विचरे। जो संन्यासी बुरे कर्मों से इन्द्रियों के निरोध राग द्वेष आदि दोषों के क्षय और निर्वैरता से प्राणियों का कल्याण करता है वह मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।" (मनुस्मृति)। संन्यासी के लिए अनेक व्रत थे। उसे घर ही समय का भोजन प्राप्त में उस समय भिक्षा माँगने जाना चाहिए जबकि सब लोग भोजन कर चुके हों। वह एक रात्रि से अधिक कहीं न ठहरे। यदि किसी को कोई अनुचित कार्य करता देखे तो तुरन्त बिना किसी भय के उसे रोक दे। वह किसी जाति या वर्ण विशेष में भेद न करे। विचरण करते समय वह अपनी दृष्टि इधर-उधर नहीं डालता था वरन् अपने पैरों की ओर दृष्टि गड़ा कर भूमि की तरफ देखता हुआ चलता था। संन्यासी के घर वाले उसका पुतला जलाकर अन्त्येष्टि क्रिया कर देते थे। उसके श्राद्ध आदि कर्म भी कर दिये जाते थे। वस्तुतः संन्यासी को इहलौकिक जगत् की दृष्टि में मरा हुआ माना जाता है।

संन्यास का प्रचलन प्रायः ब्राह्मणों में ही अधिक था। रामायण व महाभारत में क्षत्रिय और वैश्य संन्यासियों के विषय में कोई विवरण नहीं है। शूद्र के लिए तो केवल गृहस्थाश्रम ही था। विदुर के संन्यासी होने का उदाहरण अपवाद मात्र है। महाकाव्य काल के सभी संन्यासी प्रायः ब्राह्मण थे। पुराण काल में सम्भवतः ब्राह्मणेतर वर्ण के लोग भी संन्यास ग्रहण करने लगे थे किन्तु ऐसे उदाहरण कम हैं। "मित्रज्योति नामक शशक के पुत्र ने 'यति' धर्म का अनुकरण किया था।" (ब्रह्माण्ड पुराण)। "नहुष के पुत्र ने कुमारावस्था में ही वैखानस व्रत का पालन किया था।" (मत्स्य पुराण)। "सुन्दरीनन्द संन्यास ग्रहण कर तपस्वियों के नियमानुसार वन की ओर प्रस्थित हुआ था" (बुद्धचरित)। शुद्धता, सन्तोष, तप स्वाध्याय व ईश्वर का ध्यान संन्यासी के श्रेष्ठ नियम थे।

जाती थी। अपने जीवनकाल में व्यक्ति को इन चारों पुरुषार्थों को करना पड़ता था। ब्रह्मचर्य आश्रम में "धर्म" प्रमुख पुरुषार्थ था। इसमें व्यक्ति को धर्म के सभी पक्षों को सीखना और अभ्यास करना पड़ता था। उसे लौकिक धर्म और नैतिकता की जानकारी होती थी। गृहस्थाश्रम में "अर्थ" और "काम" प्रमुख पुरुषार्थ थे। इसमें व्यक्ति अपनी कामवासना की पूर्ति का अवसर प्राप्त करता था और अर्थ या धन अर्जित करके अपना तथा आश्रितों का पोषण करता था एवं अपने कर्तव्यों का निर्वाह करते हुए ऋणों से उऋण होने का प्रयास करता था। वानप्रस्थाश्रम में "धर्म" व "मोक्ष" पुरुषार्थ प्रमुख होते थे और अन्त में संन्यासाश्रम में "मोक्ष" सबसे बड़ा पुरुषार्थ था। संसार से पूर्णरूप से विरक्त होकर व्यक्ति चिन्तन-मनन करता हुआ ईश्वर प्राप्ति का प्रयत्न करता था।

"अपने बाह्य सामाजिक रूप में हिन्दूधर्म के दो अंग हैं वर्णव्यवस्था और आश्रमव्यवस्था। दुर्भाग्य से आश्रमों की अपेक्षा जाति-पाँति का महत्त्व अधिक बढ़ गया है। वर्ण जन्म के आधार पर व्यक्तियों को एक-दूसरे से अलग करती है किन्तु आश्रम प्रथा लोगों को ऐक्य की ओर खींचती है और सभी जातियों के लोगों को एक आश्रम से सम्बन्धित विशेष प्रकार के नियमों में बाँधती है जिससे वे निश्चित मार्ग से स्वाभाविक अवस्थाओं को पार करते हुए उन्नति की ओर बढ़ सकें।" "आश्रम व्यवस्था मानव जीवन के विभिन्न स्तरों का एक वैज्ञानिक विवरण है। यह वास्तव में एक महान् मस्तिष्क की उपज थी। इस व्यवस्था के कारण ही आर्य जीवन इतना पूर्ण और गौरवपूर्ण था। आर्य ऋषियों ने समाज सुधार के लिए सर्वप्रथम मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन को सुधारना अधिक उचित समझा था और उसी के फलस्वरूप आश्रमव्यवस्था का जन्म हुआ। इसका प्रमुख उद्देश्य जीवन को एक व्यवस्थित ढंग से निर्देशित एवं संचालित करना था जिससे कि व्यक्ति के लिए समुचित रूप से अपने जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त करना सम्भव हो जाये।" "इस व्यवस्था ने व्यक्ति के सर्वांगीण विकास पर बल दिया। इससे जीवन अर्थपूर्ण और आशावादी बना। यह व्यवस्था आधारभूत मानवीय विशेषताओं से ओत-प्रोत थी। इस व्यवस्था में निहित दृष्टिकोण एकाधिकारवादी प्रवृत्ति का दमन करता था।"

तीन ऋण

चारों आश्रमों में गृहस्थाश्रम को अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसमें मनुष्य को अनेक प्रकार के उत्तरदायित्वों का निर्वाह करना पड़ता था। इसके अन्तर्गत उसे अपने कुछ "ऋण" भी चुकाने होते थे और इसी आश्रम में वह कई ऋणों से मुक्ति भी पाता था। ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार व्यक्ति पैदा होते ही देवताओं पितरों ऋषियों और मनुष्यों का ऋणी हो जाता था। इन ऋणों से मुक्ति पाना मनुष्य का अनिवार्य कर्तव्य होता था। सभी व्यवस्थाकारों ने तीन ऋणों की चर्चा की है। मनुष्य इसीलिए सामाजिक प्राणी माना गया है। वह इनके सहयोग के बिना अपना अस्तित्व एकाकी बनाए रखने में समर्थ नहीं है। इन तीन प्रकार के ऋणों के नाम हैं-पितृऋण ऋषि ऋण और देव ऋण।

(1) पितृ ऋण–इस ऋण का विशेष सम्बन्ध पारिवारिक जीवन से है। समाज की उन्नति और विकास के लिए पितृ ऋण का सिद्धान्त अत्यन्त ही आवश्यक है। इस ऋण को सन्तानोत्पत्ति द्वारा चुकाया जाता है। सन्तान की उत्पत्ति का सम्बन्ध समाज के

यज्ञ के भेद–गृहस्थ के यज्ञ सम्बन्धी सामाजिक व सार्वजनिक कर्त्तव्य दो श्रेणियों में विभक्त हैं-(1) प्रतिदिन के, और (2) अवसर विशेष के। प्रथम समूह मे पच महायज्ञो की गणना होती है और द्वितीय के अन्तर्गत पाक, हवि तथा सोम यज्ञ आते हैं।

पच महायज्ञ–प्रतिदिन किए जाने वाले यज्ञो में पच महायज्ञ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैदिक काल में इन पाच दैनिक यज्ञो का बडा बोलबाला था। 'ये पच महायज्ञ विशालकाय यज्ञों के समान हैं' (शतपथ ब्राह्मण)। 'इनका प्रचार-प्रसार लगातार बढ रहा था।' (तैत्तिरीय आरण्यक)। इन पच महायज्ञो के पीछे जो भावना दृष्टिगत होती है, वह उदारता से सवलित है। प्रत्येक मनुष्य ब्राह्मण ग्रन्थो तथा श्रौत सूत्रो में वर्णित यज्ञो को सम्पन्न करने में असमर्थ है, किन्तु वह थोड़ी-सी अग्नि में समिधाओं अर्थात् यज्ञकाष्ठ की आहुति प्रदान कर सकता है और इसी प्रकार प्रत्येक मानव कुछ वैदिक मन्त्रों का उच्चारण कर अपने पूर्वज महान् ऋषियो के प्रति समादर की भावना व्यक्त कर सकता है। यही नहीं, यह एक लौटा पानी का प्रदान कर अपने पितरो के प्रति श्रद्धा समर्पित कर सकता है, जिसमें उसका कुछ भी खर्च नहीं होता है। यह पूरा चराचर जगत् एक ही सृष्टि की रचना है अत जीओ और जीने दो की भावना अथवा लेने और देने की भावना अवश्य होनी चाहिए। "त्याग, कृतज्ञता, आदर, प्रिय-स्मृति, दयालुता एव सहनशीलता की भावनाए आर्यों मे बहुत पूर्व उद्‌भूत हो गई दीखती हैं। इनका प्रतिबिम्ब पच महायज्ञों में झलकता है" (पी वी काणे)।

मनुष्य पर जन्म से ही तीन ऋण रहते हैं, जो पितृ ऋण, ऋषि ऋण और देव ऋण कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त मानव का अपने पारिवारिक बन्धुओ तथा सृष्टि के अन्य प्राणियो के प्रति भी दायित्व उपस्थित होता है। "ये पाचो उत्तरदायित्व क्रमश सन्तानोत्पत्ति, यज्ञ ज्ञानार्जन नृयज्ञ एव अन्य प्राणियो के प्रति भूत यज्ञ से चुकाए जाते हैं। पाच उत्तरदायित्वो और यज्ञो की यह भारतीय प्रणाली सस्कृति और नैतिकता की जननी है। इसके द्वारा प्रत्येक के लिए कर्म करना एक आवश्यक धर्म कार्य हो जाता है" (डॉ राधाकुमुद मुकर्जी)। मत्स्य पुराण के अनुसार "अग्नि जलाने में, पीसने में, कूटने में, जल का प्रयोग करने में तथा सफाई आदि करने में जो पाप होते थे-उनके प्रायश्चित स्वरूप प्राणी इन पाच महायज्ञो को सम्पादित करता था।" अनेक छोटे-मोटे कीट पतगे सर्वत्र उड़ा करते हैं। जब कूटने-पीसने का कोई काम होता है, तो ये जीव अनजाने में ही मारे जाते हैं और मनुष्य पाप का भागी हो जाता है। अत इस पाप से छुटकारा पाने के लिए पच महायज्ञों का विधान किया गया। "छोटे-छोटे जीवों के प्रति भारतीय विचारकों का यह ज्ञान-दर्शन विश्व की अनूठी दर्शन क्रिया है" (डॉ जयशकर मिश्र)।

मनु के अनुसार भी इन चुल्ली, पेषणी, उपस्कर, कड़नी और जलकुम्भ नामक पाँच पापों से मुक्ति के लिए पच महायज्ञो का विधान है। यही कारण है कि गृहस्थ के लिए यज्ञ करना आवश्यक समझा गया तथा इसके अनुष्ठान से व्यक्ति के लौकिक व पारलौकिक दोनों जीवन सुखमय माने गए। इन यज्ञों से मानव का जीवन विश्व के प्राणियों के साथ अनिवार्य रूप से सम्बद्ध रहता है एव वे परस्पर एक-दूसरे के प्रति सेवा और कर्तव्यों के बन्धन से जुड़े रहते हैं। सदाचार के मूल में भी यही धारणा है-

"अध्यापन ब्रह्मयज्ञ पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥" –मनुस्मृति, 3 70

अर्थात् पंच महायज्ञो के नाम हैं-(1) ब्रह्मयज्ञ, (2) पितृयज्ञ, (3) देवयज्ञ (4) भूतयज्ञ और (5) नृयज्ञ। ये क्रमश वेद का अध्ययन-अध्यापन करने से, हवन करने से, बलिवैश्यदेव करने से तथा अतिथियो का भोजन सत्कार करने से सम्पन्न होते हैं।

(1) ब्रह्मयज्ञ–ब्रह्मयज्ञ द्वारा मनुष्य अपने प्राचीन ऋषियो के प्रति श्रद्धा और आदर व्यक्त करता था। इस यज्ञ में व्यक्ति ऋषियो की वेदज्ञता और उनकी अद्भुत मेधा का स्मरण कर वेदमन्त्रो का पाठ करता था। इसके माध्यम से वह वेदों का अध्ययन ही नहीं करता था, अपितु उन्हे मौखिक स्मरण भी रखता था। आश्वलायन धर्मसूत्र के अनुसार वेदों का अध्ययन जीवन का प्रधान ऋण माना जाता था। इस याज्ञिक समारोह के अवसर पर स्वाध्याय की व्यवस्था की गई थी। इस प्रकार इस यज्ञ का तात्पर्य वेदो के अध्ययन-अध्यापन द्वारा सतत ज्ञान वृद्धि मे प्रयत्नशील रहना था। ज्ञानोपार्जन का प्रारम्भ तो ब्रह्मचर्याश्रम से ही हो जाता था, किन्तु सच्ची ज्ञानपिपासा तो इस आश्रम के पश्चात् ही आरम्भ होती थी, जबकि अन्तश्चक्षु अच्छी तरह खुल जाते थे तथा मौलिक विचार करने की क्षमता अधिक विकसित हो जाती थी। इस यज्ञ को अनिवार्य बनाने का यह भी उद्देश्य था कि कोई यह न समझे कि गुरुकुल से लौटकर विवाह आदि के पश्चात् ज्ञानोपार्जन का अन्त हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्मयज्ञ मे वेद के अध्ययन तथा अध्यापन द्वारा ज्ञानवृद्धि का समावेश हो जाता है। इस यज्ञ के महत्त्व को समझे बिना इस ससार में किसी प्रकार की उन्नति नहीं की जा सकती। इस यज्ञ का नियमित रूप से करने वाले व्यक्ति अपना अपने देश का, अपनी जाति एव समस्त मानव जाति का कल्याण करके अमरत्व को प्राप्त हो गये। "इसी यज्ञ को अपनाकर प्राचीन भारत ने जीवन के प्रत्येक पहलू को समझने वाले कितने ही महान् पुरुषो को जन्म दिया" (शिवदत्त ज्ञानी)।

(2) पितृयज्ञ–इसके अन्तर्गत मनुष्य पितरो अर्थात् मृत पूर्वजो के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करता था। ऐसा विश्वास था कि प्रत्येक व्यक्ति पर पितरो के भी ऋण हैं। यह ऋण पितृयज्ञ के सम्पादन के बाद ही समाप्त होता था। श्राद्ध के अवसर पर पितरो को पिण्ड, तर्पण आदि प्रदान किया जाता था। श्राद्ध और पिण्ड करने का अधिकार पुत्र को ही था। इसलिए पितृयज्ञ गृहस्थाश्रम मे ही सम्भव था। पितरो का तर्पण, बलि हरण, श्राद्ध आदि पितृयज्ञ के अन्तर्गत सम्पन्न किया जाता था। इस यज्ञ का एक मनोवैज्ञानिक कारण और भी था। इसमें ऐसे कार्यों का समावेश हो सकता है, जिनके करने से परिवार के वयोवृद्ध व ज्ञानवृद्ध व्यक्तियो को पूरा-पूरा सन्तोष प्राप्त हो। इसलिए यह आवश्यक नहीं कि वे वृद्ध उसी गृहस्थो के घर में ही रहते हो। वानप्रस्थ आदि आश्रम मे रहने पर भी उन्हें अपनी सन्तान के कुकर्म या सुकर्म के दु ख-सुख हुए बिना नहीं रह सकता। इस यज्ञ की आवश्यकता इसलिए होती है कि परिवार के वृद्ध व नवयुवको में विचार भिन्नता के कारण गृहकलह न होने पाये। ज्ञानप्राप्ति के पश्चात् भी एक व्यक्ति अपने कर्तव्यो से उन्मुख हो सकता है, जैसा कि आजकल कितने ही स्थानो पर देखा जाता है। समाज मे अच्छे समझे जाने वाले बहुत से सुशिक्षित व्यक्ति भी अपने वृद्धो को सन्तोष नहीं दे सकते। इतना ही नहीं, वे अपने कृत्यो से उन्हें कष्ट भी पहुँचाते हैं। आज नवयुवक व वृद्धो के मनो-मालिन्य तथा झगडो की जड में भी यही बात है। आजकल के शिक्षित पुत्र अपने वृद्ध माता-पिता के प्रति तटस्थ वृत्ति धारण करते हैं। कहीं-कहीं तो स्पष्ट रूप से विरोध भी करते हैं। आश्रम व्यवस्था के लोप हो जाने से वृद्ध व नवयुवक एक ही परिवार मे

साथ-साथ रहते हैं । उनका दैनिक जीवन गृहकलह से परिपूर्ण रहता है । इन झझटों को दूर करने के लिए ही भारत के प्राचीन ऋषियों ने पितृयज्ञ का निर्माण किया था जिससे पारिवारिक जीवन आनन्दपूर्वक व्यतीत किया जा सके ।

(3) देवयज्ञ– इस यज्ञ मे देवताओ का पूजन-अर्चन किया जाता था तथा बलि और अग्नि में आहुति देकर उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट की जाती थी । प्राय यह विश्वास किया जाता रहा है कि गृहस्थ के पास जो भी सुख-सुविधा के साधन हैं, वे सब ईश्वर प्रदत्त हैं । इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह देवताओ के प्रति आभारी रहे । इस यज्ञ मे आहुति और बलि प्रदान करने का विधान था । इनके माध्यम से देवताओ को वस्तुए समर्पित की जाती थीं । आहुति प्रदान करने से मनुष्य का कल्याण होता था । देव हवन द्विज के लिए अनिवार्य कर्त्तव्य था । विधिपूर्वक अग्नि में छोडी हुई आहुति सूर्य को प्राप्त होती थी । सूर्य से वृष्टि वृष्टि से अन्न और अन्न से प्रजा होती थी । यह यज्ञ पत्नी के बिना सम्भव नहीं था । इसलिए विवाहित होकर गृहस्थ बनना आवश्यक था । यज्ञ में आहुति देते समय इन्द्र अग्नि, प्रजापति, सोम, पृथ्वी आदि देवी-देवताओ के नाम के साथ "स्वाहा" किया जाता था । इस यज्ञ में "हवन" को महत्त्व प्राप्त है । ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार "स्वर्ग प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले को अग्निहोत्र करना चाहिए ।" स्वास्थ्य की दृष्टि से भी दैनिक हवन करना उचित है, क्योंकि इससे वायु की शुद्धि होकर वातावरण के दोष नष्ट हो जते हैं ।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश मे कहा है कि "दुर्गन्ध-युक्त वायु और जल से रोग रोग से प्राणियों को दु ख और सुगन्धियुक्त वायु तथा जल से आरोग्यता एव रोग के नष्ट होने से सुख प्राप्त होता है । घर मे रखे हुए पुष्प, इत्र आदि की सुगन्धि मे वह सामर्थ्य नहीं कि दूषित गृहस्थ वायु को निकाल कर शुद्ध वायु को प्रवेश करा सके । क्योंकि उसमें भेदक शक्ति नहीं है और अग्नि ही की सामर्थ्य है कि वह उस वायु तथा दुर्गन्धयुक्त पदार्थों को छिन्न-भिन्न व हलका करके पवित्र वायु का प्रवेश करा देती है । दुर्गन्धि जिस मनुष्य के शरीर से उत्पन्न होकर वायु और जल को बिगाड कर रोगोत्पत्ति का निमित्त होने से प्राणियों को जितना दु ख देती है, उतना ही पाप उस मनुष्य को होता है । इसलिए उस पाप के निवारणार्थ उतनी या उससे अधिक सुगन्धि वायु और जल मे फैलानी चाहिए ।"

विश्व मे अग्नि का बडा महत्व रहा है । मानव सस्कृति के विकास मे जो स्थान इसका रहा है वह किसी और का नहीं है । अग्नि मे पवित्र करने की इतनी दृढ शक्ति है कि गन्दी से गन्दी वस्तुए भी इसमे पड कर शुद्धता को प्राप्त हो जाती हैं । इस तथ्य को समझ कर ही यहाँ के प्राचीन ऋषि-महर्षियों ने अग्निहोत्र करने का आदेश दिया है । हवन का सम्बन्ध "वायुशुद्धि" से रहने के कारण दैनिक जीवन मे इसका महत्त्व और भी बढ जाता है । आधुनिक चिकित्साशास्त्र ने सिद्ध कर दिया है कि वायुमण्डल में इतने सूक्ष्म कीटाणु रहते हैं, जो नेत्रो से नहीं दीखते है, किन्तु वे विभिन्न रोगो को उत्पन्न करके वायु को दूषित करते हैं । इस दूषित वायु में रहने से मनुष्य को अनेको सक्रामक रोगो का शिकार होना पडता है । इसलिए श्वासोच्छ्वास मे शुद्ध वायु का उपयोग करना स्वास्थ्य के लिए नितान्त आवश्यक है । मनुष्य का जीवन अन्न जल तथा वायु पर निर्भर है । वायु की तो प्रतिक्षण आवश्यकता रहती है । वायु का न रहना या दूषित होना मृत्यु को आमन्त्रण

देना है । अतएव प्राचीन भारतीय ऋषियो ने यज्ञ आदि के रूप में वायु को शुद्ध करने का एक मार्ग निकाल लिया था ।

हवन मे अग्नि को कपूर, घी आदि से प्रज्वलित किया जाता है । उसमें चन्दन, अगर, तगर, नागरमोथा आदि अनेक सुगन्धित द्रव्या की आहुतियाँ दी जाती हैं और उन्हे अग्नि, इन्द्र, सोम, प्रजापति, विष्णु आदि देवो को समर्पित किया जाता है । प्रात तथा साय अग्नि मे जो सुगन्धित द्रव्य होमे जाते है और उनसे जो धुआँ निकलता है वह वायुमण्डल में फैल कर वायु की सब अशुद्धियो को दूर करके उसे पूर्णतया शुद्ध कर देता है । इस वायु शुद्धि से परिवार व समाज का स्वास्थ्य अच्छा रहता है । हवन करने से हानिकारक कीटाणुओ का विनाश होता है । वायु के साथ-साथ जल भी शुद्ध होता है और मेघो को वायु मे धारण करने की शक्ति भी बढती है । फलस्वरूप शरीर की जीवन धारण करने की शक्ति अर्थात् प्राणशक्ति बढती है ।

देवयज्ञ का एक अन्य अर्थ भी है । समाज मे जो देवता स्वरूप महान् आत्माए उसके सूत्रधार का काम कर रही है उनके प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझ कर एव उनके आदेशो पर चल कर, उनके जीवनोद्देश्य को सफल बनाने मे सहायक बनाना भी देवयज्ञ है । इस प्रकार देवयज्ञ सम्पादित करने का अर्थ है "समाज के नेताओ की बाते मान कर उनके आदेशानुसार अपने जीवन को बनाना ।" ऐसा यज्ञ प्राचीन भारत मे साधारणतया किया जाता था । जिस समाज मे ऐसा देवयज्ञ हो, वह उन्नति के शिखर पर चढे बिना नहीं रह सकता ।

(4) भूतयज्ञ–इसे "बलिवैश्वदेव" भी कहते हैं । मनु के अनुसार विधिपूर्वक गृह्याग्नि मे वैश्वदेव किए जाने पर ब्राह्मण प्रतिदिन इन देवताओ को होम करे । बलिवैश्वदेव करने की विधि यह है कि जो कुछ भाजन बना हो उसमें से थोडा-सा लेकर पाकशाला की अग्नि में डालना चाहिए तथा कुछ विशेष मन्त्रो का उच्चारण करना चाहिए । इसके बाद लवणान्न अर्थात् दाल, भात, रोटी आदि लेकर छ भाग भूमि पर रखे और उन्हे कुत्ता, पतित, श्वपच, वायस (कौआ), कृमि आदि को दे । इसका तात्पर्य मनुष्य का प्राणिमात्र के प्रति अपने कर्त्तव्य को समझने का है । इसमे निराधार या अन्य किसी कारण से स्वोदर निर्वाह करने मे असमर्थ प्राणियो को भोजन आदि से सहायता करने का भाव है । एक अन्य परम्परा भूतयज्ञ के माध्यम से समस्त प्राणियो के प्रति बलि-प्रदान की व्यवस्था मानती है । इसके अनुसार अनिष्टकारी प्रेतात्माओ को तुष्टि के लिए "भूतयज्ञ" सम्पन्न किया जाता था । बलि अग्नि में न डाल कर विभिन्न दिशाओ मे रख दी जाती थी । सभी को बलि या भोजन देने की भावना श्रेष्ठ थी । "सबके साथ भोजन करना श्रेयस्कर तथा अकेले भोजन करना पाप समझा गया ।"

(5) नृयज्ञ–इसे अतिथि यज्ञ भी कहते है । अतिथि सत्कार करना गृहस्थ का प्रधान धर्म माना गया है । सामाजिक, आत्मिक और नैतिक दृष्टि से नृयज्ञ का अत्यधिक महत्त्व था । इस यज्ञ का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक गृहस्थी अतिथियो के प्रति भी अपने उत्तरदायित्व एव कर्त्तव्यो को समझे । अतिथि चाहे किसी भी जाति का क्यो न हो, वह सत्कार योग्य माना गया था । तैत्तिरीय सहिता की सुप्रसिद्ध सूक्ति "अतिथि देवो भव" के अनुसार अतिथि को देवता माना था । उसे अत्यधिक महत्ता प्रदान की गई थी । उसके लिए

यह कहा गया कि "वह गृहस्थ का भोजन नहीं करता, अपितु उसके पापों का भक्षण करता है।" (अथर्ववेद)। कठोपनिषद् में वर्णन मिलता है कि-

"आशा प्रतीक्षे संगतं सूनृतां च
इष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान्।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो
यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे।"

अर्थात् जिसके घर में अतिथि ब्राह्मण भूखा रहता है, उस न्यूनबुद्धि वाले मनुष्य की आशा, प्रतीक्षा और उससे मिलने वाले सुख, श्रेष्ठ वाणी, कामना पूर्ति, पुत्र, पशु आदि वैभव सब को ही क्षुधातुर अतिथि नष्ट कर डालता है। कुछ शास्त्रकारों ने चाण्डाल अतिथि तक की सेवा करने का निर्देश दिया है। अतिथि चाहे प्रिय हो या अप्रिय, उसका सत्कार व्यक्ति को स्वर्ग पहुँचाने वाला होता था। "जो व्यक्ति अतिथि को एक रात अपने घर में ठहराता था, वह पृथ्वी के सुखों को प्राप्त करता था। यदि दो रात ठहराता था, तो अन्तरिक्ष लोकों की विजय प्राप्त करता था। यदि तीन रात ठहराता था, तो वह स्वर्गीय लोकों को पाता था और यदि अतिथि को अनेक रात ठहराता था, तो वह अनेक सुखों को प्राप्त करता था" (बौधायन धर्मसूत्र)। मनु के अनुसार अतिथि का लक्षण है, "जो पूर्ण विद्वान्, परोपकारी, जितेन्द्रिय, धार्मिक, सत्यवादी छल-कपट रहित व नित्य भ्रमण करने वाला हो"-जब ऐसा कोई अतिथि घर पर आवे, तब गृहस्थ अत्यन्त प्रेम से उठ कर नमस्कार करके उसे उत्तम आसन पर बैठाये, तदनन्तर पूछे कि आपको जल या अन्न जिस वस्तु की इच्छा हो, उसे आप कहिए। इस प्रकार उसे प्रसन्न करके स्वयं स्वस्थचित्त होकर उसकी हर तरह से आवभगत करे, जिससे कि वह अतिथि पूर्णरूप से सन्तुष्ट हो जाये।

इस प्रकार पंच महायज्ञ के सिद्धान्त ने गृहस्थ को प्रत्येक दृष्टि से उन्नतिशील बनाने की चेष्टा की है। नैतिक और धार्मिक धरातल पर स्थित ये पंचमहायज्ञ जीवन के सांस्कृतिक पक्ष को विकसित करने वाले थे। जो व्यक्ति गृहवासी होकर निरन्तर इन यज्ञों के पालन में व्यस्त रहते थे, वे आत्मशुद्धि के समुचित मार्ग का दिग्दर्शन कर लेते थे। मनुष्य को धर्म के प्रति सचेष्ट करना इसकी प्रधान भावना थी। इन यज्ञों का विधिवत् सम्पादन करना प्राचीन पारिवारिक जीवन का एक विशेष अंग था। इसी से जीवन का सच्चा आनन्द प्राप्त होता था।

अवसर विशेष के यज्ञ—इनमें पाक, हवि और सोम यज्ञ आते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में वैदिक कर्म पाँच भागों में विभक्त हैं-(1) अग्निहोत्र, (2) दर्शपूर्णमास, (3) चातुर्मास्य, (4) पशु, तथा (5) सोम। स्मृति एवं कल्प ग्रन्थों में स्मार्त तथा कर्मों को सम्मिलित संख्या 21 मानी गई है, जो इन तीनों संस्थाओं में विभक्त है-

(1) पाकयज्ञ संस्था—इसमें ये 7 यज्ञ हैं-(1) औपासन होम, (2) वैश्व देव, (3) पार्वण, (4) अष्टका, (5) मासिक श्राद्ध, (6) श्रवणा और (7) शूलगव। ब्राह्मण को प्रतिदिन स्नान करने के बाद संध्या वन्दन से निवृत्त होकर प्रातः काल उचित समय पर औपासन होम करना चाहिए। गोभिल स्मृति के अनुसार होम करने का समय सूर्योदय से पूर्व का है। सायंकाल के होम का समय वह है, जबकि आकाश में तारे स्पष्ट रूप से

दिखाई देने लगें और अन्तरीक्ष मे लालिमा नहीं रहे। पाकयज्ञ में पकाया हुआ भोजन पितरो को दिया जाता है। इस प्रकार यह पच महायज्ञों के पितृयज्ञ का विकसित रूप है। पाक यज्ञो में, जो कि सात प्रकार के हैं, केवल पक्व भोजन ही नहीं दिया जाता है अपितु चावल, रोटियाँ एव घी तथा मास की भी अग्नि में आहुति दी जाती है। आहुतियाँ पितरो तथा देवो दोनों के उद्देश्य से दी जाती हैं। इस यज्ञ के सातो भेद श्राद्ध या पिण्डदान के नाम से प्रसिद्ध हैं। पच महायज्ञो में प्रथम ब्रह्मयज्ञ या अहुत को वैश्वदेव माना गया है। इसमें प्रात और साय यज्ञ करने का विधान है। पार्वण प्रत्येक पूर्णिमा और शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को किया जाता है। अष्टका यज्ञ पोष (जनवरी व फरवरी), माघ (फरवरी व मार्च) और फाल्गुन (मार्च व अप्रैल) के कृष्ण पक्ष के आठवे दिन किया जाता है। मासिक श्राद्ध प्रत्येक महीने की निश्चित तिथियो को होता है। श्रवणा या श्रावणी श्रावण की पूर्णिमा को होती है। इसमे सापो को, जो उस समय अधिक दिखाई पडते हैं पूजा की जाती है तथा अग्नि मे होम किया जाता है। शूलगव या ईशान बलि माघ (नवम्बर तथा दिसम्बर) की पूर्णिमा को किया जाता है। इसे "सुलगावा" भी कहते हैं। इसमे ईशान (शिव) को गौमास और पका हुआ चावल दिया जाता है।

(2) हविर्यज्ञ सस्था—इसमे भी 7 यज्ञ हैं, जिनके नाम ये हैं-(1) अग्निहोत्र (2) दर्शपूर्णमास, (3) आग्रयण, (4) चातुर्मास्य, (5) निरूढपशुबन्ध (6) सौत्रामणि और (7) पिण्डपितृयज्ञ। इन हविर्यज्ञो में देवताओ के लिए घी दूध यव सुरा और मास मिश्रित हवि अग्नि को दी जाती है। ये यज्ञ पच महायज्ञो के देवयज्ञ के विकसित रूप हैं। इन यज्ञो के अपने-अपने अलग स्वरूप हैं। हविर्यज्ञ को गृहस्वामी गृह के कल्याण के लिए चार पुरोहितो के साथ करता है। इनके नाम (1) अध्वर्यु (2) अग्निधर (3) होता, और (4) ब्रह्मा हैं। इन सात यज्ञो मे प्रथम अग्निहोत्र में गृहस्वामी और उसकी पत्नी साथ-साथ प्रात एव साय दोनो समय स्थायी रूप से अग्नि को स्थापित करते हैं। यह एक प्रकार से अनिवार्य नित्य कर्म माना जाता है जिसमे अन्य पुरोहित की आवश्यकता नहीं है। अग्निहोत्र मे मुख्यत दूध की तथा गौणत यवागू (जौ या चावल का वह माड, जो सडा कर कुछ खट्टा कर दिया जाता है), तण्डुल (छिलका निकला हुआ चावल), दधि तथा घृत की आहुति दी जाती है। इसे इष्टि-यज्ञ कहा जा सकता है, दर्शपूर्णमास शुक्ल पक्ष की दर्श अर्थात् प्रतिपदा और पूर्णमास अर्थात् पूर्णिमा को किया जाता है। इसमें अग्नि और सोम को पुरोडाश दिया जाता है। पुरोडाश अपूप या गुलगुले जैसा एक विशेष प्रकार का बना हविष्यान्न होता है। "पुरोडाश से तात्पर्य चावल के आटे से बनी हुई उस टिकिया से है, जो कपाल में पकाई जाती थी। यज्ञ मे इसको टुकडे काटकर और मन्त्र पढकर देवताओ के उद्देश्य से आहुति दी जाती थी।" (**सस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ**)।

इसमे पितरो को पिसे हुए चावल का पिण्ड दिया जाता है अत यह "पिण्डपितृ" भी कहा जाता है। इसकी प्रधान क्रियाओ में और ब्राह्मण भोजन जैसे साधारण कार्यों के करने में दो दिन लगते हैं। यह पच महायज्ञ का विकसित रूप है। दर्श याग मे आग्नेय पुरोडाश याग, इन्द्रदेवताक दधिद्रव्यक याग तथा इन्द्रदेवताक पयोद्रव्यक याग से तीन याग होते हैं। पौर्णमास याग में अग्निदेवताक अष्टाकपाल पुरोडाश याग अग्निषोमीय आज्यद्रव्यक उपाशु याग तथा अग्निषोमीय एकादश कपाल पुरोडाश याग ये तीन याग होते हैं। इस प्रकार छ• यागो की समष्टि दर्शपूर्णमास है। आग्रयण इष्टि धान और यव जैसे नवीन

उत्पन्न द्रव्यो द्वारा शरद् व बसन्त ऋतु में किया जाने वाला यज्ञ है। इसमें पुरोडाश तथा चरू (यज्ञ में आहुति देने के लिए पकाया हुआ अन्न) द्रव्य समर्पित किया जाता है। मोटे रूप में यह यज्ञ कर्क सक्रान्ति (21 जून) और मकर सक्रान्ति (21 दिसम्बर) के अवसर पर ऋतुकालीन चावल यव फल आदि से किया जाता है। यह नित्य इष्टि है, जिसे परिवार के कल्याणार्थ सम्पन्न करने के बाद ही नया अन्न भक्षण किया जाता है।

चातुर्मास्य यज्ञ प्रत्येक चार मास बाद किया जाता है। उसमें चार पर्व होते हैं (1) वैश्वदेव (2) वरुण प्रघास, (3) साकमेध और (4) शुनासीरीय। ये क्रमश फाल्गुनी पूर्णिमा (फरवरी-मार्च) आषाढी पूर्णिमा (जून-जुलाई) कार्तिकी पूर्णिमा (अक्टूबर-नवम्बर) तथा फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा को किए जाते हैं। इन चारों पर्वों पर यजमान को सिर के बाल साफ कराने होते थे तथा दाढी बनानी पडती थी। वह शयन के लिए खाट का उपयोग नहीं कर सकता था। मास शहद नमक तथा रतिक्रीडा उसके लिए वर्जित थी। चातुर्मास्य मे पच महायज्ञ किए जाते थे। इनको गृहस्थ जीवनपर्यन्त अथवा एक वर्ष के लिए स्वीकार करता था। वरुण प्रघास वर्षा ऋतु मे घर के बाहर सम्पन्न होता था। इस अवसर पर उत्तर और दक्षिण दिशा में दो वेदियाँ बनाई जाती थीं। यज्ञकर्त्ता नदी मे अवभृथ (स्नान) करता था। साकमेध दो दिन में होता था। इसमें रुद्र के लिए त्रयम्बक होम भी होता था। शुनासीरीय पर्व में शुनासीर (इन्द्र), वायु और सूर्य के लिए हविष्यान्न प्रस्तुत किया जाता था।

निरुढ पशुबन्ध प्रतिवर्ष वर्षा ऋतु में किया जाने वाला यज्ञ है, जो पूर्णिमा या शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को किया जाता है। इस यज्ञ में किसी पशु प्राय छाग (बकरा) का ही बलिदान किया जाता है। खदिर (कत्थे का वृक्ष) या बिल्व से निर्मित यूप (खम्भे) से छाग को बाँध कर "सज्ञपन" करते हैं। सज्ञपन का अर्थ है शस्त्रघात के बिना ही पशु का मुह बन्द कर श्वास रोकने से मारना। सौत्रामणि यज्ञ भी पशु-याग का ही एक प्रकार है। इस यज्ञ में आहुतियोग्य पशु अज (बकरा) मेष (मेंढा) और ऋषभ (साड) तीन होते हैं तथा देवता भी अश्विनी सरस्वती एव इन्द्र होते हैं। पिण्डपितृ यज्ञ में पितरो के उद्देश्य से यज्ञ का विधान होता है। इसमे पवित्र अग्नि की स्थापना की जाती है जिसके लिए अग्निकाष्ठ (अरणी) सग्रह करने में दो-तीन दिन लगते हैं। इसमें कुटुम्ब के कल्याण के लिए आहुतियाँ दी जाती हैं।

(3) सोम सस्था–इसमें आने वाले 7 यज्ञ यो हैं-(1) अग्निष्टोम, (2) अत्यग्निष्टोम (3) उक्थ्य (4) षोडशी, (5) वाजपेय (6) अतिरात्र, और (7) आप्तोर्याम। सोमयाग आर्यों का अत्यन्त प्रसिद्ध यज्ञ था। इसका प्रचलन पारसी लोगों में भी था। यह बहुत ही विस्तृत दीर्घकालीन व बहुत व्ययसाध्य कार्य था। कालगणना की दृष्टि से सोमयाग के तीन भेद हैं-(1) एकाह (एक दिन में साध्य याग) (2) अहीन (दो दिन से लेकर बारह दिनों तक चलने वाला यज्ञ), तथा (3) सत्र (तेरह दिनों से आरम्भ कर पूरे वर्ष तक तथा एक हजार वर्षों तक चलने वाला याग)। सोमलता के रस की आहुति देने से यह सोमयाग कहलाता है। यह सोमरस वैदिक आर्यों का प्रधान पेय था, जिसे वे अपने इष्ट देवता को अर्पित कर स्वय पीते थे। सोमयाग में सोलह ऋत्विजों का कार्य होता था। इस यज्ञ में अग्नि में आहुति प्रदान करने के अतिरिक्त पशु बलि, गेय सूक्तों का पाठ व सम्मिलित रूप से प्रार्थना करना आदि भी था। ये वर्षान्त में किए जाते थे

परन्तु पूरे जीवन में तीन बार से अधिक नहीं होते थे। सोमपान करना द्विज विशेष रूप से ब्राह्मणों के लिए ही था। क्षत्रिय लोग राजसूय अश्वमेध आदि अर्थसाध्य यज्ञ करते थे।

ऋचा पर साम गान अग्निष्टोम कहलाता है। यह प्रकृति याग है जो पाच दिन तक चलता है। इसमें अग्निदेव की प्रार्थना विशेष रूप से की जाती है। अत्यग्निष्टोम में 16 पुरोहित रहते हैं। इसमें तीन पशुओं की बलि तेरह गीत और तेरह स्तुतियाँ का जाती हैं। उक्थ्य का तात्पर्य "उक्थ्य नामक साम से समाप्य याग" है। इसमें अग्निदेव की उक्थ (प्रशसा) या स्तुति की जाती है। षोडशी इष्टि मे उक्थ्य के अन्तर एक षोडशी नामक स्तोत्र भी विद्यमान रहता है। यह यज्ञ एक ही दिन मे समाप्त होता है। वाजपेय का उद्देश्य अपनी शक्ति (वाज) का प्रदर्शन करना है। इसमे प्रजापति देवता के लिए सतरह गीत तथा सतरह स्तुतियो का पाठ किया जाता है एव सतरह पशुओ की बलि दी जाती है। यह सतरह दिन तक शरद् काल मे ब्राह्मण या क्षत्रियो द्वारा ऐश्वर्य प्राप्ति के निमित्त सम्पन्न होता है। अतिरात्र यज्ञ अधिक रात बीत जाने पर प्राय मध्य रात्रि मे समाप्त होता है। आप्तोर्याम यज्ञ का उत्सव पूरे दिन व रात भर होता रहता है। इसका उद्देश्य यश और नाम अर्जित करना है।

राजसूय व अश्वमेध यज्ञ– चक्रवर्ती क्षत्रिय राजाओ के सन्दर्भ मे राजसूय यज्ञ का नाम विशेष रूप से आता है। इसकी गणना महान् और विशेष यज्ञ के अन्तर्गत होती है। यह महायज्ञ राज्यारोहण के अवसर पर होता था। इसका प्रारम्भ वसन्त से होता था तथा यह दो वर्ष तक चलता रहता था। इसमें साधारण आहुतियाँ पशुओ का बलिदान तथा सोम वितरण आदि सामान्य कर्म किए जाते थे। इसका मुख्य उद्देश्य सर्वोच्च सत्ता की स्थापना थी। पराजित एव अधीनस्थ राजाओ को इसमें उपस्थित होना पडता था और अपनी अधीनता सूचित करने के लिए उन्हे विविध उपहार तथा अटूट राजभक्ति भी प्रदर्शित करनी होती थी। पासा खेलने व खाने-पीने के साधारण उत्सव भी इसी प्रसग में होते थे। इसमें पुरोहितो और अतिथियो को भी उपहार दिए जाते थे। अश्वमेध नामक सुप्रसिद्ध यज्ञ में घोडे की बलि दी जाती थी। वसन्त से प्रारम्भ होने वाला यह यज्ञ साल भर मे समाप्त हो जाता था। इसका मूल उद्देश्य विजित तथा अविजित राजाओ पर अपना आधिपत्य स्थापित करना था। इसमे एक अश्व वर्ष भर इधर-उधर घूमने के लिए छोड दिया जाता था जिसके पाछे एक सेना रहती थी। जो राजा घोडा छोडने वाले नरेश का आधिपत्य स्वीकार नहीं करता था वह उस घोडे को रोक कर सेना के पराजित होने तक युद्ध करता था। ऐसी परिस्थितियाँ प्राय बहुत कम आती थीं और घोडा यज्ञ होने तक बाँध कर रखा जाता था। आगे चल कर इसका महत्त्व इतना अधिक बढ गया कि ऐसे एक सौ यज्ञो को करने वाला राजा इन्द्र को भी स्वर्ग के राज्य से पदच्युत करने मे समर्थ हो जाता था।

यज्ञवेदी की रचना– यज्ञ के प्रयोगो का समर्थक शास्त्र कल्प कहलाता है जो वैदिक कर्मकाण्ड अर्थात् यज्ञ-याग के यथार्थ अनुष्ठान के लिए प्रवृत्त होता है। यह छ वेदागो मे से एक है। इसमे वेदी के निर्माण की रीति का विशिष्ट रूप से प्रतिपादन है। यह आर्यों के प्राचीन ज्यामिति सम्बन्धी कल्पनाओ तथा गणनाओ का प्रतिपादक होने से वैज्ञानिक महत्त्व रखता है। इसमे विभिन्न यज्ञो में प्रयुक्त होने वाली वेदियो के स्वरूप व आकृति का विवरण है। इसमे वेदी की लम्बाई चौडाई गहराई किधर मुख होना चाहिए, कितनी ईंटो का उपयोग हो आदि का सूक्ष्म दृष्टि से विश्लेषण प्राप्त होता है। जिन

वेदियो पर बडे यज्ञ किए जाते थे , उनके 10 विभिन्न रूप थे-(1) चतुस्त्रश्येनचित् (आकार में श्येन या बाज पक्षी की तरह और चौकोर ईंटों से निर्मित), (2) ककचिंत् (कक या बगुले के आकार को दो परों वाली), (3) अलजचित् (अलज नामक पक्षी के आकार को पख वाली), (4) प्रौगचित् (समानभुज त्रिभुजाकार वाली), (5) उभयत प्रौगचित् (दो त्रिभुज के आधार पर सयुक्त होकर निर्मित), (6) रथचक्रचित् (रथ के विशाल पहिए के समान), (7) द्रोणचित् (एक चौकोर या गोलाकार पात्र के तुल्य), (8) परिछायाचित् (एक केन्द्र वाले छ वृत्तों के रूप में रखी गोलाकार ईंटो वाली), (9) समुह्यचित् (गीली मिट्टी व ईंटो से बनाई गई गोल आकृति वाली), तथा (10) कूर्मचित् (त्रिभुज या वृत्त की भाँति कछुए के आकार वाली) । प्रत्येक वेदी में ईंटो के पाँच स्तर होते थे , जो मिलकर घुटने की ऊँचाई तक आते थे । प्रत्येक स्तर में दो सौ ईंटें होती थीं ।

यज्ञ के लिए समय-शुद्धि की बडी आवश्यकता रहती थी । इस हेतु वेदाग "ज्योतिष" बना । इसमें कुछ विधानो का सम्बन्ध सवत्सर से तथा कुछ का ऋतु से है । "ब्राह्मण वसन्त में अग्नि का आधान (स्थापना) करे, क्षत्रिय ग्रीष्म में तथा वैश्य शरद् ऋतु में" (तैत्तिरीय ब्राह्मण) । कुछ यज्ञ विशिष्ट मासो या पक्षो में किए जाते थे । विशेष तिथि अष्टका फाल्गुनी पूर्णमासी में दीक्षा का विधान पाया जाता है । प्रत्येक अग्निहोत्री को प्रात तथा साय अग्नि में दुग्ध या घृत से हवन का नियम है । इस प्रकार नक्षत्र, तिथि, पक्ष, मास ऋतु तथा सवत्सर, जो काल के समस्त खण्ड हैं, इनके साथ यज्ञ-याग का विधान वेदो में पाया जाता है । इन नियमों के यथार्थ निर्वाह के लिए ज्योतिष का ज्ञान आवश्यक है । इसीलिए ज्योतिष को भली-भाँति जानने वाले को यज्ञ का यथार्थ ज्ञाता स्वीकार किया गया है

"यो ज्योतिष वेद स वेद यज्ञम् ।" (वेदाग ज्योतिष)

भारतीय सस्कृति के उन्नयन मे वर्ण और आश्रम-व्यवस्था के साथ ऋण तथा यज्ञो का विधान महत्वपूर्ण माना जाता है । इन सभी का विधान सामाजिक धार्मिक, नैतिक तथा मानसिक विकास के लिए किया गया था । सक्षेप में ये तत्त्व भारतीय जीवन के मुख्य आधार रहे हैं ।

अध्याय 5
संस्कार

भारतीय समाज मे प्राचीनकाल से ही सस्कारो का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। ये मनुष्य के व्यक्तिगत व सामाजिक विकास को सम्पन्न करने तथा उसके दैहिक और भौतिक जीवन को सुव्यवस्थित बनाने हेतु आवश्यक हैं। व्यक्ति के असस्कृत स्वरूप को सुसस्कृत एव अनुशासित करने के निमित सस्कारो की योजना प्रस्तुत की गई। अप्रत्यक्ष रूप से मनुष्य के जीवन पर अपना कुप्रभाव डालने वाले अदृश्य विघ्नो से निरापद होने के लिए भी इनका निर्धारण हुआ। सस्कारो की प्रधान विशेषताए शुद्धता आस्तिकता धार्मिकता और पवित्रता मानी गई। इनका मूल आधार धर्म यज्ञ और कर्मकाण्ड रहा। मनुष्य का आध्यात्मिक और सास्कृतिक जीवन सस्कारो की निष्पन्नता से प्रभावित होता रहा है। इस प्रकार सस्कार का आधार धर्म है जिसके माध्यम से मनुष्य अपने जीवन को उन्नत, परिष्कृत और सुसस्कृत बनाता है।

सस्कार का अर्थ तथा महत्त्व–"सस्कार" शब्द में सम् उपसर्ग कृ धातु तथा घ प्रत्यय है, जिसका अर्थ शुद्धता या परिष्कार है। अग्रेजी में सस्कार के लिए "सेक्रामेंट" शब्द प्रयुक्त किया जाता है, जिसका अर्थ "धार्मिक विधान" होता है। मीमासा दर्शन मे सस्कार का आशय "विधिवत् शुद्धि" से है तथा अद्वैतवाद मे इसे आत्मव्यजक शुद्धि माना गया है। मानव जीवन सस्कार से ही परिशुद्ध होता है। जन्म से प्रत्येक मनुष्य शूद्र या असस्कृत होता है, किन्तु वह सस्कार से ही द्विज कहलाता है

"जन्मना जायते शूद्र , सस्काराद् द्विज उच्यते।"

इससे प्राणी मणि की तरह देदीप्यमान हो जाता है। उसका शारीरिक मानसिक बौद्धिक, वैयक्तिक, सामाजिक और धामिक जीवन भी उन्नत हो जाता है। प्राचीन भारत में सस्कार का आधार "धर्म" था तथा यह विचार व्यापक था कि सस्कारो द्वारा मनुष्य जीवन को उन्नत बना कर अपना आध्यात्मिक विकास करता है। इसी धार्मिक आधार के कारण सस्कार मे यज्ञ, हवन तथा कर्मकाण्ड की प्रबलता रही। इन्हीं के माध्यम से अभीष्ट की प्राप्ति और प्रयोजन की सिद्धि मानी गई। "देवताओ को प्रसन्न करने के लिए तथा अपने जीवन को सुखमय बनाने के लिए विभिन्न सस्कारो की प्रतिष्ठा की गई।" ये व्यक्ति के जीवन मे इस प्रकार छाए रहते हैं कि व्यक्ति का जीवन सस्कारा का ही दूसरा रूप माना जाता है। दूसरे शब्दो में हम कह सकते हैं कि "**मनुष्य का जीवन सस्कारों से परिचालित है।**" इसीलिए यह भी कहा जाता है कि "**पूर्ण सास्कृतिक भारतीय सस्कार-सम्पन्न होगा ही।**"

पत्नी के ऋतुस्नान की चौथी रात्रि से सोलहवीं रात्रि तक का समय गर्भ धारण के लिए उपयुक्त समझा जाता था। वीरमित्रोदय सस्कार प्रकाश मे व्यास के वचनो को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि "चौथी रात्रि में धारण किया हुआ पुत्र अल्पायु और धनहीन होता है। पाँचवीं रात्रि मे गर्भ धारण की हुई स्त्री कन्या सन्तति को ही जन्म देती है। छठी रात्रि का बच्चा मध्यम श्रेणी का अर्थात् उदासीन होता है। सप्तम रात्रि की कन्या वन्ध्या होती है। आठवीं रात्रि का लडका सम्पत्ति का स्वामी होता है। नवीं रात्रि के गर्भ से शुभ पुत्री उत्पन्न होती है। दसवीं रात का पुत्र बुद्धिमान् होता है। ग्यारहवीं रात्रि को लडकी अधार्मिक होती है। बारहवीं रात्रि का पुत्र सर्वश्रेष्ठ तेरहवीं रात्रि की कन्या दुराचारिणी, चौदहवीं रात्रि का पुत्र धार्मिक कृतज्ञ सयमी और दृढप्रतिज्ञ होता है। पन्द्रहवीं रात्रि की कन्या बहुत पुत्रो की मा एव पतिव्रता स्त्री होती है तथा सोलहवी रात्रि का पुत्र विद्वान्, श्रेष्ठ सत्यवादी जितेन्द्रिय और समस्त प्राणियो के लिए शरण देने वाला होता है।"

रात्रि काल मे गर्भाधान का विधान किया गया था। दिन मे इसका निषेध था। पति ही इस सस्कार का कर्त्ता होता था किन्तु विशेष परिस्थितियो मे पति के अतिरिक्त दूसरे कर्त्ता का भी उल्लेख किया गया है

"गर्भाधानादिसस्कर्ता पिता श्रेष्ठतम स्मृत ।
अभावे स्वकुलीन स्याद् बान्धवो वान्यगोत्रज ॥"

अर्थात् सस्कारो का सर्वोत्तम कर्त्ता पिता है किन्तु उसकी अनुपस्थिति मे या तो उसी कुल का कोई व्यक्ति अथवा कोई अन्य गोत्र का मित्र इन सस्कारों को करे। ऋग्वेद (10.40 2) में एक विधवा अपने देवर को पति हेतु सन्तति उत्पन्न करने के लिए आमन्त्रित करती है। यह सस्कार प्रथम गर्भाधान के समय किया जाता था। क्योंकि ऐसा विश्वास था कि एक बार पवित्र किया हुआ क्षेत्र भविष्य के प्रत्येक गर्भ को पवित्र बनाता है। बिना गर्भाधान सस्कार किए हुए स्त्री मे उत्पन्न बच्चा अपवित्र माना जाता था। यह सस्कार स्त्री एव पुरुष द्वारा कुछ स्तुतियो के रूप मे सम्पन्न होता था। इसे निषेक (ऋतु सगम), चतुर्थी कर्म तथा चतुर्थी होम भी कहा जाता था। अल्बेरुनी ने इस सस्कार के उल्लेख मे लिखा है कि "क्योंकि इस सस्कार के सम्पादन में समय तथा उद्देश्य को अनिश्चितता के साथ-साथ लज्जा का भी समावेश रहता था अत कभी-कभी इसका सम्पादन नहीं किया जाता था।'

(2) पुसवन–"पुमान् प्रसूयते येन कर्मजा तद् पुसवनमीरितम्" अर्थात् जिस कर्म के अनुष्ठान से पुरुष सन्तति का जन्म हो उसे पुसवन कहते हैं। यह निश्चय हो जाने पर कि किसी स्त्री ने गर्भ धारण कर लिया है गर्भस्थ बच्चे को पुसवन सस्कार द्वारा अभिषिक्त किया जाता था। इसके अनुष्ठान से समझा जाता था कि इस स्त्री के पुत्र होगा और यदि पुत्री भी होती तो भी यह सोचा जाता था कि यह आगे चल कर पुरुष सन्तति उत्पन्न करेगी–

"व्यक्त गर्भे द्वितीये तु मासे पुसवन भवेत् ।
गर्भेऽव्यक्ते तृतीये चतुर्थे मासि वा भवेत् ॥ '

अर्थात् पुसवन सस्कार गर्भ स्थापित होने के पश्चात् दूसरे महीने मे किया जाना चाहिए। यदि गर्भ का लक्षण अव्यक्त हो तो तीसरे या चौथे मास मे सम्पन्न करे। कुछ

विद्वान् इस संस्कार के अनुष्ठान का समय गर्भ के दूसरे मास से आठवें मास तक का मानते हैं। क्योंकि विभिन्न स्त्रियो मे गर्भाधान के चिह्न विभिन्न कालों में प्रकट होते हैं। यह संस्कार प्रत्येक गर्भधारण में किया जाये अथवा केवल गर्भधारण के समय ही, इस विषय में भी मतभेद है। शौनक के अनुसार यह संस्कार प्रत्येक गर्भधारण के बाद करना चाहिए, किन्तु याज्ञवल्क्य आदि का कथन है कि प्रथम गर्भधारण के समय ही होना चाहिए ? यह संस्कार प्राय उसी समय किया जाता था, जब चन्द्रमा किसी पुरुष नक्षत्र में होता था। यह संस्कार न्यूनाधिक रूप मे आयुर्वेद के अनुभव पर आधारित प्रतीत होता है क्योंकि इसमें गर्भिणी स्त्री की घ्राणेन्द्रिय (नासिका) के दाहिने छेद (रन्ध्र) में बट वृक्ष का रस छोडा जाता था ताकि उसे गर्भपात न हो।

आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार "गर्भावस्था के तृतीय मास में पति दिन भर उपवास की हुई पत्नी को गाय के दही में एक यव का बाल और दो माष (उडद) के दाने मिला कर तीन बार पीने को दे और प्रत्येक बार उससे पूछे तुम क्या पी रही हो ? पत्नी की प्रत्येक बार "पुसवने, पुसवने" कहना चाहिए।" इस संस्कार मे "सुपर्णोऽसि" आदि मन्त्रों के द्वारा सुन्दर तथा स्वस्थ शिशु के जन्म की कामना व्यक्त की जाती थी। ऐसा विश्वास व्याप्त था कि इस संस्कार के सम्पादन से पुत्र उत्पन्न होने में बाधा उपस्थित करने वाली स्थितियो का देवपूजन के माध्यम से निवारण होता था।

(3) सीमन्तोन्नयन–गृह्यसूत्रो मे यह सम्भावना व्यक्त की गई है कि "स्त्री द्वारा गर्भ धारण करने पर अनेक राक्षसियाँ (व्याधियाँ) गर्भ को समाप्त करने या भावी सन्तान को पीडा एव हानि पहुँचाने के लिए उद्यत रहती हैं। इसके लिए पति को "श्री" का आवाहन करके इन व्याधियो को भगा देना चाहिए" (आश्वलायन)। "**सीमन्त उन्नीयते यस्मिन् कर्मणि तत् सीमन्तोन्नयनम् इति कर्मणि नामधेयम्**" अर्थात् जिस कृत्य मे गर्भवती स्त्री के सीमन्त (बालो) को उन्नयन किया (ऊपर उठाया) जाता था, उसे सीमन्तोन्नयन कहते थे। स्त्री के केशो को सवार कर प्रतीकात्मक रूप से गर्भ को सभी प्रकार के आघातो के विरुद्ध अधिकतर सावधानी से रक्षा करने के तथ्य पर ही बल दिया जाता था।

गृह्यसूत्रों के अनुसार इस संस्कार का समय गर्भ का चतुर्थ अथवा पचम मास था। स्मृतियो ने यह काल छठे से आठवें महीने तक का माना है, जबकि ज्योतिष ग्रन्थो की मान्यता है कि यह समय शिशु के जन्म तक कभी भी हो सकता है। वस्तुत इस संस्कार की आवश्यकता गर्भ के चतुर्थ मास की समाप्ति के पश्चात् ही होती है। क्योंकि गर्भ के पाँचवे मास से ही भावी शिशु का मानसिक निर्माण प्रारम्भ होता है और उसी समय विशेष रूप से गर्भ के सम्बन्ध मे अधिक सावधानी रखने की आवश्यकता होती है। आश्वलायन बौधायन आपस्तम्ब तथा पारस्कर के अनुसार यह संस्कार प्रथम गर्भ धारण के समय ही होना चाहिए। किन्तु कुछ अन्य आचार्यों का मत है कि यह प्रत्येक गर्भ के अवसर पर सम्पन्न किया जाना चाहिए। इसमे पति अपने हाथ से पत्नी के केशो में सुगन्धित तेल डाल कर, कघे से काढ कर उदुम्बर अथवा अर्जुन वृक्ष की शलाका को मृदु सेही या सेही के काँटे से पत्नी के केशो को स्वच्छ कर पट्टी (माँग) निकाले और सुन्दर जूडा बाँध कर यज्ञशाला में प्रवेश कराए। उस समय वीणा आदि वाद्य यन्त्र बजाए जाये तथा सामवेद के मन्त्रो का उच्चारण हो। इस संस्कार का उद्देश्य गर्भवती के उल्लास को बढाना

है। इसमें उत्तम स्त्रियाँ गर्भिणी को श्रेष्ठ एव वीर सन्तान का प्रसव करने का आशीर्वाद देती हैं। इसका एक अन्य उद्देश्य गर्भवती के लिए अत्यधिक श्रम वर्जित करके उसे मानसिक और शारीरिक आराम देना था। पुराणो में प्रस्ताव किया गया है कि "इस सस्कार मे नान्दीमुख नामक पितरो की पूजा करनी चाहिए।" (विष्णुपुराण)।

(4) जातकर्म–उपर्युक्त तीन सस्कार प्राणी के जन्म के पूर्व ही सम्पन्न हो जाते हैं। तदुपरान्त बाल्यावस्था के छ सस्कारो में पहला सस्कार जातकर्म है। "आदिम ने जब शिशु की उत्पत्ति देखो तो उसने इसके मूल मे अति मानवीय शक्ति को समझा और ऐसे अवसर पर अनेक सकटो व विपदाओ की शान्ति के लिए अनेक निषेधा व्रता तथा विधि-विधानो को जन्म दिया। प्रसव के लिए तैयारियाँ एक माह पूर्व से ही आरम्भ कर दी जाती थीं। उस समय अनेक अन्य अनुभवी स्त्रियाँ भी उसके साथ रहती थीं। शिशु का प्रसव होने पर महान् हर्ष व्यक्त करते हुए नाभि-छेदन (नाल काटने) से पूर्व सम्पन्न किया जाता था। इस सस्कार का प्रधान कर्म "मेधा जनन" था जिसे शिशु का बौद्धिक विकास होना माना जाता था।

इस अवसर पर शिशु को पिता की गोद में दिया जाता था जो उसकी जीभ पर सोने की सलाई से दधि, घृत और मधु के मिश्रण द्वारा "ओऽम्" लिखता था। इसके पश्चात् आयुष्य नामक कर्म सम्पन्न होता था जिसमें पिता शिशु की नाभि अथवा दाहिने कान के निकट गुनगुनाता हुआ कहता था "अग्नि दीर्घजीवी है वह वृक्षा मे दीर्घजीवी है। मैं उस दीर्घायु से तुझे दीर्घायु करता हूँ। सोम दीर्घजीवी है। वह वनस्पतिया द्वारा दीर्घ-जीवी है।" आदि आदि। इस प्रकार शिशु के समक्ष दीर्घजीवियो के अनेक उदाहरण प्रस्तुत करके यह समझा जाता था कि इनके कथन से बालक भी दीर्घायुष्य प्राप्त कर लेगा। फिर शिशु से कहता था, "तू पत्थर हो तू परशु हो तू अमृत स्वर्ण बन। तू यथार्थ में पुत्र के नाम से आत्मा है, तू सौ शरद् ऋतु पर्यन्त जीवित रह

"अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यममृत भव।

–(पारस्कर गृह्यसूत्र)

तदनन्तर कुल की आशाओ के केन्द्रीभूत पुत्र को जन्म देने के लिए माता की स्तुति की जाती थी व शिशु को स्तनपान कराया जाता था। सस्कार समाप्त होने पर ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा दी जाती थी और ऋत्विज उसे आशीर्वाद देते थे

"मेधा त्वे देव सविता मेधा देवी सरस्वती।

मेधा त्वे अश्विनौ देवावाधता पुष्करस्रजौ॥'

जातकर्म के अभिलेखीय प्रमाण भी मिले हैं। गहडवाल नरेश जयचन्द्र ने अपने पुत्र हरिचन्द्र के जातकर्म के शुभ अवसर पर पुरोहित प्रहरराज शर्मा को वदेसर ग्राम दान मे दिया था। (एपिग्राफिया इडिका)। अल्बेरुनी ने लिखा है कि "पुत्र उत्पन्न होने के बाद तथा माता द्वारा उसका पोषण प्रारम्भ करने के बीच ' जातकर्म" नामक तीसरा यज्ञ किया जाता था।"

(5) नामकरण–सामाजिक चेतना के विकास के साथ ही मनुष्य का नामकरण भी किया जाने लगा था। बहुधा बालक का नामकरण उस देवता के नाम पर किया जाता था जो उसका रक्षक माना जाता था। सन्तान को नाम प्रदान करना भी एक

संस्कार था, जिसका विस्तारपूर्वक विवरण प्राप्त होता है। शिशु के नाम का चुनाव धार्मिक क्रियाओ के साथ निश्चित तिथि को सम्पन्न किया जाता था। इस अवसर पर जाति के अनुरूप समुचित शब्दो पर विचार भी आवश्यक था। मनु की व्यवस्था है कि दसवें या बारहवे दिन शुभ तिथि नक्षत्र और मुहूर्त मे नामकरण संस्कार का आयोजन करना चाहिए। भाष्यकार विश्वरूप और कुल्लूक इसे ग्यारहवे दिन भी मानते हैं। वृहस्पति ने तेरहवें, सोलहवे, उन्नीसवे या बत्तीसवे दिन इसे सम्पन्न करने की सलाह दी है। साधारणत प्रसूति की समाप्ति के बाद ही यह होता था। सुन्दर और कर्णप्रिय नाम अच्छे माने जाते रहे हैं। ये नाम प्राय देवताओ, नक्षत्रो, प्रकृति के पदार्थों आदि के नामो पर होते थे। बालाओं के नाम सुखपूर्वक उच्चारण के योग्य, स्पष्ट अर्थ वाले, मनोहर, मगलसूचक तथा अन्त में दीर्घ अक्षर वाले होने चाहिए। मनु के शब्दो में-

"मगल्य ब्राह्मणस्य स्यात् क्षत्रियस्य बलान्वितम्।
वैश्यस्य धनसयुक्त शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्॥"

अर्थात् ब्राह्मण सन्तति का नाम मगलसूचक, क्षत्रिय का बलसूचक, वैश्य का धनसूचक तथा शूद्र का निन्दासूचक शब्दो से युक्त होना चाहिए। द्विजो के नाम देवबोधक होते थे। कभी-कभी जिस नक्षत्र मे शिशु का जन्म होता था, उसी के आधार पर उसका नाम रख दिया जाता था। इस संस्कार की विधियाँ थीं कि पिता शिशु के दाहिने कान की ओर झुकता हुआ उसे इस प्रकार सम्बोधित करता था-"हे शिशु, तू कुल देवता का भक्त है, तेरा नाम 'अमुक' है। तू इस मास में उत्पन्न हुआ है, अत तेरा नाम 'अमुक' है। तू इस नक्षत्र मे जन्मा है, अत तेरा नाम 'अमुक' है तथा तेरा लौकिक नाम 'अमुक' है। इसके बाद वहाँ पर एकत्रित ब्राह्मण कहते थे, "यह नाम प्रतिष्ठित हो।" तदनन्तर पिता औपचारिक रूप से शिशु द्वारा ब्राह्मणो को अभिवादन कराता था, जो उसे "सुन्दर शिशु", "दीर्घायु हो" आदि आशीष देते थे। इसी समय "तू वेद है" आदि ऋचा का भी उच्चारण किया जाता था। अन्त मे उसका अभिवादनीय नाम रखा जाता था। ब्राह्मण भोजन तथा आदरपूर्वक देवताओ तथा पितरो को अपने-अपने स्थानो को प्रेषित करने पर यह संस्कार समाप्त होता था। प्राचीन काल में जब वर्ण व्यवस्था अपने सुदृढ रूप मे थी, तब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र सन्तानो के नामान्त मे शर्म, वर्म, गुप्त और दास शब्द क्रमश लगाने की व्यवस्था थी-

"शर्मान्त ब्राह्मणस्य, वर्मान्त क्षत्रियस्य, गुप्तान्त वैश्यस्य शूद्रस्य दासान्तमेव था।" (बोधायन गृह्यसूत्र)

(6) निष्क्रमण-जन्म के उपरान्त प्रथम बार सन्तान को घर से बाहर निकालने से पूर्व निष्क्रमण संस्कार सम्पन्न किया जाता था। घर से बाहर के अनेक प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक सकटो से शिशु की रक्षा करने के लिए देवताओं का अर्चन तथा उनकी सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता था। गृह्यसूत्र मे निर्देश किया गया है कि इस संस्कार मे पिता बालक को बाहर ले जाता था और "तच्चक्षुर्देवहितम्" आदि मन्त्र के साथ उसे सूर्य का दर्शन कराता था। इस संस्कार को सम्पन्न करने का समय जन्म के पश्चात् बारहवें दिन से चौथे महीने तक भिन्न-भिन्न था। कुछ अन्य ग्रन्थो के अनुसार इस अवसर पर शिशु के मामा को बुलाना भी वाँछनीय समझा जाता था।

निष्क्रमण सस्कार का महत्त्व शिशु की दैहिक आवश्यकता तथा उसके मन पर सृष्टि की असीमित महत्ता के अकन में निहित था। सस्कार का व्यावहारिक अर्थ तो यही प्रतीत होता है कि एक निश्चित समय के बाद बालक को उन्मुक्त वायु मे लाना चाहिए और यह अभ्यास निरन्तर प्रचलित रहना चाहिए। इसके माध्यम से शिशु के विकासशील मन पर भी अकित हो जाता था कि "यह विश्व ईश्वर की अपरिमित सृष्टि है तथा इसका आदर विधिपूर्वक करना चाहिए।"

(7) अन्नप्राशन–इस सस्कार द्वारा शिशु को सर्वप्रथम अन्न खिलाया जाता था। इसका उद्देश्य यह था कि शिशु से माता का स्तन छुडा दिया जाये और जननी के दूध के स्थान पर उसके लिए किसी अन्य खाद्य पदार्थ की व्यवस्था की जाये। ऐसी मान्यता थी कि भोजन के रूप मे अवश्य कोई न कोई रहस्यमय शक्ति ही मनुष्य को जीवन प्रदान करती है, इसी कारण इस सस्कार के अवसर पर देवताओ की सहायता से शिशु मे शक्ति के उस स्रोत को ही प्रविष्ट कराने का प्रयत्न किया जाता था। गृह्य सूत्रा के अनुसार यह सस्कार शिशु के जन्म के पश्चात् छठे मास मे किया जाता है। पाँचवे महीने के बाद बालक अन्न खाने लायक हो जाता है। इसी समय वह धीरे-धीरे अन्न की ओर आकर्षित भी होने लगता है। शिशु के दाँत निकलने पर उसे प्रथम बार अन्न खिलाने को **प्राशित्र** कहा जाता था (शब्दानुशासन)।

कुछ विद्वानो के अनुसार यह सस्कार जन्म के बाद आठवे नवे दसवे बारहवे महीने या कुलाचार के अनुरूप किया जाता था। किन्तु चार मास के पूर्व यह सस्कार सम्पन्न करना कठोरता से निषिद्ध था। भोजन किसी भी प्रकार का क्यो न हो यह सदैव ध्यान रखा जाता था कि भोजन हल्का एव शिशु के लिए स्वास्थ्यवर्धक हो। इस अवसर पर शिशु को दही, मधु घृत का मिश्रण खिलाने का विधान किया गया है कहीं उसे दूध और भात खिलाने का उल्लेख है, तो एक स्थान पर इन भोजनो के साथ कुछ पक्षियो के मास का भी विधान किया गया है। "यदि बालक को मधुरभाषी तथा वाचाल बनाना हो तो उसे भारद्वाज पक्षी का मास चटाये। यदि बालक को धन तथा अन्न आदि से सम्पन्न बनाने की इच्छा हो, तो मोर एव कपिजल (तीतर) पक्षी के मास को चटाये। यदि बालक को शीघ्रगामी बनाना हो, तो मछली का मास चटाये। यदि दीर्घ जीवन की इच्छा हो तो कृकषा (केकडे) का मास तथा ब्रह्मवर्चस की इच्छा से आट्या पक्षी का मास चटाये। यदि पिता बालक मे इन सब गुणो की आकाक्षा करे तो उसे सबका मास अलग-अलग या एक साथ थोडा-थोडा लेकर चटाना चाहिए।" हमे इस विवरण से आश्चर्य नहीं करना चाहिए क्योंकि उस काल मे पशु-पक्षियो का मास खाना निषिद्ध नही समझा जाता था। इस सस्कार की महत्ता यह थी कि शिशु उचित समय पर माता के स्तन से पृथक् कर दिया जाता था और उसे माता-पिता की स्वेच्छाचारिता पर नहीं छोड दिया जाता था, जिससे प्राय उसकी भोजन क्षमता पर बिना ध्यान दिए अति भोजन द्वारा उसके शारीरिक विकास मे बाधा पहुँचाने की आशका रहती थी।

(8) चूड़ाकर्म–इसे केशच्छेदन सस्कार भी कहते है। चूडाकर्म अथवा चौल सस्कार को आजकल मुण्डन या "जडूला उतारना" भी कहते हैं। "चूडा का अर्थ शिखा' है। मुण्डन के पश्चात् केवल शिखा भर ही सिर पर रह जाती थी। अत चूडाकर्म वह सस्कार है, जिसके बाद शिखा या चोटी रखी जाती है।" "चौड" शब्द चूडा से बना है।

बहुधा ड के स्थान पर ल आ जाता है अत चौल शब्द बन गया । कुल्लूक भट्ट ने मनुस्मृति की टीका मे लिखा है कि यह चौल कर्म धर्म की स्थापना के लिए ही होता है । "जैसे-जैसे मानव सभ्यता मे प्रगति होती गयी वैसे-वैसे मनुष्य मे छोटे-छोटे केश रखने की प्रवृत्ति आती गयी । बाल काटने के समय लोहे के किसी तीक्ष्ण औजार को देखकर प्रारम्भिक मानव के मन में भय की आशका का होना स्वाभाविक हो था । इस प्रकार के भय की आशका तथा बाल कट जाने पर भावी सकटो से रक्षा करने के लिए ही सर्वप्रथम बाल कटाने के अवसर पर देवताओ का अर्चन किया जाता था और उसी रूप मे इस सस्कार का प्रादुर्भाव हुआ ।"

धर्मशास्त्रो के अनुसार सस्कार्य व्यक्ति के लिए दीर्घ आयु, सौन्दर्य तथा कल्याण की प्राप्ति ही सस्कार का प्रमुख प्रयोजन माना जाता था । लोगों का विचार था कि चूडाकर्म सस्कार न करने से आयु का ह्रास होता है । अत प्रत्येक दशा में यह सस्कार अवश्य सम्पन्न किया जाना चाहिए । इस अवसर पर प्रयोजनीय अनेक मन्त्रों की रचना केवल इसी प्रयोजन से हुई थी । मनु की उक्ति है कि-

"चूडाकर्म द्विजातीना सर्वेषामेव धर्मत ।
प्रथमे ऽब्दे तृतीये वा कर्त्तव्य श्रुति चोदनात् ॥"

अर्थात् सभी द्विजातियो के लिए चूडाकर्म सस्कार धार्मिक विधि से पहले या तीसरे वर्ष मे वैदिक विधानानुसार करना चाहिए । गृह्यसूत्रों के अनुसार भी यह सस्कार बालक के जन्म पश्चात् प्रथम वर्ष के अन्त में या तृतीय वर्ष की समाप्ति के पूर्व सम्पन्न होता था । कुछ परवर्ती लेखको ने इसका समय बढा कर पाँचवें तथा सातवें वर्ष तक कर दिया है । यह सस्कार सूर्य के उत्तरायण में होने पर ही सम्पन्न होता था । यह दिन के समय ही सम्पन्न किया जाता था । शिशु की माता के रजस्वला होने पर उसकी शुद्धि पर्यन्त यह सस्कार स्थगित कर दिया जाता था । प्रारम्भ से ही इस सस्कार को कहीं न कहीं देवालयों में सम्पन्न करने की प्रथा चली आ रही है । आजकल कुछ लोग गगा आदि पवित्र नदियों के तट पर भी इस सस्कार को सम्पन्न करने लग गए हैं ।

इसके अन्तर्गत शिखा अर्थात् चोटी रखना अत्यन्त आवश्यक था । शिखा को काट देने पर प्रायश्चित का विधान भी किया गया । विभिन्न वर्गों में एक से लेकर पाँच छ शिखाएं तक रखने की प्रथा प्रचलित थी । आजकल प्राय इस प्रथा का लोप हो रहा है तथा अधिकाश युवक अग्रेजी सभ्यता के प्रभाव में आकर अपनी शिखा कटाने लगे हैं । यह सस्कार विभिन्न वैदिक मन्त्रों के साथ अत्यधिक पवित्र वातावरण मे सम्पन्न होता था । इसमें पहले सिर को आर्द्र किया जाता था । फिर अक्षति तथा अनाहति के लिए प्रार्थना के साथ केशो का छेदन किया जाता था । शिखा का सम्बन्ध दीर्घायुष्य से जोड़ा गया था । सुश्रुत का कहना है कि "मस्तक के ऊपर की ओर शिरा तथा सन्धि का सन्निपात है । वही रोमो में अधिपति है । इस अग को किसी भी प्रकार का आघात लगने पर तत्काल मृत्यु हो सकती है" (शरीर स्थान) । इसलिए इस महत्त्वपूर्ण अग की सुरक्षा करने के लिए ही इस स्थान पर शिखा रखने की व्यवस्था की गयी थी ।

(9) कर्ण वेध—कर्ण छेदन या कान बिधाने की व्यवस्था वैदिककालीन है । इस सस्कार के सम्पादन का समय पूर्ण निश्चित नहीं है । गर्ग ऋषि ने छठा, सातवाँ

आठवाँ या बारहवाँ मास, **सुश्रुत** ने छठा या सातवाँ वर्ष **बौधायन** ने सातवाँ या आठवाँ मास, **बृहस्पति** ने दसवाँ, बारहवाँ या सोलहवा दिन अथवा सातवाँ या आठवाँ मास इस संस्कार के लिए उचित बताया है। इस संस्कार द्वारा सूई की नाक से कानो का छेदन होता था और इस छिद्र मे सोने, चादी या पीतल की बाली पहना दी जाती थी। आज के युग मे यह संस्कार मुण्डन के साथ सम्पादित किया जाता है। किन्तु धीरे-धीरे यह प्रथा उठ रही है। सुश्रुत ने इसके विषय मे लिखा है कि-

"रक्षा भूषणा निमित्त बालास्य कर्णौ विध्येत्।"

अर्थात् रोग से रक्षा तथा भूषण या अलकार के निमित्त बालक के कानो का छेदन करना चाहिए।" अडकोश वृद्धि तथा आन्त्र वृद्धि के निरोध के लिए भी सुश्रुत द्वारा कर्ण वेध का विधान किया गया है। इस संस्कार का सर्वप्रथम उल्लेख पारस्कर गृह्यसूत्र के परिशिष्टस्थ कात्यायन सूत्रो मे ही मिलता है। गृह्यसूत्रो मे इसका सकेत कहीं भी प्राप्त नहीं होता। संस्कारो की सूची मे इसके आधुनिक काल मे समावेश का कारण सम्भवत यही प्रतीत होता है कि इसका प्रयोजन सूत्र मे अलकरणात्मक था तथा कोई भी धार्मिक भावना इससे सयुक्त न थी।

(10) विद्यारम्भ–शिशु के मस्तिष्क के शिक्षा ग्रहण करने योग्य हो जाने पर उसको शिक्षा का आरम्भ विद्यारम्भ संस्कार के साथ किया जाता था और उसे अक्षर सिखाए जाते थे। विभिन्न धर्मशास्त्रो मे इस संस्कार के विद्यारम्भ अक्षरारम्भ अक्षरस्वीकरण अक्षरलेखन आदि पृथक्-पृथक् नाम दिए गए है। विश्वामित्र के अनुसार "यह संस्कार बालक के जन्म के पाँचवे वर्ष मे किया जाता था।" कुछ अन्य आचार्यों ने इस संस्कार के सातवे वर्ष मे भी किए जाने का उल्लेख किया है। यह संस्कार सूर्य के उत्तरायण होने पर किसी शुभ दिन मे किया जाता था। प्रारम्भ मे बालक को स्नान करा के सुगन्धित पदार्थो तथा सुन्दर वेशभूषा से अलकृत कर विनायक सरस्वती वृहस्पति और गृहदेवता की पूजा करायी जाती थी। इसके पश्चात् होम किया जाता था और फिर पूर्व की ओर मुँह करके बैठा हुआ गुरु पश्चिम की ओर मुँह करके बैठे हुए बालक का अक्षरारम्भ कराता था।

सम्पन्न घरो मे चाँदी की पट्टी पर केसर आदि शुभ द्रव्य बिखेर कर स्वर्ण लेखनी से उस पर अक्षर लिखवाए जाते थे। सामान्य परिवारो मे विशेष रूप से बनायी गयी लेखनी से चावलो पर अक्षर लिखाने की प्रथा भी पायी जाती थी। इस अवसर पर "श्री गणेशाय नम", "सरस्वत्यै नम" "गृहदेवताभ्यो नम" "लक्ष्मीनारायणाभ्या नम" आदि वाक्य भी लिखे जाते थे। इसके पश्चात् "ओऽम् नम सिद्धाय" लिखा जाता था। तब बालक गुरु की पूजा करता था और गुरु बालक द्वारा लिखे गए अक्षरो व वाक्यो को उससे तीन बार पढवाता था। फिर ब्राह्मणो को दक्षिणा दी जाती थी। सधवा स्त्रियाँ बालक की आरती उतारती थीं तथा अन्त मे गुरु को पगडी या साफा भेंट किया जाता था। फिर देवताओ को अपने-अपने स्थानो को प्रत्यावर्तन के साथ यह संस्कार समाप्त होता था। **चीनी यात्री श्वानच्वाग** ने बालको की विद्या का आरम्भ "सिद्धम्' से माना है जो सफलता का परिचायक था। बच्चे को लिखने के लिए पट्टी और खडिया दी जाती थी। **अल्बेरुनी** के अनुसार बच्चो के लिए विद्यालय में काली तख्ती होती थी, जिस पर वे लम्बाई की ओर से बाए से दाए सफेद वस्तु (खडिया) से लिखते थे। इस अक्षर ज्ञान के आरम्भ में स्वास्तिक का भी बडा महत्त्वपूर्ण स्थान था।

(11) उपनयन– भारतीय समाज में उपनयन सस्कार का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इसे यज्ञोपवीत सस्कार भी कहते हैं। उप अर्थात् समीप, नयन - ले जाया जाना अर्थात् विद्या प्राप्ति के निमित्त गुरु के पास ले जाया जाना इसका शाब्दिक अर्थ है। इस सस्कार द्वारा व्यक्ति द्विज कहलाता था। जिस व्यक्ति का उपनयन न हुआ हो, वह समाज से बहिष्कृत तथा अपने सभी प्रकार के विशेषाधिकारो से वचित समझा जाता था। बिना उपनयन न हुए कोई भी व्यक्ति किसी आर्य कन्या से विवाह नहीं कर सकता था। "यह हिन्दुओ के विशाल साहित्य भण्डार के ज्ञान का भी प्रवेशपत्र माना जाता था।" उपनयन सस्कार अत्यधिक प्राचीन है। इसका उल्लेख ऋग्वेद तक में मिलता है किन्तु इसका स्वरूप प्राचीन काल मे ऐसा नहीं था, जिस रूप में कि यह आज सम्पन्न होने लगा है। वैदिक काल में छात्र को ब्रह्मचारी कहा जाता था और ब्रह्मचारी का उपनयन उसका द्वितीय जन्म होता था। ब्राह्मण-ग्रन्थो के रचनाकाल में उपनयन को पूर्णत कर्मकाण्ड का रूप मिल चुका था। ब्रह्मचारी स्वय आचार्य के समीप जाता था और उससे अपने शिष्य होने की इच्छा व्यक्त करता था।

उपनिषद् ग्रन्थों के रचना काल में उपनयन आचार्य के निकट जाने और ब्रह्मचर्य या छात्र जीवन में प्रवेश के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह गया था। इस काल में किसी व्यक्ति के नये गुरु के निकट जाने पर प्रत्येक बार नये सिरे से उपनयन कराने की प्रथा का भी उल्लेख पाया जाता है। गृह्यसूत्रों के रचना काल में उपनयन सस्कार के सभी नियमों को अत्यधिक दृढ रूप दे दिया गया था। प्राचीन काल में उपनयन के समय पर यज्ञोपवीत करना आवश्यक न था। यह तो बाद के काल में ही आवश्यक हो गया था। इस सस्कार का विकास तीन चरणो में हुआ है। प्राचीन काल में उपनयन शब्द का प्रयोग ब्रह्मचर्य ग्रहण करने के अर्थ में लिया जाता था। किन्तु बाद में इस शब्द का प्रयोग गायत्री मन्त्र द्वारा द्वितीय जन्म धारण करने के रूप में लिया जाने लगा और भी आगे चल कर इस शब्द का प्रयोग अभिभावकों द्वारा बालक को आचार्य के निकट ले जाने के अर्थ मे किया जाने लगा। आधुनिक काल में इसकी शिक्षा का अर्थ पूर्णत लुप्त हो चुका है। आज उपनयन शब्द का प्रयोग एक विशेष सस्कार के अर्थ में किया जाता है, जो द्विजन्मा के विवाह तक किसी भी समय किया जा सकता है। आज इसे "जनेऊ" कहा जाने लगा है और बालक को केवल यज्ञोपवीत पहनाने की प्रथा मात्र रह गयी है।

उपनयन सस्कार किस आयु में हो, इस विषय में विभिन्न मत हैं। अलग-अलग वर्णों के अनुसार इस सस्कार के योग्य पृथक् आयु मानी गयी थी। अनेक ग्रन्थो मे ब्राह्मण का उपनयन आयु के आठवें वर्ष, क्षत्रिय का ग्यारहवें वर्ष और वैश्य का बारहवें वर्ष मे करने का विधान किया गया है। ब्राह्मणो के सर्वाधिक प्रतिभावान् होने तथा अन्य वर्णों के उत्तरोत्तर कम प्रतिभावान् होने को इस अवस्था भेद मे कारण माना गया है। यद्यपि सूत्रकाल के पूर्व यह सस्कार अनिवार्य नहीं था किन्तु उपनिषद् काल के अन्त तक आते-आते यह पूर्णत अनिवार्य हो गया था। इस समय तो बिना उपनयन हुए व्यक्ति को "व्रात्य" कहा जाने लगा था तथा उसकी शुद्धि के लिए अनेक विधियो का भी विधान कर दिया गया था। मध्यकाल में मुस्लिम राज्य के समय इस सस्कार की उपेक्षा की जाने लगी थी। किन्तु बाद में सास्कृतिक जागरण के साथ-साथ यह फिर से किया जाने लगा है।

आश्वलायन सूत्र मे उपनयन संस्कार की प्रक्रिया का विस्तृत विवरण मिलता है। साधारणतया यह संस्कार सूर्य के उत्तरायण होने पर किसी शुभ दिन मे किया जाता था। विभिन्न वर्णों के लिए पृथक् ऋतुए निश्चित थीं। ब्राह्मण का उपनयन बसन्त में क्षत्रिय का ग्रीष्म में, वैश्य का शरद् मे तथा रथकार का उपनयन वर्षा ऋतु मे होता था। संस्कार के एक दिन पूर्व अनेक पौराणिक विधि-विधान किए जाते थे। उपनयन के पूर्व बालक के शरीर पर हल्दी के द्रव्य का लेप किया जाता था और उसकी शिखा से एक चाँदी की अँगूठी बाँध दी जाती थी। इसके पश्चात् उसे सम्पूर्ण रात्रि मौन रह कर व्यतीत करनी पड़ती थी। दूसरे दिन प्रात काल अन्तिम बार माता और पुत्र साथ-साथ भोजन करते थे। फिर अनेक बालको को तथा ब्राह्मणो को भोजन कराया जाता था। तत्पश्चात् बालक को माता-पिता आहवनीय अग्नि से युक्त मड़प में ले जाते थे और उसका मुण्डन होता था। यदि उसका चूड़ाकरण पहले से हो चुका होता तो साधारण रूप से ही नापित द्वारा क्षौर कर्म किया जाता था। फिर बालक को स्नान करा कर वस्त्र पहनाए जाते थे। उस समय वह "तेन त्व परिदधाम्यायुषे दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चस इति" मत्र पढता था और अग्नि के पश्चिम मे बैठता था।

इस अवसर पर आचार्य बालक की कटि के चारो ओर एक मेखला बाँध देते थे। यह मूँज की होती थी। यह तीन लड की मेखला आत्मा के तीनो गुणों सतो गुण, रजो गुण, तमो गुण की प्रतीक होती थी। इसी कारण मेखला बाँध कर ब्रह्मचारी के शरीर मे उन तीनो गुणो की एकता स्थापित की जाती थी। इसके लिए "मेखलाबन्धने विनियोग" कहा गया है। इस मेखला द्वारा ब्रह्मचारी के अवगुण दूर होते थे तथा प्राण एव अपानो को बल प्राप्त होता था। अत्यधिक परवर्ती काल मे मेखला (कटिसूत्र या करधनी) धारण करने के पश्चात् ब्रह्मचारी को उपवीत सूत्र दिया जाने लगा था। यह ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनो वर्णों के लिए क्रमश कपास सन और ऊन का बना होता था इसके बाद ब्रह्मचारी को अजिन अर्थात् बकरे या मृग का चर्म दिया जाता था। फिर आचार्य विद्यार्थी को दण्ड धारण कराता था। ब्राह्मण का दण्ड पलाश का बनता था और केशो तक ऊँचा होता था। क्षत्रिय का दण्ड मस्तक तक होता था। वैश्य उदुम्बर (गूलर) वृक्ष का दण्ड धारण करता था जो नासिका तक जाता था।

तदुपरान्त कुछ प्रतीकात्मक कार्य भी किए जाते थे। उदाहरणार्थ आचार्य अपनी बँधी हुई अजलि में जल लेकर विद्यार्थी की बँधी हुई अजलि मे एक मन्त्र के साथ छोड देता था और शिष्य के दाहिने कन्धे की ओर पहुँच कर "मैं अपने व्रत मे तेरा हृदय धारण करता हूँ तेरा चित्त मेरे चित्त का अनुगामी हो" आदि शब्दो के साथ उसके हृदय का स्पर्श करता था। तब ब्रह्मचारी से "इस अश्मा पर आरूढ हो तू उसी के समान स्थिर हो तू शत्रुओ को पदाक्रान्त कर और उनको पराजित कर" इन शब्दो से अश्मा या प्रस्तर खण्ड पर आरूढ होने के लिए कहा जाता था। इन सब कृत्यो के पश्चात् गुरु नाम आदि पूछता था और फिर बालक का वास्तविक रूप से स्वीकरण होता था। फिर उसे आदेश दिया जाता था-

"तू ब्रह्मचारी है, जल ग्रहण कर। दिन में शयन न कर। वाक्सयम कर। अग्नि में समिधा का आधान कर। जल ग्रहण कर।" (पारस्कर गृह्यसूत्र)

का प्रथम बार क्षौर करने के कारण इसे "केशान्त" तथा गौ का दान किए जाने के कारण इसे "गौदान" संस्कार कहा जाता था। यह संस्कार प्राय 16 वर्ष की अवस्था में सम्पन्न होता था। कुछ आचार्यों के अनुसार इस संस्कार के साथ ही ब्रह्मचर्य की समाप्ति हो जाती है किन्तु "समावर्तन" संस्कार ही निश्चित रूप से ब्रह्मचर्य जीवन की समाप्ति का सूचक था। यह संस्कार चूडाकर्म के समान ही होता था। भेद केवल यही था कि इसमें सिर के बालो के स्थान पर दाढी मूँछो का क्षौर होता था। चूडाकर्म के समान ही इस संस्कार मे भी दाढी-मूँछें, सिर के बाल और नख जल में फैंक दिए जाते थे। इसके पश्चात् ब्रह्मचारी द्वारा आचार्य को एक गौ दान दी जाती थी। सबसे अन्त मे वह मौनव्रत का पालन तथा एक वर्ष पर्यन्त कठोर अनुशासित जीवन व्यतीत करता था।

(14) समावर्तन–समावर्तन का अर्थ है "गुरुगृह से विद्याध्ययन समाप्त कर घर लौटना।" इस प्रकार यह संस्कार ब्रह्मचर्य जीवन की समाप्ति पर सम्पन्न होता था। स्नान इस संस्कार का एक महत्वपूर्ण अग होता था अत इसे स्नान संस्कार भी कहा जाता था। प्राचीन भारतीय ब्रह्मचर्य को एक दीर्घसूत्र अर्थात् महायज्ञ मानते थे और जिस प्रकार यज्ञ करने के पश्चात् यज्ञ करने वाले को स्नान या अवभृथ करना आवश्यक था, उसी प्रकार ब्रह्मचारी को भी विद्या समाप्ति के बाद "स्नान" अवश्य करना पडता था। उस समय यह संस्कार विद्याध्ययन की समाप्ति पर ही सम्पन्न होता था। किन्तु धीरे-धीरे उपनयन संस्कार की विद्यारम्भ सम्बन्धी महत्ता के लुप्त हो जाने पर यह संस्कार न्यूनाधिक रूप में एक शारीरिक संस्कार अथवा विवाह के लिए एक प्रकार का अनुमति पत्र समझा जाने लगा। आजकल तो अधिकाश रूप मे उपनयन अर्थात् विद्यारम्भ और समावर्तन अर्थात् विद्या की समाप्ति ये दोनो संस्कार साथ-साथ ही सम्पन्न किए जाने लगे हैं। यह संस्कार प्राय चौबीस वर्ष की अवस्था में किया जाता था।

स्नान से पूर्व विद्यार्थी गुरु से शिक्षा समाप्ति के लिए प्रार्थना करता था और उसे पृथ्वी स्वर्ण गाय अश्व छत्र आदि दक्षिणा के रूप में देकर सन्तुष्ट करता था। संस्कार के शुभ दिन विद्यार्थी को स्नान से पूर्व एक कमरे मे बन्द कर दिया जाता था कि कहीं सूर्य स्नातक के तेज से अपमानित न हो जाये। क्योंकि ऐसा समझा जाता था कि "सूर्य स्नातक के तेज से ही प्रकाशित होता है।" मध्याह्न में ब्रह्मचारी कमरे से बाहर आकर गुरु के चरणों में प्रणाम कर अन्तिम बार वैदिक अग्नि में आहुति देता था तथा वहाँ रखे हुए आठ जलपूर्ण कलशों में से एक में से ब्रह्मचर्य की अग्नि अर्थात् तेज को त्यागने तथा उसी अग्नि से समृद्धि प्राप्त होने की बात कहते हुए जल ग्रहण करता था। फिर उन कलशों के जल से अनेक ऋचाओं के साथ स्नान करता था। तदुपरान्त वह ब्रह्मचर्य के मेखला मृगचर्म आदि चिह्नो को जल में फेंक कर एक नवीन कौपीन धारण करता था। इस प्रकार अपनी नवीन वेशभूषा से अलकृत होकर वह "स्नातक" अर्थात् जिसने विद्यावारिधि में स्नान कर लिया हो विद्वानो के निकटतम समाज की ओर एक हाथी या रथ पर आरूढ़ होकर जाता था और वहाँ आचार्य के द्वारा उसका परिचय एक सुयोग्य विद्वान् के रूप में दिया जाता था। इस प्रकार उस स्नातक के स्नातकोपयुक्त सम्मान प्राप्त कर लेने के बाद ही यह संस्कार समाप्त होता था।

इस अवसर पर आचार्य उसे जीवन सम्बन्धी उपदेश भी देता था-

"सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः । आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः । सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् । देवपितृकाभ्या न प्रमदितव्यम् । मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि । नो इतराणि । यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि । नो इतराणि । ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम् । श्रद्धया देयम् । अश्रद्धयादेयम् । श्रिया देयम् ह्रिया देयम् । भिया देयम् । संविदा देयम्" (तैत्तिरीयोपनिषद् शिक्षावल्ली) ।

अर्थात् सत्य बोलो । धर्म का आचरण करो । स्वाध्याय में आलस्य मत करो । आचार्य को इच्छित दक्षिणा दो और फिर गृहस्थ धर्म का पालन करो । सच को मत छोड़ो । धर्म से मत हटो । श्रेष्ठ कर्मों से न डिगो । ऐश्वर्य की प्राप्ति में प्रमाद मत करो । शास्त्रों के पठन-पाठन को मत छोड़ो । देवताओं तथा पितरों के कर्मों से विरत मत होओ । माता और पिता को देवता के समान समझो । आचार्य और अतिथि को देवता के तुल्य सम्मान प्रदान करो । दोषरहित कार्यों को सम्पन्न करो दूसरे कर्मों को नहीं । जो हमारे अच्छे आचरण हैं, उन्हीं को तुम्हें करना चाहिए । दूसरे प्रकार के कार्यों को नहीं । अपने से श्रेष्ठ ब्राह्मण को उच्च आसन दो । दान श्रद्धापूर्वक और अपनी स्थिति के अनुसार देना चाहिए । किन्तु बिना श्रद्धा के न दे । दान देने में लज्जा या भय नहीं आना चाहिए । जो दान दें, वह विवेकबुद्धि से दे । कर्त्तव्य निर्णय की शंका उपस्थित होने पर परमकुशल एवं धर्म परायण ब्राह्मण जिस प्रकार का आचरण करे, वैसा ही व्यवहार करना चाहिए ।

यह आजकल के दीक्षान्त समारोह के तुल्य था ।

(15) विवाह—विवाह समस्त संस्कारों में गौरवशाली व महत्त्वपूर्ण माना जाता है । इस संस्कार द्वारा ब्रह्मचर्याश्रम से गृहस्थाश्रम में प्रवेश होता है । यहां से व्यक्ति का सामाजीकरण होकर उसके उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्तित्व का प्रारम्भ होता था । प्राचीन काल में विवाह को एक यज्ञ माना जाता था और जो व्यक्ति विवाह करके गृहस्थ जीवन में प्रवेश नहीं करता था, वह अयज्ञिय अथवा यज्ञहीन कहा जाता था, जो निश्चय ही आर्यों की दृष्टि में अत्यन्त निन्दासूचक शब्द था । गृहस्थाश्रम अन्य तीनों आश्रमों की अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाता था तथा स्वर्गलोक व इस लोक में सुख की अभिलाषा करने वाले व्यक्ति को इस आश्रम का पालन करना आवश्यक समझा जाता था । उस समय विवाह वैयक्तिक न होकर एक पारिवारिक विषय था और वास्तव में तो उस समय वंश की अक्षुण्णता को बनाए रखने के लिए सन्तानोत्पत्ति करना ही विवाह का प्रमुख लक्षण था । धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इसी संस्कार पर निर्भर करते थे ।

विवाह संस्कार के अन्तर्गत वाग्दान, वरवरण, कन्यादान, विवाह, होम, पाणिग्रहण, हृदयस्पर्श, सप्तपदी, अश्मारोहण, सूर्यावलोकन, ध्रुवदर्शन, त्रिरात्रव्रत तथा चतुर्थी कर्म आदि सम्पादित किए जाते थे । वर जब कन्या के घर जाता, तो कन्या का पिता या रक्षक उस वर को दान देता था और वर उस दान को स्वीकारता था । तब वर अपने तथा कन्या के परस्पर प्रेम उत्पन्न करने के लिए कामसूत्रों का उच्चारण करता था । तत्पश्चात् पिता वर से धर्म, अर्थ तथा काम के उपभोग में सदैव उसे साथ रखने की प्रतिज्ञा

करवाता था और वर तीन बार "नाचित्तरमणी" कहकर उसे वचन देता था। फिर हवन आदि होता था, जिसमें वर व वधू अग्नि में देवताओं के प्रति आहुतियाँ प्रदान करते थे। इसी समय वर वधू का हाथ पकड कर अर्यमा, सविता आदि देवताओं को सम्बोधित करके मन्त्र पढता था, जिसमे वह प्रसन्नतापूर्वक जीवन-पर्यन्त एक साथ रहने की प्रतिज्ञा करता था। इसी समय कन्या के गृह में वैवाहिकाग्नि की स्थापना होती थी। इसी अग्नि के चारों ओर वर वधू के पीछे तीन बार इस प्रकार घूमता था कि जल से पूर्ण घट उनके दाहिने हाथ की ओर रहे। यह अग्नि परिणयन था। वह अपने तथा वधू दोनो की एकता के लिए सविता व अर्यमा देवताओं को सम्बोधित कर मन्त्र पढता था-

"मैं तुम्हारा रूप हूँ, तुम मेरा रूप हो। मैं साम हूँ, तुम मेरा ऋक् हो। मैं द्यौ हूँ, तुम पृथ्वी हो। मेरा मन तुम्हारा अनुसरण करे, तुम्हारा हृदय मेरा अनुसरण करे। इस प्रकार हम दोनो एक साथ रहते हुए एक-दूसरे से मिल जायें।" (पारस्कर गृह्य सूत्र)। फिर वर एक पत्थर पर वधू के हाथ की सहायता से चढता था और मन्त्र पढता था कि-

"इस पत्थर पर चढो। पत्थर की ही भाँति तुम सदैव स्थिर रहो। सब शत्रुओं एव कठिनाइयो पर विजय प्राप्त करो।" इसको अश्मारोहण कहते हैं। इसी समय वधू का भाई वर तथा वधू दोनो की समृद्धि के लिए अग्नि में लाजा होम करता है और अर्यमा, वरुण पूषन् तथा अग्नि देवता के लिए मन्त्र पढकर आहुति देता है, जिसमें ये चारो देवता अपने पाश के बन्धन से उसे छोड दें। इन सबके बाद महत्वपूर्ण सप्तपदी नामक सस्कार होता था। इसमें वर और वधू उसी अग्नि के चारों ओर सात बार घूमते थे तथा प्रत्येक पग पर मन्त्र उच्चारण करते थे। इसमें प्रथम पद रस के लिए, दूसरा बल, तीसरा धन चौथा आनन्द, पाँचवाँ पुत्रादि, छठा दीर्घायु एव ऋतु तथा सातवाँ सम्पूर्ण जीवन में सखा रूप में पत्नी को रखने के लिए होता था। इसमे वधू सोम, गन्धर्व एव अग्नि इन तीनो देवताओ द्वारा वर को प्रदान की जाती थी। प्राचीन काल मे वधू को घर लाते समय वर वैवाहिकाग्नि को भी साथ लाता था और उसी में वह सदा अपना हवन करता था।

विवाह का अर्थ एव महत्त्व–व्युत्पत्ति की दृष्टि से विवाह शब्द का अर्थ है उद्वहनम् नयनम् अर्थात् ले जाना। अत विवाह का अर्थ हुआ वधू को उसके पिता के घर से विशेष रूप में ले जाना अथवा किसी विशेष कार्य अर्थात् पत्नी बनाने के लिए ले जाना। विवाह के लिए उद्वाह, परिणय, उपयम, पाणिग्रहण आदि शब्द भी प्रचलित हैं। उद्वाह का अर्थ है वधू को उसके पिता के घर से ले आना। परिणय का अर्थ है चारो ओर घूमना अर्थात् अग्नि की परिक्रमा करना। उपयम का अर्थ है किसी को निकट लाकर अपना बनाना तथा पाणिग्रहण का अर्थ है वधू का हाथ ग्रहण करना। विवाह मे पति-पत्नी का इस जन्म का ही नहीं, अपितु जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध जुड जाता है।

गृहस्थाश्रम का प्रारम्भ विवाह से माना जाता है। "यद्यपि विवाह स्त्री और पुरुष के लिए समान महत्व रखता है, तथापि स्त्री के लिए यही एक समन्त्रक सस्कार था। स्त्री के लिए अन्य सस्कारो में मन्त्रोच्चारण का विधान नहीं था" (मनुस्मृति)। इसके अतिरिक्त विवाह स्त्री के लिए उपनयन का स्थानापन्न माना गया है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार "विवाह सस्कार द्वारा पुरुष अपनी अर्धता की पूर्ति के लिए पत्नी को ग्रहण करता है और तब पूर्ण होकर यज्ञ का अधिकारी होता है।" इसके द्वारा पति और पत्नी मिलकर

एकात्मकता को प्राप्त करते हैं। विवाह द्वारा स्त्री-पुरुष की आत्मा एक हो जाती है। यह बात विवाह के समय उच्चारण किए जाने वाले मन्त्रो में भी स्पष्ट होती है। प्राचीन काल में विवाह द्वारा शारीरिक सुख की प्राप्ति को गौण माना जाता था। वस्तुत इसका महत्त्व आत्मा के एकीकरण की दृष्टि से आका गया था। यह न तो पाश्चात्य जगत् के समान स्त्री व पुरुष के साहचर्य का प्रमाणपत्र है और न ही काम जीवन का एक सामाजिक समझौता मात्र है, किन्तु काम की सहज प्रवृत्ति का उदात्तीकरण करते हुए आध्यात्मिक प्रगति का सोपान है।

प्राचीन भारत के व्यवस्थाकारो ने विवाह को धार्मिक सस्कार मानकर इसमे धर्म को प्रमुख तथा सामाजिकता और वैधानिकता को क्रमश द्वितीय व तृतीय महत्त्व का स्वीकार किया। विवाह मे सन्तानोत्पत्ति का भी धर्मगत आधार था। "पुरुष अपूर्ण है। स्त्री, स्वदेह तथा सन्तान के योग द्वारा वह पूर्ण होता है।" "गृह की शोभा तथा सम्पन्नता स्त्री से है।" "स्त्री से परिवार बनता है, वृद्धि होती है, अत गृहस्थ जीवन का मूल विवाह में है और सभी आश्रम गृहस्थ जीवन पर आश्रित हैं।" इसी के माध्यम से परिवार और वश का उन्नयन होता है। कुटुम्ब को स्थायित्व प्रदान करने मे विवाह का उल्लेखनीय योग रहा है। सनानोत्पत्ति, उनका पालन-पोषण, आर्थिक आवश्यकता की पूर्ति, सामाजिक उत्तरदायित्व, सदाचार का अनुगमन तथा नैतिक मूल्यो की स्थापना विवाह के आधार पर होती है।

विवाह का उद्देश्य व आवश्यकता– विवाह मे शारीरिक भूख की तृप्ति ही नहीं है, अपितु यह सन्तानोत्पत्ति का धर्मगत आधार भी है। यज्ञ, होम, मन्त्रपाठ देवताओ का आह्वान तथा वेद मन्त्रो के साथ वैवाहिक क्रिया सम्पन्न करना इस सस्कार के प्रधान अग हैं। भारत मे इसका स्वरूप अत्यन्त पवित्र और उदात्त रहा है। धर्मपत्नी अथवा सहधर्मचारिणी के बिना अकेला पुरुष कोई भी धार्मिक कार्य नहीं कर सकता है। धर्म का पालन, पुत्र की प्राप्ति एव रति का सुख विवाह के प्रधान उद्देश्य हैं। "विवाह ही व्यक्ति को गृहस्थ बनाता है तथा देवताओ के निमित्त यज्ञ करने की योग्यता प्रदान करता है" **(ऋग्वेद)**। देवताओ के पूजन मे पति-पत्नी एक-दूसरे के सहायक माने गए है। "पत्नी को पति के आधे भाग की पूरक माना है" **(शतपथ ब्राह्मण)**। "यज्ञ मे साथ बैठने वाली स्त्री को ही पत्नी कहा जाता है" **(पाणिनि)**। पति के जीवन मे पत्नी की अनिवार्यता देखते हुए याज्ञवल्क्य का कथन है कि "पत्नी के मरने के बाद धार्मिक कार्यों के निमित्त दूसरा विवाह करना चाहिए" **(याज्ञवल्क्य स्मृति)**। "गुणवती सहधर्मिणी पत्नी को त्याग कर जो व्यक्ति धार्मिक कृत्य करता है, उसका समस्त धर्म निष्फल हो जाता है" **(पद्म पुराण)**। "धर्म, अर्थ काम और पुत्र की प्राप्ति पति-पत्नी दोनो के सयोग से होती है" **(मार्कण्डेय पुराण)**।

मनुष्य की स्वभावत पुत्र प्राप्ति की बलवती आकाक्षा होती है। यह सन्तान सम्बन्धी आकाक्षा अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वेद में पाणिग्रहण उत्तम सन्तान के लिए माना है। हिन्दू समाज मे पुत्र को अपार महत्ता है। पुत्र उत्पन्न होने से पिता अमर होता है, पुत्र ऋणमुक्त होता है। "पिता के लिए पुत्र आलोक है तथा ससार सागर को पार करने की अतितारिणी (नौका) है" **(ऐतरेय ब्राह्मण)**। पुत्रहीन व्यक्ति का समाज मे कोई स्थान नहीं है। पुत्र से पिता स्वर्ग आदि उत्तम लोकों को प्राप्त करता है। महाभारत में भी पुत्रवान्

व्यक्ति की प्रशंसा की गयी है। "पुत्र से पिता का नाम और यश चलता है" (महाभारत)। "पुत्र उत्पन्न होने से पिता को दस अश्वमेधा के स्थान का फल प्राप्त होता है" (ब्रह्म पुराण)। विवाह का एक प्रयोजन "रति सुख" भी था। यौनपरक वाछा की पूर्ति के लिए विवाह एक सुसभ्य और सुसस्कृत माध्यम है। वैदिक युग में "सम्भोग को आनन्द की पराकाष्ठा माना गया है" (वृहदारण्यकोपनिषद्)। वात्स्यायन ने रति के महत्व पर विस्तार से विचार करते हुए कामपरक सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावा का निवेशन किया है। कौटिल्य की मान्यता है कि "धर्म और अर्थ से विरोध न रखने वाले काम का सेवन करना उचित है" (अर्थशास्त्र)। विवाह के ये उद्देश्य व्यक्ति को शालीन एव वेदग्रह्य बनाते हैं। "परिवारगत और समाजगत आचार-विचार, परम्पराप्रथा और धर्म-कर्म की निरन्तरता को विवाह ही सतत प्रवहमान बनाता है और एक सभ्य समाज के निर्माण में योगदान करता है।"

धर्म का पालन, याज्ञिक कार्य, सन्तानोत्पत्ति, यशोत्थान, पितरो के लिए पिण्ड आदि के निमित्त विवाह आवश्यक माना गया है। पुराणो में उपर्युक्त कथन को सत्य सिद्ध करने वाले कई आख्यान प्राप्त होते हैं। "जरत्कार नामक एकनिष्ठ ब्रह्मचारी ने आजीवन विवाह न करने का दृढ निश्चय कर लिया था, परन्तु अपने पितरो की दुर्दशा देखकर उसे अपना प्रण तोडना पडा।" अभिज्ञानशाकुन्तल से विदित होता है कि "दुष्यन्त अपना कोई पुत्र न होने के कारण स्वय के जीवन को धिक्कारता है।" धर्मशास्त्रो में स्त्रियों का भी अविवाहित न रहने का निर्देश दिया गया है। "बिना विवाह के स्त्रियो को भी सद्‌गति तथा मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता था।" प्राचीन काल में किसी व्यक्ति की सच्चरित्रता उसके विवह से आकी जाती थी। हर्षचरित के एक प्रसग में कहा गया है कि "जब हष ने बाण पर दुश्चरित्र होने का आरोप लगाया, तो उसने अपने चरित्रवान् होने के प्रमाण स्वरूप स्वय को विवाहित बताया।"

विवाह के लिए कुल, वर एव वधू-विवाह सम्बन्ध स्थापित करने हेतु वर वधू के कुल का निर्धारण सर्वप्रथम किया जाता था। इसमे एक निश्चित सीमा तक दोनों का उत्तम कुल का होना आवश्यक माना गया था। आश्वलायन का कथन है कि "सर्वप्रथम मातृ और पितृ दोनो पक्षो से कुल की परीक्षा करनी चाहिए।" कुछ व्यवस्थाकारों ने कुलीनता का आधार वेदाध्ययन को माना है। "जिस कुल मे दस पीढिया तक निरन्तर वेदाध्ययन हो, वह कुलीन है" (याज्ञवल्क्य)। कुल यश, प्रतिष्ठा, सदाचार, ज्ञान, सम्पत्ति आदि का मापदण्ड होता था।

वर की योग्यता उसके गुणो से आकी जाती रही है। "श्रेष्ठ, सुन्दर और योग्य वर मिल जाये, तो कन्या की अवस्था विवाह योग्य न होने पर भी उसका विवाह कर देना चाहिए" (मनुस्मृति)। (1) वश, (2) शील (उत्तम चरित्र), (3) सुन्दरता, (4) यश, (5) विद्या, (6) सनाथता (माता, पिता तथा अन्य बन्धु बान्धवो की विद्यमानता), तथा (7) वित्त (धनाढ्यता)। ये 7 गुण वर के लिए आवश्यक माने गए हैं। वर को अन्य योग्यताओं के परीक्षण के साथ-साथ उसकी आयु का भी परीक्षण होता था। शास्त्रकारों ने वर के "पुंसत्व" पर भी अधिक बल दिया है। "अपत्य (सन्तान) के लिए स्त्रिया की सृष्टि हुई है। स्त्री क्षेत्र और नर बीजी है। क्षेत्र बीजवन् को देना चाहिए। अबीजी को क्षेत्र नहीं देना चाहिए। (नारद स्मृति)। साधारणत शरीर, मन, और बुद्धि से

रोगग्रस्त वर विवाह के लिए निषिद्ध किए गए हैं। विक्षिप्त (पागल), नपुसक और पतित व्यक्ति भी विवाह के अयोग्य थे। प्राय उन्मत्त, क्लीव, पापी कुष्ठयुक्त नपुसक सगोत्र, अन्धा, बहरा, असाध्य रोगी आदि विवाह के लिए वर्जित माने जाते थे। साथ ही अति निकटस्थ एव अति दूरस्थ अत्यन्त बलिष्ठ या दुर्बल, जीविका रहित और मूढ को भी कन्या नहीं दी जाती थी।

वधू के गुण और सौन्दर्य उसके चुनाव के प्रमुख आधार रहे हैं। बुद्धिमती, सुन्दरी, सुशील, स्वस्थ व उत्कृष्ट विचारयुक्त वधू की अपेक्षा की जाती रही है। शुभ लक्षण। कन्या से विवाह करने का विधान मनु जैसे अनेक धर्मशास्त्रकारो ने किया है। सौन्दर्यशीला, सुलक्षणयुक्ता कर्ण-केश-नेत्र-दात-नख-युक्ता तथा स्वस्थ शरीर वाली कन्या से विवाह करना श्रेयस्कर माना गया था। प्राय कन्या मे शरीरगत बुद्धिगत और आचरणगत योग्यताए देखी जाती थीं। मिताक्षरा ने कन्या के ये तीन गुण माने हैं-

(1) वर से आयु मे कम हो

(2) पहले से किसी अन्य के साथ यौन सम्बन्ध न हो और

(3) स्त्री (मा) बनने योग्य हो।

भारद्वाज के अनुसार कन्या के (1) वित्त (2) रूप (3) प्रज्ञा और (4) बान्धव इन चार गुणो पर विचार करना चाहिए। "विवाह मे कौन क्या चाहता है" इस पर यह सुभाषित अत्यन्त लोकप्रिय तथा प्रसिद्ध है-

"कन्या वरयते रूप माता वित्त पिता श्रुतम्।
बान्धवा कुलमिच्छन्ति मिष्टान्नमितरे जना ॥"

अर्थात् कन्या सौन्दर्य माता धन, पिता विद्वता बान्धवगण अच्छा कुल तथा अन्य लोग मिष्ठान्न चाहते हैं।

दोषयुक्त कन्या से विवाह न करने का भी निर्देश है। "भूरे वर्ण वाली न्यूनाधिक अगों वाली, हमेशा रोगी रहने वाली पूर्णत रोम रहित या ज्यादा रोम वाली वाचाल तथा भूरी आँखो वाली कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए" (मनु)। अन्य शास्त्रकारो ने भी विविध अवगुणो का वर्णन किया है जिससे स्पष्ट है कि वे वधू के चारित्रिक स्वभावगत बुद्धिगत एव शरीरगत गुणो पर ध्यान देते रहे हैं।

विवाह के प्रकार तथा विवरण

लगभग सभी शास्त्रकारो ने आठ प्रकार के विवाह बताए हैं। मनु के अनुसार इनके नाम ये हैं

"ब्राह्मो दैवस्तथैवार्ष प्राजापत्यस्तथासुर।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधम ॥" (मनुस्मृति 3/21)

अर्थात (1) ब्राह्म (2) दैव (3) आर्ष, (4) प्राजापत्य (5) आसुर (6) गान्धर्व, (7) राक्षस तथा (8) पैशाच।

(i) ब्राह्म विवाह—

"आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्।
आहूय दान कन्याया ब्राह्मो धर्म प्रकीर्तित ॥"

अर्थात् विद्वान् तथा शील-सम्पन्न वर को स्वयं आमन्त्रित कर तथा उसका विधिवत् सत्कार कर, उससे शुल्क आदि स्वीकार न कर, दक्षिणा के साथ, यथाशक्ति वस्त्राभूषणों से अलंकृत कन्या का दान "ब्राह्म विवाह" कहलाता था। यह विवाह का सर्वाधिक श्रेष्ठ तथा विकसित प्रकार था। "ब्राह्मणों के योग्य समझे जाने के कारण ही यह ब्राह्म विवाह कहलाता था।" इस प्रकार का विवाह सर्वाधिक सम्मानित समझा जाता था क्योंकि यह शारीरिक शक्ति के प्रयोग कामुकता, किसी प्रकार की शर्त अथवा धनलिप्सा से मुक्त था। ऐसे विवाह मे सामाजिक शालीनता का पूर्ण रूप से पालन किया जाता था और धार्मिक विचारों पर ध्यान रखा जाता था। इसका उद्देश्य गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए ब्रह्म की प्राप्ति है। इसमें समुचित दहेज के साथ विवाह योग्य कन्या का सच्चरित्र एवं सुयोग्य वर को दान किया जाता है। यह विवाह अपने आध्यात्मिक लक्ष्य के कारण सर्वोत्तम माना गया है। "इस विवाह पद्धति से विवाहित कन्या से पैदा हुआ पुत्र मातृकुल और पितृकुल के बीस पूर्वजों को तथा अपनी आत्मा को पवित्र बनाता है।" (याज्ञवल्क्य)। इस प्रकार का विवाह आज भी भारत में प्रचलित तथा सर्वाधिक लोकप्रिय है। यद्यपि इसमें दहेज की कुत्सित प्रथा का अवश्य प्रवेश हो गया है।

(ii) दैव विवाह–

"यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते।
अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते॥" (मनुस्मृति 3/28)

अर्थात् जब यज्ञ करने वाले ऋत्विज को वस्त्रालंकार से विभूषित कन्या दी जाती था तो उसे "दैव" विवाह कहते थे। यह "ऋत्विज" प्राचीन भारतीय समाज में बहुत महत्त्व रखता था क्योंकि यज्ञ आदि करवाने के कारण उसे अत्यन्त पवित्र समझा जाता था। वैदिक युग मे ब्राह्मण यज्ञ किया करते थे। इसीलिए कन्या पक्ष के ब्राह्मण ऐसे यज्ञीय ब्राह्मण की अपेक्षा करते थे तथा दक्षिणा के रूप मे कन्या प्रदान किया करते थे। इस प्रकार के विवाह में वर तथा वधू पक्ष याज्ञिक क्रियाओं के उत्साही समर्थक होते थे। यह आर्ष से प्रशस्यतर विवाह था। "देवयज्ञ के अवसर पर किया जाने के कारण ही इसको दैव विवाह कहा जाता था।" यह विवाह वास्तविक प्रतीत नहीं होता है तथा समाज के समृद्ध एवं शक्तिशाली वर्गों में बहुविवाह प्रथा के साथ संयुक्त रखैल प्रथा-सी प्रतीत होती है। यह विवाह ब्राह्म प्रथा से अप्रशस्त माना जाता था क्योंकि इसमे कन्या दान पुरोहित द्वारा यज्ञ में की हुई सेवा के लिए किया जाता था, जबकि ब्राह्म विवाह में कन्या-दान एक विशुद्ध दान था।

(iii) आर्ष विवाह–

"एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते॥" (मनुस्मृति 3/29)

अर्थात् धर्मकार्य की सिद्धि के लिए वर से एक बैल अथवा इनकी जोड़ी लेकर जब पिता सविधि कन्यादान करता था तब वह आर्ष विवाह कहलाता था। "यह मेधावान् सन्तान उत्पन्न करने के ध्येय से किया जाता था क्योंकि लोगों का विचार था कि ऋषि से उत्पन्न सन्तान प्रज्ञावान होगी।" यह प्रकार मुख्य रूप से ऋषि परम्परा के पुरोहितों अथवा ब्राह्मणों के कुलों में प्रचलित था इसीलिए इसे "आर्ष" कहा जाता था।" इस विवाह मे

"आदान" का उद्देश्य केवल यज्ञकार्य ही होना चाहिए। यह विवाह किसी प्रकार का सौदा नहीं माना जाता था और इसीलिए आसुर विवाह से भिन्न था तथा प्रशस्त विवाहों की श्रेणी में तीसरे स्थान पर था। यज्ञों के हविस् के साथ विवाह का यह प्रकार भी लुप्त हो गया, क्योंकि कालक्रम से कन्या के पिता की ओर से "आदान" शब्द ही विवाह के क्षेत्र से बहिष्कृत हो गया था।"वर द्वारा ससुर को प्राप्त यह उपहार कन्या के मूल्य के रूप मे भी था। जैमिनि, शबर और आपस्तम्ब ने इस उपहार को मूल्य न मान कर भेंट माना है।""इसमे माता-पिता के आग्रह से ऋषि गृहस्थ जीवन-निर्वाह को तत्पर होता है यथा अगस्त्य एवं लोपा-मुद्रा का विवाह।"

(IV) प्राजापत्य विवाह–

"सहोभौ चरता धर्ममिति वाचानुभाष्य च।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधि स्मृत ॥" (मनुस्मृति 3/30)

अर्थात् जब कन्या का पिता "तुम दोनो उचित रीति से गृहस्थ धर्म का आचरण करो" इस प्रकार कहकर वर की पूजा कर कन्यादान करता था उसे प्राजापत्य विवाह कहते थे। इसका दूसरा नाम पर्जन्य भी है। इसका मुख्य उद्देश्य है कि सन्तानोत्पत्ति के लिए ही विशेष रूप से पति-पत्नी का मिलन हो। "इस विवाह का मूल आधार जीवनपर्यन्त पत्नी के साथ धर्म वृद्धि की कामना बिना पत्नी की अनुमति के दूसरा विवाह न करना तथा पारिवारिक जीवन की स्वस्थता था। उच्च मर्यादा और उन्नत आदर्शों के साथ आबद्ध इस विवाह का ही भारतीय समाज मे अधिक प्रचलन हुआ। "इस विवाह के नामकरण मे प्रजापति शब्द वर-वधू के सन्तानोत्पत्ति करने और उनके पालन-पोषण के उत्तरदायित्व का भली प्रकार से निर्वाह करने का प्रमाण है।" "इस विवाह से विवाहित कन्या से उत्पन्न पुत्र दोनो कुलो की छ छ पीढ़ियो को तथा अपने को पवित्र बनाता है।" हिन्दू धारणा के अनुसार यह उपर्युक्त तीन प्रशस्त विवाहो की अपेक्षा निम्नतर है, क्योंकि यहाँ दान स्वतन्त्र न होकर शर्त या समय के बन्धन मे बँधा हुआ है, जो हिन्दुओ की दान सम्बन्धी भावना के विपरीत है, तथापि यह विवाह प्रशस्त है। आजकल इस प्रकार के विवाह का भी लोप हो गया है।

(V) आसुर विवाह–

"ज्ञातिभ्यो द्रविण दत्वा कन्यायै चैव शक्तित।
कन्याप्रदान स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते ॥" (मनुस्मृति 3/31)

अर्थात् जब कन्या पक्ष कन्या प्रदान करने के बदले मे वर से इच्छानुसार धन लेते थे तो वह आसुर विवाह कहलाता था। "एक प्रकार से कन्या का मूल्य चुका कर विवाह करना आसुर है।" आर्ष तथा आसुर विवाह मे प्रमुख अन्तर यह था कि आर्ष विवाह मे परम्परा का अनुसरण करते हुए गाय या बैल का जोड़ा दिया जाता था जबकि आसुर विवाह में कन्या का मूल्य धन के रूप मे दिया जाता था। महाभारत मे इस प्रकार के विवाहो के अनेक उदाहरण मिलते हैं। कैकयी को राजा दशरथ ने क्रय करके ही पत्नी बनाया था। वर जब अपनी इच्छानुसार कन्या के कुटुम्बियो को तथा कन्या को अत्यधिक मात्रा मे धन देकर उन्हे सन्तुष्ट कर विवाह करता है, तब वह आसुर विवाह कहलाता है। "वर इस धन को कन्या तथा उसके कुटुम्बियो के क्रोध को शान्त करने के लिए देता

था।" गान्धर्व की अपेक्षा आसुर विवाह श्रेष्ठतर था। यह विवाह एक प्रकार का सौदा था और धन ही इस प्रकार के विवाहो में निर्णायक तत्त्व होता था। आजकल कन्यापक्षी वर को धन देकर खरीदते हैं, किन्तु आसुर विवाह प्रचलन के समय वर पक्ष की ओर से ही कन्या पक्ष को धन दिया जाता था।

कुछ धर्मशास्त्रकारो ने इसे "मानुष" भी कहा है किन्तु कालक्रम से विवाह को धार्मिक स्वरूप प्राप्त होने पर कन्या के पिता द्वारा वर से लिया जाने वाला धन पुण्यमय व पवित्र उपहार समझा जाने लगा और कन्याविक्रय की यह प्रथा अधिकाधिक लोभमूलक एव सासारिक समझी जाने लगी। कुछ ने तो यहाँ तक कहा है कि "जो लोभान्ध होकर धन के लिए अपनी पुत्री को दे देते हैं, वे आत्मविक्रयी तथा महापातकी हैं। वे घोर नरक में गिरते हैं एव सात पूर्ववर्ती व परवर्ती पीढियो द्वारा अर्जित पुण्यों का नाश कर देते हैं।" "वर्तमान काल में यह प्रथा तो बिल्कुल नष्ट हो गयी है, किन्तु इसके सर्वथा विपरीत प्रथा चल पडी है।" "सम्भवत प्राचीन कालीन असीरियों में क्रय-विक्रय पर आधारित विवाह होने के कारण इसका नाम "आसुर" पडा दीखता है। समाज मे यह प्रथा अच्छी नहीं मानी गई। बौधायन ने शुल्क देकर क्रय की गई स्त्री को वैध पत्नी नहीं माना है।'

(४) गान्धर्व विवाह--

"इच्छयाऽन्योन्यसयोग कन्यायाश्च वरस्य च।
गान्धर्व स तु विज्ञेयो मैथुन्य कामसम्भव ॥ (मनुस्मृति 3/32)

अर्थात् जब कन्या और वर कामुकता के वशीभूत होकर स्वेच्छापूर्वक परस्पर सयोग करते हैं तो विवाह के उस प्रकार को गन्धर्व कहते हैं। इस "प्रेमविवाह" मे माता-पिता की उपेक्षा की जाती है। आश्वलायन के अनुसार "विवाह का यह प्रकार, जिसमे पुरुष और स्त्री परस्पर निश्चय कर एक-दूसरे के साथ गमन करते है, गान्धर्व कहलाता है।" हारीत और गौतम ने विवाह के उस प्रकार को जिसमें कन्या स्वय अपने पति का चुनाव करती है गान्धर्व विवाह कहा है किन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है। सम्भवत यह विवाह हिमालय की तराई में रहने वाले गन्धर्वों मे विशेष रूप से प्रचलित रहा होगा इसलिए इसका "गान्धर्व" नाम पडा। हिन्दू समाज में यह क्षत्रियो में सर्वाधिक प्रचलित था। दुष्यन्त और शकुन्तला के मध्य इसी प्रकार का विवाह हुआ था। मनु और शतरूपा पुरुरवा और उर्वशी उदयन और वास दत्ता, चन्द्रापीड और कादम्बरी आदि के विवाह इसी के उदाहरण हैं। भवभूति ने भी "वर और वधू का पारस्परिक प्रेम सर्वोत्कृष्ट मगल के रूप मे माना है जिसमे दानो के मानस चक्षु मिले रहते हैं।" (*मालती माधव*)।

इस प्रकार के विवाहो का प्रचलन वैदिक युग मे भी था। प्रेमविवाह इसी का वर्तमान रूप है। इसकी स्वीकृति समाज में पवित्रता एव शान्ति स्थापित करने के लिए हुई थी। मनु के अनुसार 'गान्धर्व विवाह सभी वर्णों के लिए धर्मसम्मत था।' वात्स्यायन ने इस प्रकार के विवाह को सर्वश्रेष्ठ कहा है।" इस विवाह का मूल पारम्परिक आकर्षण और प्रेम मे निहित होने के कारण ही कुछ विचारक इसे "प्रशस्त" विवाहो की श्रेणी मे रखते हैं। किन्तु अधिकाश स्मृतिकारो ने इसे धार्मिक व नैतिक आधारों पर 'अप्रशस्त" ही माना है। इसके अतिरिक्त इस विवाह के कामुकता से उद्भव होने तथा बिना धार्मिक

क्रिया-कलापों के ही सम्पन्न होने के कारण इसे अन्य पाँच विवाहों से हीन समझा गया है।

(vii) राक्षस विवाह–

'हत्वा छित्वा च भित्वा च क्रोशन्तीं रुदन्तीं गृहात्।
प्रसह्य कन्याहरण राक्षसो विधिरुच्यते।' (मनुस्मृति 3/33)

अर्थात् रोती पीटती हुई कन्या का उसके सम्बन्धियों को मार कर या क्षत-विक्षत करके बलपूर्वक हरण करना राक्षस प्रकार का विवाह कहा जाता था। इसमें शक्ति या बलप्रयोग तथा क्रूरता व कपट भी सम्मिलित था। सम्भवतः यह विवाह आदिम जातियों में प्रचलित था। "शक्ति एवं बल प्रदर्शन केवल क्षत्रिय ही कर सकते थे। इसी कारण महाभारत में स्त्रियों को बलपूर्वक हर कर ले जाना क्षत्रिया के लिए उत्तम माना गया है।" विष्णु तथा याज्ञवल्क्य के अनुसार राक्षस विवाह का उद्भव युद्ध से हुआ है। इस विवाह में केवल बल और शक्ति का प्रयोग ही नहीं किया जाता था अपितु इसकी व्यवस्था पहले से ही वधू की स्वीकृति से जिसे अपने माता पिता की इच्छा स्वीकार नहीं होता थी कर ली जाती थी। किन्तु इस विषय पर काफी मतभेद है कि इस विवाह का निश्चित प्रकार क्या रहा होगा ? एक अन्य मत के अनुसार जब रोती चिल्लाती हुई तथा अपने रक्षक के नाम को पुकारती हुई कन्या का बलपूर्वक अपहरण कर उसे पत्नी रूप में स्वीकारने को राक्षस विवाह कहते थे।

(viii) पैशाच विवाह–

'सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधम ॥ (मनुस्मृति 3/34)

अर्थात् सोती हुई सुध बुधहीन अथवा मदिरा पान आदि द्वारा उन्मत्त कन्या को कामवासना की तृप्ति के लिए अपनाए जाने को पैशाच विवाह कहा जाता था। याज्ञवल्क्य ने छल-कपट द्वारा किए जाने वाले विवाहों को इसी श्रेणी में रखा है। महाभारत में पैशाच विवाह को जघन्य अप्रशस्त अधर्म निन्दित और अधम बताया गया है। आपस्तम्ब तथा वशिष्ठ ने इस विवाह को स्वीकार ही नहीं किया है। मनु ने इन अन्तिम दो विवाहों को अधर्म माना है। यह पैशाच विवाह सर्वाधिक अप्रशस्त विवाह था। इस प्रकार के विवाह में छल-कपट के द्वारा कन्या पर अधिकार कर लिया जाता था और इसलिए इस विवाह को निकृष्टतम माना जाता था। यह विवाह का सर्वाधिक असभ्य तथा बर्बरतापूर्ण प्रकार था। इसमें कन्या के साथ तत्काल तथा उसी स्थान पर बलात्कार किया जाता था जो निश्चय ही एक अवांछनीय घटना थी। सम्भवतः पश्चिमोत्तर भारत की पिशाच जाति में प्रचलित होने के कारण ही इस विवाह का नाम "पैशाच" पड़ा होगा। बाद में इसे पूर्णतया अमान्य कर दिया गया।

विवाहों के प्रशस्यत्व का आधार–प्राचीन काल में लोग गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करने के अनेक प्रकार से संयुक्त होते थे। स्मृतियों ने ऐसे उपर्युक्त आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया है। इनमें से प्रथम चार प्रकार के विवाह अर्थात् (1) ब्राह्म (2) दैव (3) आर्ष और (4) प्राजापत्य प्रशस्त अर्थात् प्रशंसनीय माने जाते थे तथा अन्तिम चार अर्थात् (1) आसुर, (2) गान्धर्व (3) राक्षस और (4) पैशाच अप्रशस्त या हीन थे। इन आठों में ब्राह्म विवाह सर्वोत्तम था। आसुर व गान्धर्व किसी प्रकार सह्य थे। अन्तिम

देवयानी द्वारा क्षत्रिय राजा ययाति से विवाह करना भी इसी पद्धति का प्रमाण है। परन्तु इस प्रकार के विवाहो का स्वच्छन्द रूप से प्रचलन नहीं था क्योंकि स्मृति तथा सूत्रकाल में आकर जातीय बन्धन बहुत कठोर हो चुके थे।

भारतीय इतिहास के मध्यकाल में भी अनुलोम एव प्रतिलोम विवाहो का उल्लेख प्राप्त होता है। **कथासरित्सागर** मे ऐसे कई उल्लेख मिलते हैं। **कादम्बरी** मे बाण के दो भाई उसकी सौतेली शूद्रा माँ से उत्पन्न बतलाये है। इसी प्रकार प्रतिलोम विवाह के रूप मे **राजतरंगिणी** मे राजा सग्राम राज की बहिन का एक ब्राह्मण पुरुष के साथ विवाह होने का उल्लेख मिलता है। इसी तरह **राजशेखर** की अवन्ती सुन्दरी नाम की पत्नी मूलत क्षत्रिय कन्या ही थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारत मे वैदिक काल से लेकर मध्यकाल तक विवाहो मे अनुलोम विवाहो के अधिक उदाहरण प्राप्त होते हैं जब कि प्रतिलोम विवाह के कम। परन्तु कालान्तर में जैसे जैसे जातीय बन्धन कठोर होते गये यह प्रथा भी शिथिल होती गयी। वर्तमान समय मे पुन नई विचारधारा के प्रकाश मे जातिगत बन्धन पुन शिथिल होते जा रहे हैं तथा फलस्वरूप अन्तर्जातीय विवाहो को पुन प्रोत्साहन मिल रहा है। जातिगत बन्धना से ऊपर उठकर प्रेम विवाह हो रहे हैं।

(16) **अन्त्येष्टि**—यह मनुष्य का अन्तिम सस्कार है। सस्कारो का उद्देश्य आत्मा का अभ्युदय करना भी था। आत्मा पचतत्त्व का शरीर आच्छादित किए हुए है। इस दुर्ग मे बन्दी बनी आत्मा राग द्वेष आदि षड् रिपुओ के नियन्त्रण मे पड कर उनके अधीन हो जाती है। इनको परास्त करने के बाद आत्मा परमात्मा का साक्षात्कार कर सकती है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अन्त्येष्टि सस्कार का सम्पादन किया जाता था। इस अन्तिम सस्कार की सम्पन्नता में यह भाव निहित था कि मृतक परलोक मे शान्ति प्राप्त करेगा। "इस सस्कार द्वारा परलोक विजित होता है" (**बौधायन**)। अन्त्येष्टि सस्कार में शव ले जाने के लिए बास की अर्थी प्रयोग मे लायी जाती थी। शव यात्रा मे सगे सम्बन्धियो के साथ मित्रादि होते थे जिनमे ज्येष्ठ पुत्र सबसे आगे रहता था। पुराणो के अनुसार मृत शरीर को स्नान कराकर पुष्पमाला से सजाकर जलाशय मे अर्थी सहित स्नान कराकर दाह किया जाना चाहिए। तत्पश्चात् सभी सम्मिलित लोगो को जलाशय मे सवस्त्र स्नान करके जलाजलि देनी चाहिए। शव जल जाने के उपरान्त अवशेष को भी दाह क्रिया होती थी। कुछ समय तक मृतक के सम्बन्धी अशौच में रहते थे। अशौच की अवधि प्राय तेरह दिन की होती थी। इसकी शुद्धि के उपरान्त शान्ति और श्राद्ध क्रिया की जाती थी। पिण्डदान श्राद्धकर्म और ब्राह्मण भोजन के बाद मृतक का परिवार शुद्ध माना जाता था। हिन्दुओं मे अन्त्येष्टि सस्कार प्राचीन शास्त्रोक्त विधि से आज भी सम्पन्न किया जाता है।

अध्याय 6

लेखन-कला की उत्पत्ति

विश्व में जितने भी प्राणी हैं, उनमें मानव का विशिष्ट स्थान है। यद्यपि इस जगतीतल के समस्त पशु-पक्षियों में "मनुष्य" से भी अधिक शक्तिशाली तथा अधिक उम्र वाले प्राणियों का अस्तित्व है, किन्तु उन सबमें मनुष्य के समान उन्नति अन्य किसी ने भी नहीं की है। यद्यपि इसका प्रमुख कारण मनुष्य में अन्य प्राणियों की अपेक्षा बुद्धि की अधिकता एवं चतुराई का होना है, तथापि एक और बात यह है कि मनुष्य ने अपनी थोड़ी उम्र होते हुए भी इस प्रकार के साधन अपनाए जिनके बल पर उसने अपनी प्रगति सतत् रूप से गतिमान रखी। इनमें से एक साधन "लेखनकला" है। यह तथ्य है कि "ज्ञान ग्रन्थाकार में ही सुरक्षित रहता है और सभ्यता एवं संस्कृति के विकास का प्रमुख माध्यम तथा उन्नति का साधन लिखित ग्रन्थ है। हमारे पूर्वजों का विशाल ज्ञान, उनके उदात्त विचार और गहन अनुभूतियाँ, वर्तमान के नूतन विचारों की उद्‌भावनाएं विज्ञान के आविष्कार आदि की प्राप्ति भावी मानव को तभी हो सकती है, जबकि वे लिखित रूप से सुरक्षित हों।" हमारा युग-युग का साहित्य इसी लेखनकला के कारण सुरक्षित रह सका है। यही कारण है कि हमारे पूर्वजों द्वारा अनुभूत विचारों को हम आज भी ग्रन्थ रूप में जान व समझ सकते हैं। इस लेखन कला के साथ ही भाषा की उत्पत्ति एवं लिपि का विकास भी अन्योन्याश्रय सम्बन्ध रखता है। इनमें लिखने के साधन भी समाविष्ट हो जाते हैं। अतः इन सब का ज्ञान भी हमारी संस्कृति को जानने के लिए होना चाहिए।

लेखन-कला या लिपि की उत्पत्ति—जब हम लेखनकला के उद्‌गम की चर्चा करते हैं, तो हमारे सम्मुख सर्वप्रथम भाषा का स्वरूप उपस्थित होता है। संसार के सभी देशों में न तो एक जैसी भाषा है और न ही एक समान लिपि। इनमें विविधता होते हुए भी एक निश्चित तथ्य दृष्टिगत होता है कि "भाषा इस पृथ्वी पर मानव के जन्म के साथ नहीं आयी अपितु उसका आगमन बहुत वर्षों बाद हुआ।" किसी-किसी भाषा के सुस्पष्ट विकास में तो हजारों वर्ष लग जाते हैं। इनमें भी दो प्रमुख तत्त्व हैं भाषा का बोला जाने वाला रूप पहले बनता है तथा उसका लिखा जाने वाला रूप बाद में। भाषा का यह लिखा जाने वाला रूप ही "लिपि" कहलाता है। यदि हम इस समूचे प्रसंग की गम्भीरता से सोचें तो ज्ञात होता है कि मानव ने आज तक जितने भी आविष्कार किए हैं उन सब में चमत्कारपूर्ण आविष्कार लेखन-कला है। क्योंकि इसी के द्वारा वह अपने विचारों की धरोहर को आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए छोड़ जाने में समर्थ हुआ। लिखने से भी पूर्व उसने बोलना सीखा किन्तु इससे भी पहले उसने चित्रण करना सीखा होगा। जब उसे

बोलना आ गया तो वह चित्रकला के माध्यम से अपने विचारो को आने वाली पीढ़ियो के लिए छोडने लगा।

किन्तु स्थिति यहीं पर समाप्त नहीं हुई। विचारो को किसी प्रकार लिपिबद्ध करना अथवा चित्रण द्वारा प्रस्तुत कर देना ही पर्याप्त नहीं था। मानव अब इस बात के लिए प्रयास करने लगा कि उसकी लिपि सरल और शुद्ध हो जिससे आसानी से सीखी जाकर उपयोग में लायी जा सके। यद्यपि अपने इस प्रयास मे उसने सफलता तो प्राप्त कर ली किन्तु उसे बहुत समय लग गया। इस प्रकार ऐसी लिपि का आविष्कार हजारो वर्षों के अनवरत परिश्रम का फल है। अमुक लिपि या भाषा हमारी है यह धारणा निर्मूल है क्योंकि विश्व की कोई भी वस्तु जिसका मनुष्य उपभोग कर रहा है किसी एक जाति या देश की नहीं है अपितु समूचि मानव जाति के सघर्ष के फलस्वरूप चाहे वह ससार के किसी हिस्से मे हुआ हो हम तक पहुँची है। भाषा या लिपि की उत्पत्ति सम्भवत प्राकृतिक शक्तियो की ध्वनियो से पशु-पक्षियो की ध्वनियो से वन्य पशुओ के भय से जीवन के सघर्ष से जातियो के झगडो से और भिन्न भिन्न मनुष्यो के भिन्न-भिन्न विश्वासो तथा रहन-सहन के तरीको से हुई होगी।

ससार की प्रत्येक लिपि का प्रारम्भ मूर्त पदार्थों के चित्रण से हुआ है। कालान्तर में ये ही चित्र साकेतिक बन गए तथा मौलिक ध्वनियो के लिए इनका उपयोग होने लगा। चित्र भी भाव बोधक तथा ध्वनि-बोधक के रूप मे दो प्रकार के होते हैं। सम्भवत लिपि का प्रारम्भ भावबोधक चित्रो द्वारा हुआ एव कालान्तर मे यह ध्वनिबोधक चित्रो मे परिणत हो गई। भावबोधक चित्र पदार्थों तथा भावनाओ का बोध कराने वाले होते हैं। ये मूर्त पदार्थों के वास्तविक और अमूर्त पदार्थों के साकेतिक चित्र होते है। ध्वनिबोधक चित्र ध्वनियो का बोध कराते हैं। इनकी उत्पत्ति भावबोधक चित्रो से ही हुई है। ध्वनिबोधक चित्र तीन प्रकार के होते हैं

(1) मौखिक

(2) शब्दाश और

(3) अक्षर

इनमे से प्रथम पूर्ण शब्द के लिए प्रयुक्त होते हैं द्वितीय शब्दो के उच्चारण के लिए प्रयुक्त होते हैं और तृतीय मौखिक ध्वनियो के लिए प्रयुक्त होते हैं। वर्तमान वर्णमालाओ के अनेक सकेत भाव चित्रात्मक हैं। उदाहरण के लिए 1 2 3 4 मूल मे अगुलियो के सकेतात्मक चित्र है और 5 हाथ का चित्र है। वर्णमालाओ के अक्षरो के विकास के मूल मे ध्वनिबोधक चित्र ही है जो परिवर्तित होते होते वर्तमान रूप मे परिणत हुए हैं। इस प्रकार लेखनकला या लिपि को निम्नाकित 4 भागो मे बाँटा जा सकता है।

(1) चित्रात्मक या मूर्तिपूजनात्मक लिपि

(2) सकेतात्मक या चित्रो द्वारा विचारो को व्यक्त करना

(3) ध्वन्यात्मक या चित्रा द्वारा ध्वनि को उत्पन्न करना और

(4) वर्णात्मक लिपि।

इस उपर्युक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त हमें कुछ अन्य लिपियो की और प्राप्ति भी होती है। इनमें से एक "भ्रूणलिपि" कहलाती है। ये आदि काल के गुफाओं में बनाए गए चित्र हैं, जो न विचारवाहक थे और न ऐतिहासिक, अपितु केवल रीतिवाहक थे। इन्हें Embryo Writing कहते हैं। चित्रात्मक लिपि में वस्तुओ के चित्रो द्वारा ही विचारों को व्यक्त किया जाता था, परन्तु संकेतात्मक लिपि में वस्तुओ के चित्र केवल वस्तुए न रह कर सकेत हो गए, जैसे सूर्य का चित्रात्मक लिपि में सूर्य का ही अर्थ निकाला जाता था। किन्तु सकेतात्मक लिपि में सूर्य के चित्र से दिन, गर्मी व प्रकाश का सक्ेत निकाला जाने लगा। अमेरिका के रेड-इडियनो का तम्बाखू पीने के पाइप का चित्र केवल पाइप ही रहा, किन्तु सकेतात्मक लिपि में उसका चित्र शान्ति का द्योतक माना गया। इसके अतिरिक्त एक "ब्रेल लिपि" भी है, जिसे एक नेत्रहीन अध्यापक लुई ब्रेल (1809 से 1852 ईस्वी) ने सन् 1829 में बनाया। सन् 1951 ईस्वी में हिन्दी ब्रेल का निर्माण हुआ। इसमें केवल छ बिन्दु ( ) होते हैं, जो कागज में उठे हुए छपते हैं, जिनको छू कर नेत्रहीन मनुष्य पढ लेते हैं। एक अन्य लिपि "आशु लिपि" भी होती है, जिसे सर आइजक पिटमैन ने सन् 1837 ईस्वी में बनाया था। एक "वाहन चालक लिपि" भी होती है, जो चिह्नात्मक है। इसे सडक के तथा रेलमार्ग के दोनों ओर देखा जा सकता है।

लेखन कला या लिपि का विकास

लेखन-कला या लिपि का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। इसके प्रारम्भ का रूप आदिम जातियो के रेखाचित्रों से ज्ञात होता है। मैक्सिको की चित्रलिपि से विदित होता है कि भावचित्र कालान्तर में ध्वनिबोधक चित्रो में परिवर्तित हो गए। विद्वानो की मान्यता है कि जब व्यक्तिवाचक सज्ञा का बोध कराने की आवश्यकता हुई, तो ध्वनिबोधक चित्रों का निर्माण हुआ। चित्र लिपि का आविष्कार विश्व में 5 स्वतन्त्र रूपों में हुआ-

(1) मिस्री लिपि
(2) मेसोपोटामिया की क्यूनीफार्म लिपि,
(3) चीनी लिपि,
(4) मेक्सिको की लिपि तथा
(5) हिटाइट लिपि।

इन सब में चीनी लिपि सबसे अधिक क्लिष्ट एव जटिल है। यह साकेतिक चित्रों की परिधि से बाहर न आ सकी। जब विशद भाव प्रकाशन की आवश्यकता ने विवश किया, तो मूर्त पदार्थों के चित्र अमूर्त विचारो को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किए गए। चीनी लिपि में हजारो साकेतिक शब्द चित्र हैं। किन्तु फिर भी इनमें काल, वचन, कारक बोधक शब्द नहीं हैं। अत इस लिपि को सीखना बहुत दुरूह है। इसीलिए चीन में साक्षर व्यक्तियों का बहुत मान होता है। जापानियो ने अपनी लिपि में शब्दाशों (सिलेबिलो) का प्रयोग कर उसे अधिक ग्राह्य तथा सरल बनाया। इसी तरह अन्य लिपियों में भी समय-समय पर परिवर्तन हुए। मिस्री लिपि में सेमेटिक द्वारा तथा सेमेटिक लिपि में यूनानियो ईरानियो तथा आर्यों द्वारा सुधार किए गए। आर्यों ने क्यूनीफार्म वर्णमाला का स्वरूप निर्धारित किया। ये परिवर्तन स्पष्ट करते हैं कि किस प्रकार मूल चित्र से भावबोधक चित्र भावबोधक चित्र से ध्वनिबोधक चित्र, ध्वनिबोधक चित्रों से

रदम या सिलेबिल (आक्षरिक संकेत) तथा शब्दाश से अन्त में वर्णमालाओं का विकास हुआ है। मिस्री लिपि में 800 ध्वनि संकेतों से घटते-घटते 35 रह गए।

वर्णमाला को अधिक सुगम और सुबोध बनाने का कार्य सेमेटिक जाति ने किया। हजरत नूह, जिन्होंने दुनिया के डूबते समय एक बड़ी नाव बनाकर सब जातियों के प्राणियों को आड़े रख कर पृथ्वी को फिर से आबाद किया था के बेटे साम के वंश का जाति को सेमेटिक कहते हैं। इसी जाति ने संसार को वर्णमाला दी तथा इसी ने मानव को सर्वप्रथम पत्थर पर अंकित पुस्तक दी। वर्णमाला के विकास में आर्यों का योगदान भी बहुत महत्वपूर्ण है। इन्होंने वर्णमाला में स्वर और व्यंजन का आविष्कार किया जिससे देवनागरी लिपि पूर्ण व अधिक सुबोध हुई। अरबी लिपि पूर्ण न हो सकी। उसमें व्यवस्थापक के लिए "नुकतों" का सहारा लेना पड़ा, जिसके बिना "बे नून ते से" आदि का अन्तर ज्ञान करना असम्भव होता है। इसमें 'हे' की स्थिति का बोध चार प्रकार से तथा 'न' की स्थिति का बोध दो प्रकार से कराया जाता है। आर्य लिपि में यह कठिनाई नहीं है। श्री टेलर महोदय ने कहा है कि "यदि सेमेटिक लिपि मनुष्य की खोपड़ी की हड्डी का ढांचा है, तो आर्य लिपि एक जीवित मनुष्य का पूर्ण मुख है जिसमें हृदयगत भावनाओं, क्रोध की भभकती ज्वाला और मीठी, मृदु मुस्कान को व्यक्त करने की पूर्ण क्षमता है।" सेमेटिक वर्णमाला की तीन शाखाएं थीं-

(1) फिनीशियन (जिससे यूनानी वर्णमाला की उत्पत्ति हुई)

(2) आरमीनियन (जिसमें ईरानी वर्णमाला का विकास हुआ) व

(3) दक्षिणी सेमेटिक (जिससे देवनागरी अक्षरों की उत्पत्ति हुई और भारत की वर्णमालाओं का विकास हुआ)।

भारतीय लेखनकला—भारत में लेखनकला या लिपि का उद्भव कब और कैसे हुआ, इस विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। भारतीय संस्कृति को अभिव्यक्त करने वाले प्राचीनतम ग्रन्थ वेद हैं। विश्व के वाङ्मय में लिखित रूप से विद्यमान ग्रन्थों में वेद से अधिक प्राचीन और कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है। अतः आज से लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व विद्यमान ये वेद उस समय क्या लिखित रूप में थे ? इस विषय में पाश्चात्य व भारतीय विद्वानों के मत एक जैसे नहीं हैं। पाश्चात्यों के अनुसार वैदिक ऋषियों ने जब सर्वप्रथम वेदमन्त्रों का उच्चारण किया, तो वह तुरन्त ही लिख नहीं लिया गया था, अर्थात् उसे तत्काल ही लिपिबद्ध नहीं कर लिया गया था। उस समय वेदों का पठन-पाठन मौखिक रूप में ही प्रचलित था। वेद को "श्रुति" कहते हैं और श्रुति का एक अन्य अर्थ "कान" भी होता है, क्योंकि प्राचीन काल में आचार्यों द्वारा अपने शिष्यों को वेद का ज्ञान श्रवण द्वारा कराया जाता था। इसी प्रकार "स्मृति" शब्द का भी यह अर्थ है कि जिसे स्मरण किया जाये। अतः इनका मत है कि भारतीय आर्य लोग पहले लिखना नहीं जानते थे। उनके वेदादि ग्रन्थों का पठन-पाठन केवल कथन-श्रवण द्वारा ही होता था। उस समय भारत में लिखने का प्रचार नहीं था। आर्यों ने विदेशियों से बाद में लिखना सीखा।

मैक्समूलर ने लिखा है कि "मैं निश्चय के साथ कहता हूं कि पाणिनि की परिभाषा में एक शब्द भी ऐसा नहीं है, जो यह सूचित करे कि लिखने की प्रणाली पहले से थी।" मैक्समूलर पाणिनि का समय ईस्वी पूर्व चतुर्थ शताब्दी स्वीकार करता है।

के प्राचीन पंडितों के अनुसार फोनेशीय लोग पूर्व की ओर से समुद्र के मार्ग द्वारा भूमध्यसागर के पूर्वी किनारे पर गये थे। ऋग्वेद के प्रमाण से भी पता चलता है कि फोनेशीय लोग भारत के निवासी थे। फोनेशिया तथा पश्चिमी एशिया की सामी लिपियों में साम्य का अभाव भी यह इंगित करता है कि फोनेशीय लोग कहीं बाहर से आए थे। इससे इसी बात की सम्भावना अधिक प्रतीत होती है कि भारत से ही फोनेशीय लिपि भूमध्यसागर के तट पर गई थी।''

(2) दक्षिणी सामी लिपि से उत्पत्ति–डॉ टेलर, डिके तथा कैनन आदि ने इस मत का प्रतिपादन किया है। किन्तु इस मत को स्वीकारने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। प्रथम तो इस्लाम के अभ्युदय के पूर्व भारतीय संस्कृति पर अरबी संस्कृति का तनिक भी प्रभाव दिखलाई नहीं पड़ता तथा द्वितीय ब्राह्मी एवं दक्षिणी सामी लिपि में किसी प्रकार का साम्य भी नहीं मिलता है। अतः इस प्रकार के साम्य की चर्चा ही हास्यास्पद है।

(3) उत्तरी सामी लिपि से उत्पत्ति–डॉ बूलर इस सिद्धान्त के सबसे बड़े पोषक हैं। उन्होंने अनेक तर्कों के आधार पर ब्राह्मी के 22 वर्णों का उद्भव उत्तरी सामी लिपि से, कतिपय वर्णों का प्राचीन फोनेशीय लिपि से, कुछ का मिस्र के शिलालेख से तथा 5 का उद्भव असीरिया के बाटों पर लिखित अक्षरों से माना है। इस सिद्धान्त के दूसरे बड़े समर्थक डॉ डेविड हैं, किन्तु इसका भी तर्कपूर्ण एवं युक्तियुक्त खण्डन किया जा चुका है।

किन्तु वास्तविकता यह है कि ब्राह्मी लिपि का उद्भव भारत में ही हुआ था। भारतीयों की यह लिपि अनादि है, जो ब्रह्मा की बनाई हुई है तथा सृष्टि के आरम्भ से ज्यों की त्यों चली आ रही है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि ब्रह्मा के द्वारा बनाई हुई होने के कारण ही इसका नाम भी ब्राह्मी ही है। ब्राह्मी लिपि का स्वरों और व्यंजनों की पर्याप्त संख्या एवं उच्चारण स्थान के अनुसार उसका विभिन्न वर्गों में वर्गीकरण यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित करता है कि इसके निर्माण में भाषाशास्त्र तथा व्याकरण के निष्णात ब्राह्मणों का हाथ था। इस लिपि की उद्भावना भी व्यावसायिक सुविधा के लिए नहीं हुई थी, अपितु पवित्र वैदिक साहित्य को लिपिबद्ध करने के लिए ही इसका सृजन हुआ था। ''इसका प्राचीनतम रूप सिन्धु घाटी लिपि में उपलब्ध है और वस्तुतः यह लिपि चित्र, भाव तथा ध्वन्यात्मक लिपि की विविध अवस्थाओं से होती हुई ब्राह्मी लिपि में परिणत हुई थी।'' ''यह भारतवर्ष के आर्यों का अपनी खोज से उत्पन्न किया हुआ मौलिक आविष्कार है।'' इसकी प्राचीनता और सर्वांग सुन्दरता से चाहे इसका कर्ता ब्रह्मा देवता माना जाकर इसका नाम ब्राह्मी पड़ा हो, अथवा साक्षर ब्राह्मणों की लिपि होने से यह ब्राह्मी कहलाई हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि इसका फोनेशियन से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।''

ब्राह्मी लिपि भारत की प्राचीन लिपि है, जिसका रूप अशोक एवं कुछ पूर्ववर्ती काल के शिलालेखों में मिलता है। हस्तलिखित लिपियों में सर्वत्र ही समय के साथ और लेखन रुचि के अनुसार परिवर्तन हुआ ही करता है। ब्राह्मी लिपि में भी बहुत-कुछ परिवर्तन हुआ और उससे कई लिपियाँ निकलीं। हमारे देश की नागरी, शारदा या कश्मीरी, गुरमुखी, बंगला, उड़िया, तेलगू, कन्नड़ी, तामिल आदि समस्त वर्तमान लिपियाँ

एक ही मूल लिपि ब्राह्मी मे निकली हैं । इन विभिन्न आधुनिक लिपियो का प्रचार ईस्वी सन् की आठवीं सदी से होना पाया जाता है । नागरी लिपि का प्रचार नवीं सदी के अन्त के आस-पास से मिलता है ।

प्राचीन भारत मे प्रचलित दूसरी खरोष्ठी लिपि को अधिकाश विद्वान् विदेशी ही मानते हैं । सम्भवत यह इरान के बादशाह डेरियस के राज्यकाल में भारत मे आयी और उत्तरी पश्चिमी भाग तक ही सीमित रही । इसमे कुल बाईस अक्षर थे तथा यह उर्दू की भाँति दाए से बाए लिखी जाती थी । इसमे भी सामी लिपि के समान ही स्वरचिह्न थोडे ही थे एव सयुक्ताक्षर भी कम ही थे । आज इसके केवल कुछ शिलालेख ही मिलते हैं । इसका इसा की प्रथम शताब्दी तक लोप हो चुका था । इस लिपि के नाम के सम्बन्ध म भी कई मत हैं । डॉ प्रजिलुस्की का कहना है कि "यह गधे की खाल पर लिखे जाने के कारण खरपृष्ठी तथा बाद मे खरोष्ठी कहलाई ।" डॉ चटर्जी के अनुसार, "खरोष्ठ का अर्थ हिब्रू मे 'लिखावट' है, उसी से ली जाने के कारण इसका नाम खरोष्ठी पडा ।" सुप्रसिद्ध चीनी कोष 'फायुअन चुलिन' के अनुसार "भारतीय विद्वान् खरोष्ठ द्वारा बनाई गइ होने के कारण इसका नाम खरोष्ठी पडा ।" कुछ लोगो के अनुसार इसका सीधा अर्थ "गधे के ओठ वाली" है । खरोष्ठ प्रदेश की लिपि होने के कारण भी कुछ लोग इसे खरोष्ठी कहते है । कालान्तर में यह लिपि काल के गाल में विलीन हो गइ और इसका स्थान ब्राह्मी लिपि ने ले लिया ।

लिखने के साधन– मनुष्य ने उस युग में अपनी आवश्यकता के अनुसार लेखन सामग्री का निर्माण कर लिया । भोजन, ताडपत्र, कागज, रुई का कपडा, रेशम का वस्त्र, चमडा, शिलाए, लकडी का पट्टा, स्वर्ण व ताम्बा आदि के पत्र पर लिखाई की जाती थी । कालिदास के समय अर्थात् इस्वी पूर्व प्रथम सदी में लिखने के लिए अक्षर भूमिका भूजपत्र तथा पत्ते काम म आते थे । अक्षरभूमिका तख्ती का प्राचीन रूप हो सकता है । कमलपत्र पर शकुन्तला ने पत्र लिखा था । उवशी ने भूजपत्र पर अपने हृदयगत भाव व्यक्त किए थे । सिन्दूर, मैनसिल, गेरू, धातुराग और नख से लिखा जाता था । मुख्यतया काली स्याही व कभी-कभी लाल स्याही से लिखा जाता था । बढिया काम के लिए सुनहरी तथा चाँदी की स्याही का उपयोग होता था । लेखनी या कलम से लिखा जाता था, जो सरकण्डे या पख की बनी होती थी ।

अध्याय 7

शिक्षा

(वैदिककाल से सातवीं सदी ईस्वी तक)

प्राचीन भारतीय शिक्षा– ज्ञान के सम्बन्ध में भारत में जो विचार-मन्थन हुआ है, *उस पर प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति आधारित रही है।* इस मन्थन में जीवन और मृत्यु के गहन से गहन और सूक्ष्म स्वरूपों की विवेचना समाहित है। जीवन और मृत्यु दोनों मिलकर जीवन को अनन्तता या पूर्णता को बनाते हैं। यह भारतीय संस्कृति का एक विशिष्ट दृष्टिकोण है। शिक्षण सम्बन्धी मूल्यों का निर्धारण इसी दृष्टि पर अवलम्बित रहा है। इस चिन्तन में व्यक्ति को प्रमुख स्थान मिला है। व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के प्रति शिक्षा प्रणाली उन्मुख रही है। व्यक्ति के विकास में समष्टि का विकास निहित है। इस सारणी में गुरु का पथ प्रदर्शक के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। "शिक्षा से मनुष्य में ज्ञान उत्पन्न होता है, और ज्ञानोद्भव का आधार तत्त्वशास्त्र और विवेक माना गया है।" (विष्णु पुराण) ज्ञान अथवा विद्या से मुक्ति प्राप्त होती है (सा विद्या या विमुक्तये) तथा मनुष्य जीवन में निपुणता प्राप्त करता है। "समाज में दो प्रकार के लोग होते हैं, एक तो वे जो प्रत्येक कार्य को समझ कर अर्थात् ज्ञान से करते हैं, दूसरे वे जो बिना सोचे-समझे अर्थात् अज्ञान से करते हैं। जो कर्म समझ कर ज्ञान से किये जाते हैं, वे ही कर्म शक्तिशाली तथा सफल होते हैं" (छान्दोग्य उपनिषद्)।

समाज का विकास और पतन शिक्षा की व्यवस्था के ही ऊपर आधारित रहता है। *शिक्षा की समुचित व्यवस्था पर ही सांस्कृतिक, बौद्धिक तथा वैज्ञानिक प्रगति सम्भव* है। भारतीय मनीषियों ने शिक्षा को उसकी व्यापकता के अनुसार ही महत्त्व प्रदान किया था। उन्होंने शिक्षा के व्यापक प्रभाव एवं महत्त्व को दृष्टि में रख कर सम्पूर्ण जीवन को ही शिक्षा प्राप्ति के लिए निर्धारित किया था। परन्तु इस सामान्य विधान के साथ-साथ प्रथम आश्रम या ब्रह्मचर्याश्रम को विशेष रूप से शिक्षा का काल घोषित किया था। "*आश्रम व्यवस्था का सार इसी तथ्य में निहित है कि एक आश्रम में रह कर ही दूसरे आश्रम के* उत्तरदायित्वों को पूरा करने की योग्यता प्राप्त की जा सकती है।" यह क्रम केवल प्रथम और द्वितीय आश्रमों तक ही नहीं रहता था, वरन् इसकी परिसमाप्ति तृतीय एवं चतुर्थ आश्रमों के उत्तरदायित्वों की पूर्ति की योग्यता प्राप्त कर, उन उत्तरदायित्वों को पूर्ण कर "मोक्ष" प्राप्ति में ही थी। "सम्पूर्ण जीवन शिक्षा के लिए था तथा शिक्षा सम्पूर्ण *जीवन के लिए थी।*"

शिक्षा का अर्थ एवं उद्देश्य

"शिक्षा" शब्द शिक्ष् धातु के आगे "आ" प्रत्यय टाप् लगाने से निष्पन्न होता है, जो किसी विद्या को सीखने या सिखाने की क्रिया के अर्थ में आता है। "शिक्षा अभ्यास,

विशेष शक्ति और इच्छाविशेष तथा सहनशक्ति की इच्छा के अर्थ मे प्रयुक्त मानी गई है।" इसके अतिरिक्त शिक्षा शब्द अनुशासन के अर्थ में भी प्रयुक्त होता था। अनुशासन के भी पुनः दो भाग थे, पहला बौद्धिक या मानसिक अनुशासन और दूसरा शारीरिक अनुशासन। वस्तुत शिक्षा अनुशासन का दूसरा नाम था। बौद्धिक और शारीरिक क्षेत्र में आत्मनिरोध की शक्ति होना ही अनुशासन है। इस अनुशासन के उपरान्त ही उक्त क्षेत्रो मे विकास सम्भव है। शिक्षा अपने एक अर्थ मे इसी के महत्त्व को प्रतिपादित करती थी। मनु और याज्ञवल्क्य आदि ने इन्हीं दोनो अर्थों को लेकर शैक्षणिक कार्यों के विषय मे उपदेश दिया था।

प्राचीन शिक्षा प्रणाली का विकास मानव जीवन के विशिष्ट उद्देश्यो को ध्यान में रखकर किया गया था। प्राचीन ऋषियो ने जीवन और जगत् के रहस्यो को सुलझाना ही मानव जीवन का महान् कर्त्तव्य समझा था। मृत्यु के रहस्य को समझने पर विश्व के कितने ही दु खों को समाप्ति हो सकती है। प्राचीन ऋषियो का जीवन आत्मा व परमात्मा तथा जीवन व मृत्यु की समस्याओ को सुलझाने मे व्यतीत होता था। इस सन्दर्भ में बहुत-से सत्य, सनातन सिद्धान्त एव तत्त्व भी उन्होंने ढूँढे थे। इस प्रकार उन्होंने मानव जीवन को पाशविकता के गर्त से निकाल कर विशाल एव उदात्त उद्देश्यो से युक्त कर दिया था। इस योग्यता को प्राप्त करने के विचार से ही शिक्षा प्रणाली विकसित की गई और आश्रम व्यवस्था का आयोजन किया गया। इस प्रकार "प्राचीन शिक्षा प्रणाली का उद्देश्य मनुष्य की निसर्गसिद्ध शक्तियों का सम्यक् विकास करके उसे सच्चे अर्थ मे मनुष्य बनाना था, जिससे यह जीवन की पहेलियो को सुलझाने में समर्थ हो सके" **(शिवदत्त ज्ञानी)**। उस समय शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य मानव के भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन का सर्वांगपूर्ण विकास करना था। समाज में यह विश्वास व्याप्त था कि मनुष्य का जीवन ज्ञान से ही धर्मप्रणव, नैतिक मूल्यो से युक्त, उच्च आदर्शों से संचालित एव बहुमुखी व्यक्तित्व से युक्त होता है। अत धार्मिक वृत्तियो, चरित्र व व्यक्तित्व का उत्थान, सामाजिक उत्तरदायित्वो का निष्पादन तथा सास्कृतिक जीवन का उत्थान शिक्षा के प्रधान उद्देश्य स्वीकार किए गए। इन्हे हम इस प्रकार वर्गीकृत कर सकते हैं-

(1) *आध्यात्मिक उत्थान*– प्राचीन भारत मे आध्यात्मिक मूल्यों को सर्वोपरि प्रतिष्ठा प्राप्त थी। दैनन्दिन क्रिया सन्ध्योपासन व्रतो का अनुपालन, धर्म समन्वित उत्सव आदि का अनुगमन उसकी धार्मिक वृत्तियो के उत्थान में योग देते थे। रश्मिमाला के अनुसार-

"व्रताना पालनेनैव तदगूढमात्मदर्शनम्।
जायते यमिना नूनमात्मविश्वासकारणम्॥"

अर्थात् व्रतो के पालन से सयमी मनुष्य को निश्चय ही अपने उस गूढ स्वरूप का भान होता है उसके आत्मविश्वास का कारण होता है। आध्यात्मिक उत्थान धार्मिक कृत्यों से सम्भव माना जाता था। सामान्यत विद्यार्थी के लिए सन्ध्यापूजन, स्नान आदि जो धर्म के अन्तर्गत ग्रहण किए गए थे, उनमे सत्यभाषण भी प्रमुख माना था। **"सर्वे धर्मा क्षय यान्ति यदि सत्य न विद्यते"** अर्थात् सत्य न बोलने से सभी धर्मों का क्षय हो जाता है। मनुष्य जीवन मे तप, दान, आर्जव (सरलता) अहिसा व सत्यवचन अनिवार्य माने गये, जो आध्यात्मिक प्रवृत्ति के प्रेरक तत्त्व थे।

(2) चारित्रिक उत्थान–आध्यात्मिक उत्थान का व्यक्ति के चरित्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है। उस समय व्यक्ति नैतिक क्रियाएँ सम्पन्न करते हुए सन्मार्ग का अनुसरण करता था। चरित्र और आचरण का इतना बड़ा महत्त्व था कि केवल गायत्री मन्त्र का ज्ञाता पण्डित अपनी सच्चरित्रता के कारण माननीय और पूजनीय था–

"सावित्रीमात्रसारोऽपि वर विप्र सुयन्त्रित ।
नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥" (मनुस्मृति)

चरित्र का उत्थान सत्कर्मों से माना गया था। सहिष्णुता और सौहार्द, सत्यनिष्ठा और नैतिकता व सदाचरण और आदर्श मनुष्य के गुण थे। ब्रह्मचर्याश्रम में छात्र का जीवन तप और नियमो से सयोजित था। अथर्ववेद के अनुसार ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाला तेजमय ब्रह्म अर्थात् ज्ञान को धारण करता है और उसमें समस्त देवता अधिवास करते हैं

"ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्त्ति ।
तस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदु ॥" (अथर्ववेद)

ब्रह्मचारी का तप और आचरण इतना शक्तिमान था कि सभी उसके सम्मुख नत होते थे। चरित्र के उत्थान मे ब्रह्मचर्य का मौलिक अभिप्राय वेद या ज्ञान को प्राप्त करना था। तप ब्रह्मचर्य जीवन का आवश्यक अग था।

(3) व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास–यह भी शिक्षा का तीसरा प्रमुख उद्देश्य था। इस विकास के द्वारा ही आत्मा के सयम, चिन्तन, आत्मविश्वास, विश्लेषण व विवेक की भावना, न्याय प्रवृत्ति और आध्यात्मिकता का उदय होना सभव था। आत्मविश्वास पर ही अपने उत्तरदायित्वो का समुचित निर्वाह किया जा सकता था। इसी विश्वास के कारण शिक्षा प्रारम्भ करने से पूर्व उपनयन सस्कार के समय विद्यार्थी का आत्मविश्वास जगाया जाता था और अग्नि से प्रार्थना की जाती थी कि "वह छात्र पर दयादृष्टि रखे तथा उसकी बुद्धि, मेधा व शक्ति में वृद्धि करे।" आत्मसयम से आत्मनियन्त्रण उत्पन्न होता है, जिसमें व्यक्तित्व का उत्कर्ष स्वाभाविक गति से होता है। 'सयम युक्त योग उस व्यक्ति के दु खो को दूर करता है, जो यथायोग्य आहार-विहार करने वाला, कर्मों में यथायोग्य रत रहने वाला और यथायोग्य सोने तथा जागने वाला होता है–

"युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगी भवति दु खहा ॥" (गीता)

(4) सामाजिकता के प्रति सजग–शिक्षा-सम्पन्न व्यक्ति सामाजिक उत्तरदायित्वों के प्रति सदैव सजग रहता है। विद्यार्थी के समावर्तन के उपदेश में इसका स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है–"सत्य बोलना। धर्म का आचरण करना। स्वाध्याय में प्रमाद मत करना। आचार्य को दक्षिणा दे देने पर सन्तति उत्पादन की परम्परा को मत तोड़ना। महान् बनने के सुअवसर को मत चूकना। देवता व पितरों का कार्य अवश्य करना। माता-पिता, आचार्य व अतिथि को देवतुल्य समझना। दोषरहित कार्यों को करना" (तैत्तिरीय उपनिषद्)। इस विवरण से स्पष्ट है कि विद्यार्थी इन उत्तरदायित्वों को विद्यार्जन द्वारा निभाता था।

(5) पवित्रता का महत्त्व–प्राचीन शिक्षा मे व्यावहारिकता का सम्यक् ज्ञान प्राथमिकता रखता था। इसे महत्त्व देने का आशय था कि छात्र रहन-सहन के सामान्य स्तर

को पवित्रता आदि के प्रारम्भिक ज्ञान से सीख सकता था । "पवित्रता ही शुद्ध विचारो की जननी मानी गई थी अत उसे इसका ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक था ।" शोचाचार की शिक्षा केवल सैद्धान्तिक नहीं थी । अपने प्रत्येक कार्य को उसे पवित्रता के साथ सम्पादित करना रहता था । उपनयन के पूर्व बालक यथेच्छाचारी के रूप में शोचाचार आदि के विषय मे नियमित नहीं रहता था । परन्तु शिक्षा प्रारम्भ होते ही जीवन को एक विशिष्ट गति मे रख कर नियन्त्रण करना आवश्यक था । स्मृतिकारो ने इस विषय की विस्तृत विवेचना की है ।

(6) शारीरिक क्षमता के विकास का महत्त्व–उस समय शारीरिक क्षमता की वृद्धि पर भी पर्याप्त ध्यान रखा जाता था । इस शक्ति को प्राप्ति के लिए प्राणायाम का विधान था । "प्राणायाम का अभ्यास प्रारम्भ करते समय उतनी देर तक प्राणायाम करना चाहिए जितनी देर पन्द्रह अक्षरो के उच्चारण मे लगती है ।" (कुल्लूकू भट्ट) । तदनन्तर प्रणवोच्चारण या ओकार किया जाता था । प्राणायाम तथा गायत्री को प्रारम्भिक पाठ कहा जा सकता है । "यह एकाक्षर ओम् ही परब्रह्म प्राप्ति का साधन होने से सर्वश्रेष्ठ हे । प्राणायाम से बढकर कोई तप नहीं है तथा गायत्री से श्रेष्ठ दूसरा मन्त्र नहीं है' (मनु) ।

शिक्षा का महत्त्व तथा विशेषताएँ

प्राचीन भारत में शिक्षा का अतीव महत्त्व था । विभिन्न ग्रन्थो में इसकी गरिमा का उल्लेख मिलता है । "ज्ञान मनुष्य का तीसरा नेत्र है" (ज्ञान तृतीय मनुजस्य नेत्रम्–*सुभाषितरत्न सन्दोह*) *विद्या का स्थान किसी भी वस्तु से बहुत ऊँचा है ।* "*विद्या के* समान कोई नेत्र नहीं है" (नास्ति विद्या सम चक्षु -महाभारत) । माता के समान रक्षा करती है पिता के तुल्य भलाई में लगाती है पत्नी के सदृश खेद दूर करके आनन्द देती है, लक्ष्मी बढाती है तथा चारो ओर यश फैलाती है विद्या कल्पलता के समान क्या-क्या मनोरथ सिद्ध नहीं करती है-

"मातेव रक्षति पितेव हिते नियुक्ते
कान्तेव चाभिरमयत्यपनीय खेदम् ।
लक्ष्मी तनोति वितनोति च दिक्षु कीर्ति
कि कि न साधयति कल्पलतेव विद्या ॥'

"*विद्या से विनय विनय से पात्रता पात्रता से धन धन से धर्म और धर्म से सुख* मिलता है ।' व्यक्ति मे मानवता का जागरण विद्या ही कराती है ।' बुद्धिर्यस्य बल तस्य" अर्थात् जिसमें बुद्धि है वही शक्तिशाली है । इस प्रकार बल का स्रोत भी इसी को माना गया है । यही लोक को सुधारने वाली है । पुरुषार्थ के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कराने वाली विद्या ही स्वीकार की गई है-

"सा विद्या या विमुक्तये ।"

प्राचीन काल में भारतीय सस्कृति के प्रत्येक पक्ष पर वेद उपनिषद्, पुराण आदि के जीवनदर्शन की छाप पडी । अत इस काल की शिक्षा पद्धति पर भी इसी का प्रभाव पडा । ऐसी स्थिति में *प्राचीन भारतीय शिक्षा की* **सर्वप्रथम विशेषता** *जीवनदर्शन तथा शिक्षा के मध्य समन्वय है ।* "जैसा जीवन था वैसी शिक्षा पद्धति थी ।' शिक्षा की **दूसरी विशेषता** "धार्मिक दर्श" का प्राधान्य" था । प्राचीनकाल का भारतीय जीवन धार्मिक विचारो कर्मकाण्ड तथा अनुष्ठानो से पूर्ण था । जीवन के प्रत्यक्ष अग मे धर्म को प्रमुख

स्थान प्राप्त था । अत: शिक्षा के उद्देश्यों, उपकरणों एवं आदर्शों में धार्मिक प्रवृत्ति की प्रधानता थी। तीसरी विशेषता प्राचीन भारतीय शिक्षा की आदर्शवादिता थी। "आदर्शवादी परम विचारक होता है।" इसका परिणाम यह हुआ कि शिक्षा में आध्यात्मिक उत्कर्ष की भावना ही प्रबल बनी रही तथा इस शिक्षा में वैयक्तिक आदर्श-प्राप्तियों की ओर ही संकेत रहा । इस काल के शिक्षा केन्द्रों की व्यवस्था एवं पाठ्यक्रम में भी आदर्शवादी दृष्टिकोण अपनाया गया।

इसकी चौथी विशेषता तत्कालीन शिक्षा की व्यवस्था है । शिक्षा को दर्शन समझा जाता था तथा छ: वेदांगों में शिक्षा भी एक वेदांग थी । वैदिक काल में धार्मिक अनुष्ठानों एवं दैनिक क्रियाओं का पालन करने के लिए विविध नियम थे । इन नियमों का अभ्यास एवं ज्ञान गुरु द्वारा प्रदान किया जाता था । गुरु का स्थान सर्वोपरि था । उसके बिना कोई भी शिक्षित अथवा ज्ञानी नहीं बन सकता था । शिष्य के लिए कठोर नियमों की व्यवस्था थी तथा शिक्षा का समस्त क्रम गुरुकुल में ही सम्पादित होता था । गुरु शिष्य के सम्बन्ध पारस्परिक मान्यताओं पर आधारित थे, जो जीवन पर्यन्त निभाने पड़ते थे । इसकी अगली विशेषता तत्कालीन शिक्षा का परिणाम थी । शिक्षा का ध्येय ज्ञान प्राप्त कराना था। ज्ञानप्राप्ति की जाँच के लिए एक परिस्थिति पैदा की जाती थी । इसमें शिष्य को स्वयं अपने ज्ञान एवं गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान की उपलब्धि का बोध हो जाता था । प्राचीन भारतीय शिक्षा की एक और विशेषता "ज्ञान प्राप्ति की विधि" थी । इसका आधार जिज्ञासा था । शिक्षा का कार्य शिष्य के हृदय में उत्पन्न जिज्ञासा की तृप्ति करना था । इस प्रक्रिया द्वारा गूढ़ तथा गुप्त से गुप्त प्रश्न का हल स्वयं ज्ञात हो जाता था । इस विधि में पुनरावृत्ति पर विशेष बल दिया जाता था । इससे प्राप्त ज्ञान चिरस्थायी हो जाता था ।

प्राचीन भारतीय शिक्षा की अन्तिम विशेषता शिक्षाकाल के निश्चितीकरण में थी । ब्रह्मचर्याश्रम के 25 वर्ष का समय शिक्षा प्राप्त करने का काल था । इसमें मन, वाणी व कर्म द्वारा ब्रह्मचर्य के नियमों का कठोरतापूर्वक पालन करते हुए ज्ञानप्राप्ति का प्रयत्न किया जाता था । इसके द्वारा स्वयं के ऊपर मानसिक, शारीरिक तथा व्यावहारिक नियन्त्रण रखा जाता था, जिससे अनुशासन पैदा होता था और शिष्य में आत्मिक बल विकसित होता था । भारत के प्राचीन इतिहास में जब बौद्ध धर्म का आगमन हुआ, तो शिक्षा में भी कतिपय नई परम्पराओं का जन्म हुआ । वैदिक काल में शिक्षा का कार्य नि:शुल्क था, किन्तु बौद्ध काल में शिक्षा का शुल्क निश्चित होने लगा था । शिक्षक के वेतन की परम्परा का भी जन्म हो गया था । इसके परिणामस्वरूप शिक्षा के विस्तार पर भी प्रभाव पड़ा । पहले शिक्षा तथा धर्म का बड़ा गहरा सम्बन्ध था । किन्तु बौद्ध धर्म ने धार्मिक मान्यताओं में परिवर्तन करके शिक्षा के क्षेत्र में सामाजिक तत्वों का प्रवेश कर दिया । सामाजिक दृष्टिकोण के कारण सारी शिक्षा व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गए । शिक्षा अन्य सामाजिक उद्देश्यों को प्राप्त करने का ही प्रमुख साधन बन गई । भारतीय शिक्षा के इतिहास में यह समय बड़ा ही महत्त्वपूर्ण था , क्योंकि इस समय ऐसी परम्पराओं ने जन्म लिया, जो आज भी चली आ रही हैं ।

प्राचीन शिक्षा पद्धति—बालक के विद्यारम्भ तथा उपनयन संस्कार से इस दिशा में प्रयास प्रारम्भ हो जाते थे । प्राय पांच वर्ष की अवस्था से विद्या का आरम्भ माना जाता था । अपरार्क और स्मृति-चन्द्रिका ने मार्कण्डेय पुराण को उद्धृत करते हुए सन्तान के

विद्यारम्भ की यही उम्र स्वीकार की है। विद्यारम्भ में बालक गुरु की वन्दना करता व उसके प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त करता था। संभवतः यह संस्कार प्रारम्भ में चौलकर्म (चूड़ाकर्म) के साथ सम्बद्ध था। कौटिल्य के उल्लेख से विदित होता है कि चौलकर्म के साथ लिपि का ज्ञान कराया जाता था-"वृत्तचौलकर्मा लिपिसख्यान चोपयुंजीत" (अर्थशास्त्र)। प्रारम्भिक शिक्षा में छात्र को लिखने के लिए पटिया और खड़िया दी जाती थी। उपनयन संस्कार के पश्चात् सुव्यवस्थित एवं सुनियोजित शिक्षा का प्रारम्भ होता था। शूद्रों के अतिरिक्त अन्य तीनों वर्णों के लिए उपनयन संस्कार अनिवार्य था। प्रायः तीनों वर्णों के बालक अपने कुटुम्ब से दूर गुरु के यहाँ शिक्षा ग्रहण करने के लिए जाते थे।

गुरु का महत्त्व—उपनयन संस्कार के बाद गुरुगृह में शिक्षा ग्रहण करने का प्रावधान था। उपनिषदों में गुरुकुल के स्थान पर आचार्यकुल का प्रयोग किया गया है। यहाँ "कुल" शब्द अत्यन्त सार्थक तथा सारगर्भित था। शिष्य अपने माता-पिता के कुल से आचार्यकुल में जाता था। वहाँ आचार्य और उनकी पत्नी में अपने पिता-माता के समान भाव रखता हुआ पारिवारिक वातावरण का अनुभव करता था। उस शिक्षा पद्धति का प्रधान आधार "शिक्षक" था। अध्यापन या शिक्षण मौखिक होता था। "पढने वाला गुरु की बातें उसी प्रकार दुहराता है, जिस प्रकार एक मेंढक टर्राने में दूसरे मेंढक की वाणी पकड़ता है" (ऋग्वेद)। विद्यार्थी के गुरु के पास रहने की इस परिपाटी में गुरु का पद स्वभावतः उच्च तथा महान् हो गया था। छान्दोग्य व श्वेताश्वतर उपनिषद् में गुरु को ईश्वर के पद पर रखा गया है और परम श्रद्धास्पद माना है। "शिष्य को चाहिए कि वह गुरु को भगवान् की भाँति माने" (आपस्तम्ब धर्मसूत्र)। "जनक और गुरु दोनो पिता हैं, किन्तु वह जनक (आचार्य), जो पूत वेद का ज्ञान देता है, उस जनक (पिता) से महत्तर है, जो केवल शारीरिक जन्म देता है, क्योंकि आध्यात्मिक विद्या में जन्म होता है, वह ब्राह्मण के लिए इहलोक तथा परलोक दोनों में अक्षुण्ण एवं अक्षम होता है (मनुस्मृति)। गौतम ने आचार्य को सभी गुरुओं में श्रेष्ठ माना है।

गुरु के विविध रूप—यद्यपि आचार्य, गुरु एवं उपाध्याय शब्द समानार्थक रूप में प्रयुक्त होते हैं, फिर भी इनमें अन्तर माना गया है। "जो ब्रह्मचारी का उपनयन करता है और उसे सम्पूर्ण वेद पढ़ाता है, वही आचार्य है" (याज्ञवल्क्य)। "आचार्य विद्यार्थी को सम्यक आचार समझने को प्रेरित करता है या उससे शुल्क एकत्र करता है या शब्दो के अर्थ एकत्र करता है या बुद्धि का विकास करता है" (निरुक्त)। "विद्यार्थी आचार्य से अपने कर्त्तव्य या आचार एकत्र करता है, इसीलिए वह आचार्य कहलाता है।" (आपस्तम्ब धर्मसूत्र)। "जो व्यक्ति किसी विद्यार्थी को वेद का कोई एक अंग या वेदाग का कोई अंश पढ़ाता है और अपनी जीविका इस प्रकार चलाता है, वह उपाध्याय है और गुरु वह है, जो बच्चे का संस्कार करता है और पालन-पोषण करता है। अन्तिम परिभाषा से गुरु तो पिता ही ठहरता है (मनुस्मृति)। याज्ञवल्क्य भी गुरु उसे ही मानते हैं, जो संस्कार करता है और वेद पढ़ाता है। इससे स्पष्ट है कि आरम्भ में पिता ही अपने पुत्र को वेद पढ़ाता था। वास्तव में "गुरु" शब्द पुरुष या स्त्री के प्रति श्रद्धा प्रकट करने के लिए अधिकतर प्रयुक्त होता था। "पिता, माता एवं आचार्य तीन गुरु हैं" (विष्णु धर्मसूत्र)। "पिता, माता, आचार्य, ज्येष्ठ भ्राता, पति (स्त्री के लिए) की गुरुओं में गणना होती है" (देवल)।

आचार्य के गुणों के विषय में कहा गया है कि उसे ब्राम्हण, वेद में एकनिष्ठ, धर्मज्ञ, कुलीन, शुचि, श्रोत्रिय होना चाहिए, अपनी शाखा में प्रवीण तथा अप्रमादी होना चाहिए। यह भी प्रावधान था कि आपत्काल में अर्थात् जब ब्राम्हण न मिले, तब क्षत्रिय या वैश्य को आचार्य बनाना चाहिए। मनु ने "शुभा विद्या" अर्थात् प्रत्यक्ष लाभकारी ज्ञान के लिए ब्राम्हण को शूद्र से भी सीखने के लिए छूट दी है। अध्ययन कार्य के लिए प्रार्थना करने पर अस्वीकार करने की दशा में आचार्य को विफल माना जाता था। "जो गुरु अपना ज्ञान नहीं बाँटता, वह सूख जाता है" (प्रश्नोपनिषद्)। आचार्य द्वारा वर्ष भर ठहराने के उपरान्त भी शिष्य को न पढ़ाने पर उसे (गुरु को) पाप भुगतना पड़ता था। ऐसे आचार्य त्याज्य और निन्दनीय कहे गए हैं। आचार्य के लिए कहा गया था-

"वह अपने व्यवहार से औचित्य और अनौचित्य का ध्यान रखते हुए, सत्य भाषण करते हुए, तप का पालन करते हुए, इन्द्रियों का संयम रखते हुए, मन को शान्त रखते हुए, सन्तानोत्पत्ति, सन्तानपालन आदि गृहस्थ धर्म का निर्वाह करते हुए स्वाध्याय और प्रवचन करे। सर्वदा तपश्चर्या में निरत पुरशिष्ट के पुत्र तपस को ही परम ध्येय कहते हैं। मुद्‌गल के पुत्र नाक का मत है कि स्वाध्याय और प्रवचन को ही मुख्य कर्त्तव्य मानना चाहिए, क्योंकि इनका अनुपालन ही वास्तविक तप है" (तैत्तिरीय उपनिषद्)। इस विवरण से स्पष्ट है कि आचार्य की योग्यता उसके स्वाध्याय और प्रवचन में निहित थी। किन्तु इसके साथ-साथ उसमें सत्याचरण, सत्यभाषण, कष्टसहिष्णुता, सयम और चित की एकाग्रता का होना भी अनिवार्य था। अथर्ववेद में उसके लिए कहा गया है कि "वह पढने की दीक्षा लेने आए ब्रम्हचारी को गर्भ में धारण करता है" अर्थात् जिस प्रकार माता अपने शिशु को गर्भ में धारण कर लेने के बाद उसे अपने शारीरिक तत्त्वों से समृद्ध करती है और उसमें कमी नहीं आने देती है, उसी प्रकार आचार्य भी अपने शिक्षार्थी को ज्ञानगर्भ के किसी भी ज्ञान से निराश नहीं कर सकता-

"आचार्य उपनयमानो ब्रम्हचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।"—अथर्ववेद

गुरु और शिष्य का सम्बन्ध—प्राचीन काल में गुरु और शिष्य का सम्बन्ध आदर्शात्मक था, जैसा कि पिता और पुत्र का होता है। यह कहा गया था कि शिष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने आचार्य को पितृतुल्य व मातृतुल्य माने तथा किसी भी अवस्था में उसके प्रति द्रोह न करे-

"तं मन्येत पितरं मातरं च
तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्चनाह।"—(निरुक्त)

आचार्य की देवतुल्य और उच्चस्थ प्रतिष्ठा का सन्दर्भ महाभारत के उद्योग पर्व में भी मिलता है। मनुस्मृति में यह उल्लिखित है कि "विद्या ने ब्राम्हण के पास आकर कहा कि मैं तुम्हारा कोष हूँ, मेरी रक्षा करो। मेरी निन्दा करने वालों के लिए मुझे मत दो, इससे मैं अत्यन्त वीर्यवती होऊँगी, जिसे तुम पवित्र, जितेन्द्रिय और ब्रम्हचारी समझो, उसे मुझे पढ़ाओ।" मनु के अनुसार द्विज बालक के दो जन्म होते हैं। पहला जन्म माता के गर्भ से होता है और दूसरा उपनयन संस्कार से। द्वितीय जन्म ब्रम्ह अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति के लिए होता है और इस द्वितीय जन्म में उसकी माता गायत्री (मन्त्र) होती है और पिता आचार्य होता है। शिष्य का यह कर्त्तव्य था कि वह गुरु की दिन-रात सेवा करे और गुरु

का यह कर्त्तव्य था कि वह स्नेहपूर्वक शिष्य से पुत्रवत्-प्रेम करे तथा उसकी समस्त जिज्ञासाओ का समाधान करे। किसी भी अध्यापक को यह उचित नहीं था कि वह किसी विद्यार्थी को अपेक्षित ज्ञान से वंचित रखता, बल्कि वह शिष्य को अनेकानेक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा देता था।

शिष्य की योग्यता तथा गुण–शिष्य या विद्यार्थी के लिए विद्यार्जन के प्रति निष्ठावान् तथा जिज्ञासु होना आवश्यक था। गुरु उसकी जिज्ञासु प्रवृत्ति और कर्त्तव्य बुद्धि की जानकारी रखता था। प्रतिभावान् एवं सुयोग्य शिष्य को चुनना गुरु की कुशलता का द्योतक था। यह गुरु की विशेषता होती थी, जब वह मन्दबुद्धि छात्र के मस्तिष्क मे ज्ञान का मन्त्र फूँक सकने मे समर्थ होता था। आचार्य जब अपने शिष्य के विषय मे पूरी जानकारी प्राप्त कर लेता था और सन्तुष्ट हो जाता था, तब उसे अपना शिष्य स्वीकार करके शिक्षा प्रदान करता था। शिष्यो के गुणो के विषय मे निरुक्त द्वारा उद्धृत विद्यासूक्त मे आया है कि-

"जो शिष्य विद्या को घृणा की दृष्टि से देखे कुटिल एव असंयमी हो ऐसे शिष्य को विद्या दान नहीं करना चाहिए। किन्तु जो पवित्र, ध्यानमग्न, बुद्धिमान्, ब्रह्मचारी गुरु के प्रति सत्यव्रती हो तथा जो अपनी विद्या की रक्षा धनकोष की भाँति करे, उसे शिक्षा देनी चाहिए" **(यास्क)**।

याज्ञवल्क्य ने इनको शिक्षा के योग्य माना है-

"कृतज्ञाद्रोहिमेधाविशुचिकल्यानसूयका।
अध्याप्या धर्मत साधुशक्ताप्तज्ञानवित्तदा ॥"

अर्थात् कृतज्ञ, द्रोहहीन, मेधावी, पवित्र, आधिव्याधि से मुक्त, पर-दोषान्वेषण से विरत, सदाचारी, सेवा मे समर्थ, बन्धु विद्याप्रद एव धनदाता ये ही शास्त्र के अनुसार अध्यापन योग्य होते हैं। मनु के अनुसार ये दस प्रकार के व्यक्ति शिक्षण योग्य हैं-

(1) गुरुपुत्र,
(2) गुरुसेवी शिष्य,
(3) जो बदले मे ज्ञान दे सके,
(4) धर्मज्ञानी,
(5) जो मन, देह से पवित्र हो,
(6) सत्यवादी,
(7) जो अध्ययन करने एवं धारण करने में समर्थ हो,
(8) जो शिक्षण के लिए धन दे सके,
(9) जो व्यवस्थित मन का हो तथा,
(10) जो निकट सम्बन्धी हो।

"ब्रह्मचारी को सदा गुरु पर आश्रित एव उनके नियन्त्रण के भीतर रहना चाहिए, उसे गुरु को छोड किसी अन्य के पास नही रहना चाहिए।" **(आपस्तम्ब)**। बहुत प्राचीन काल से ही यह बात प्रचलित-सी रही है कि विद्यार्थी गुरु के पशुओ को चराए, भिक्षा माँगे और गुरु को उसकी जानकारी करा दे, गुरु की पवित्र अग्नि की रक्षा

करे तथा गुरु-कार्य के सम्पादन के उपरान्त जो समय मिले उसे वेदाध्ययन में लगाए। गौतम के अनुसार शिष्य को असत्य भाषण नहीं करना चाहिए, प्रतिदिन स्नान करना चाहिए, सूर्य की ओर नहीं देखना चाहिए तथा मधु सेवन, माँस, इत्र या गन्ध, पुष्प सेवन, दिन शयन, तेल मर्दन, अजन, यान यात्रा, उपानह या जूता आदि पहनना छाता लगाना, प्रेम व्यवहार, क्रोध, लालच, मोह, व्यर्थ विवाद, वाद्ययन्त्र वादन, गर्म जल मे आनन्ददायक स्नान, बडी सावधानी से दाँत स्वच्छ करना, मन की उल्लासपूर्ण स्थिति, नाच, गान, दूसरों की भर्त्सना, भयावह स्नान, नारी को घूरना या युवा नारियो को छूना, जुआ, शूद्र पुरुष की सेवा या नीच कार्य करना, पशु हनन, अश्लील बातचीत, आसव सेवन आदि से दूर रहना चाहिए। मनु ने यह भी लिखा है कि शिष्य को अपने गुरु के विरोध में कहे जाते हुए शब्द नहीं सुनने चाहिए।

ऋग्वेद मे कई शिखाओ वाले बच्चो के बारे में उल्लेख मिलते हैं। गौतम तथा मनु के अनुसार ब्रह्मचारी को मुँडा रहना चाहिए अथवा जटाबद्ध रहना चाहिए। जनमार्ग पर चलते समय शिखा खोलने की मनाही थी। अभिवादन तीन प्रकार का होता था-

(1) नित्य (प्रतिदिन के लिए आवश्यक)
(2) नैमित्तिक (विशिष्ट अवसरो पर ही करने योग्य) तथा
(3) काम्य (किसी अभिकाक्षा से प्रेरित होने पर किया जाने वाला)।

नैमित्तिक अभिवादन कभी-कभी होता था, यथा किसी यात्रा के उपरान्त। लम्बी आयु की आशा से तथा कल्याण के लिए कोई भी गुरुजनो को प्रणाम कर सकता था। गुरु के आश्रम मे शिक्षा प्राप्त करते हुए विद्यार्थी के साथ समानता का व्यवहार होता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य कुलोत्पन्न द्वि-जाति बालक समान रूप से अपनी वर्णव्यवस्था के अन्तर को दूर रख कर अध्ययन करते थे। उनमें वर्णानुकूल अन्तर प्रथम आश्रम की समाप्ति के उपरान्त ही आता था। इसके अतिरिक्त गुरु के आश्रम मे विद्यार्थियों के मध्य धनी और निर्धन की भावना के लिए भी स्थान नहीं था। सभी ब्रह्मचारियो को चाहे वे राजकुल में उत्पन्न हों अथवा अत्यन्त निर्धन कुल में, समान रूप से अध्यवसायी होना पडता था। विद्यार्थियों के सादे और व्रतपूर्ण जीवन में धन की आवश्यकता नहीं थी। यदि कभी होती, तो समाज सामूहिक रूप से उसका उत्तरदायित्व रखता था।

शिक्षार्थी को ब्रह्मचर्य व्रत का पालन अनिवार्य रूप से करना पडता था। उसे जिह्वा को अच्छे लगने वाले पदार्थों का भी परित्याग करना पडता था। मृदु स्वभाव तथा परदु ख कातरता की अभिवृद्धि के लिए उसे प्राणिवध से सर्वथा दूर रहना पडता था। उसकी वेशभूषा मृगचर्म, यज्ञोपवीत, मेखला तथा पलाशदण्ड मात्र ही थी। उन्हें भावी जीवन में कष्टसहिष्णु बनने के लिए यह आवश्यक था कि प्रथम आश्रम में रह कर वे हर प्रकार की परिस्थितियो का सामना करना सीख लें। भिक्षावृत्ति के लिए यह आदेश था कि वे अपने सम्बन्धियो के कुल से, अपने गुरु के कुल से तथा अपनी जाति वालों के यहाँ न माँगें। इसके अतिरिक्त नास्तिक, वेदनिन्दक, महापातकियों से भिक्षा माँगने का निषेध था। उसे एक ही घर से पूर्ण भिक्षा ग्रहण करने का भी निषेध था। भिक्षा में भी अधिक मात्रा लाकर संचित करने का निषेध था। उसे प्रतिदिन ही भिक्षा माँग कर लाना होता था। यदि वह भिक्षा नहीं माँगता था, तो भोजन करने का निषेध था। ब्रह्मचारी के इस प्रकार के

जीवन को देख कर ही यह कहा गया है कि "सुख चाहने वालो को विद्या कहाँ तथा *विद्यार्थियो को सुख कहाँ*-

"सुखार्थिन कुतो विद्या,
कुतो विद्यार्थिन सुखम् ॥"

दण्डविधान–गुरुकुल में यद्यपि ब्रह्मचारी स्वाभाविक रूप से अनुशासन का पालन करते थे फिर भी उनसे यदा-कदा त्रुटि तो हो ही जाती थी। ऐसी स्थिति में उसके लिए उदार दण्ड व्यवस्था का विधान किया गया है। मनु ऐसे अपराध करने वाले शिष्यो के लिए मधुर वाणी के प्रयोग की सराहना करते हैं। यदि मधुर वाणी से भी कोई नही समझता, तो फिर अनुशासन के लिए रस्सी अथवा पतली बास की छडी से केवल पीठ पर ही मारने की व्यवस्था थी। गौतम के अनुसार "साधारणत बिना मारे-पीटे शिष्यों को व्यवस्थित करना चाहिए किन्तु यदि शब्दो का प्रभाव न पडे तो पतली रस्सी या बाँस की फट्टी से मारना चाहिए। किन्तु यदि अध्यापक किसी अन्य प्रकार से मारे तो उसे राजा द्वारा दण्डित किया जाना चाहिए।" "शब्दा द्वारा भर्त्सना करनी चाहिए और अपराध की गुरुता के अनुसार धमकाना, भोजन न देना, शीतल जल में स्नान कराना सामने न आने देना आदि दण्डों में से कोई एक या कई दिए जा सकते हैं" (आपस्तम्ब)। महाभाष्य मे अनुदात्त को उदात्त और उदात्त को अनुदात्त कहने पर उपाध्याय द्वारा चपेटा (चैंटा) मारने की ओर सकेत किया गया है। "नियम विरुद्ध जाने पर शिक्षक को वही दण्ड मिलता था, जो किसी चोर को मिलता था" (मनुस्मृति)। अतएव व्यक्तित्व के स्वाभाविक विकास के लिए यह आवश्यक होता था कि विद्यार्थियो के लिए प्रयुक्त होने वाला दण्डविधान मनोवैज्ञानिकता पर आधारित हो। शरीर दण्ड इसी कोटि मे आता था। छात्र के लिए ऐसा दण्ड नहीं था जो अन्य विद्यार्थियो के लिए एक उदाहरण बन जाए वरन् यह दण्डविधान उसके सुधार को दृष्टि में रख कर ही किया गया था।

गुरुकुल व्यवस्था–गुरुकुल पद्धति मे शिष्य को गुरु के सम्पर्क मे आने और उसका अनुकरण करने का सुयोग व अवसर प्राप्त होता था। श्रेष्ठ तथा योग्य गुरुओ के आदर्श जीवन का सम्पर्क विद्यार्थियो पर उत्तम प्रभाव डालता था। गुरुकुल का पुनीत वातावरण भी विद्यार्थी के चरित्र और स्वभाव के निर्माण मे सहायक होता था। गुरुकुलों मे विद्यार्थी के ऊपर कुटुम्ब के सभी तत्त्व प्रभाव डालते थे। गुरुकुल प्राय वनो मे होते थे *जहाँ का शान्त वातावरण शिक्षा प्राप्त करने के लिए अच्छा होता था।* कृष्ण, बलराम और सुदामा ने सन्दीपनि मुनि के आश्रम में तथा कच ने शुक्राचार्य के कुल में विद्यार्जन किया था। रामायण के अनुसार भारद्वाज और वाल्मीकि के आश्रम उच्चकोटि के गुरुकुल थे। महाभारत के अनुसार मार्कण्डेय एव कण्व ऋषि के आश्रम शिक्षा के प्रधान स्थल थे। यहाँ बहुसख्यक छात्र विद्याध्ययन करते थे। दुर्वासा मुनि जब कुरुनरेश से मिलने गए, तब उनके साथ दस हजार शिष्य थे। यहाँ उल्लेखनीय है कि जिस ऋषि या आचार्य के पास दस हजार छात्र निवास करते हुए विद्याध्ययन करते थे, वह "कुलपति" कहा जाता था-

"मुनीना दस साहस्त्र योऽन्नपानादिपोषणात्।
अध्यापयति विप्रर्षिरसौ कुलपति स्मृत ॥"

इन सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि समाज में गुरुकुल की महत्ता पूर्णत स्थापित हो चुकी थी। विद्यार्थी का गुरुकुल मे प्रवेश करना उसके नवीन जन्म के समान था। यह

उसके जीवन की गौरवमयी घटना मानी जाती थी। सत्यकाम जाबाल आचार्य हारिद्रुमत गौतम के कुल में अन्तेवासी बन कर ज्ञान प्राप्ति के निमित्त गया था। सत्यकाम के कुल में उपकोसल कामलायन ने शिक्षार्थी के रूप मे बारह वर्ष ब्रह्मचर्यपूर्वक व्यतीत किये थे। चन्द्रगुप्त मौर्य ने तक्षशिला मे चाणक्य के सान्निध्य में रह कर शिक्षा ग्रहण की थी। जातक व निकाय ग्रन्थो के अनुसार चम्पानिवासी दिशाप्रमुख आचार्य के आश्रम मे पाँच सौ छात्र शिक्षा ग्रहण करते थे। कोशल के सुनेत और सेल उस युग के विख्यात आचार्य थे। मिथिला का ब्रह्मायु वैदुष्य ब्राह्मण अनेक शिष्यो का आचार्य था। गुप्तकाल में भी गुरुकुल की शिक्षा निर्बाध रूप से चलती रही। ब्राह्मण आचार्यों के निवास विद्यार्जन के प्रधान केन्द्र थे।

शिक्षा व्यवस्था एव शुल्क–प्राचीनकाल में साधारणतया वैयक्तिक शिक्षा का प्रचलन था। किसी आचार्य की प्रतिष्ठा सुन कर विद्यार्थी उससे शिक्षा ग्रहण करने जाते थे। इस प्रकार एक गुरु के पास 15 या 20 से अधिक छात्र नहीं होते थे। उस समय आधुनिक विद्यालयों के समान सगठित सस्थाओं की व्यवस्था नहीं थी। किन्तु कुछ स्थानों पर कई प्रसिद्ध शिक्षको के रहने के कारण ये स्थान शिक्षा के केन्द्रों के रूप में प्रतिष्ठा पाते थे। ऐसी प्रसिद्धि के पीछे कई कारण होते थे। कुछ नगर तो राजधानी के कारण प्रसिद्ध विद्वानों के लिए आकर्षण बने रहते थे, जहाँ उन्हें राजदरबार का सरक्षण और आश्रय मिल सकता था। तीर्थों मे भी विद्वानो और पण्डितो के एकत्रित होने के लिए सुविधाए थीं। कुछ व्यावसायिक नगर भी अपने वैभव के कारण शिक्षा के केन्द्र के रूप मे विकसित हुए। इन प्रसिद्ध शिक्षाकेन्द्रों में तक्षशिला, वाराणसी, धारा, उज्जयिनी, कल्याण और कन्नौज आदि के नाम लिए जा सकते हैं। उस काल में शिक्षा की दृष्टि से कुछ व्यवस्था या सगठन "अग्रहारो" मे मिलता है। कुछ विशिष्ट अवसरो पर राजा विद्वान् ब्राह्मणो को आमन्त्रित कर उन्हें ग्रामो में बसा देते थे तथा उनके निर्वाह के लिए उन ग्रामो के राज्यकर का दान कर देते थे। ऐसे ग्रामों को अग्रहार कहते थे। इनमे रहने वाले ब्राह्मण अपने निजी धार्मिक कृत्यो के साथ-साथ शिक्षण का कार्य भी करते थे। प्राचीन काल के अनेक दानपत्रो में उस समय के कई अग्रहारों के नाम मिलते है। ये देश के प्रत्येक भाग में फैले हुए थे। इनमें काडिपुर और सर्वज्ञपुर के अग्रहार अधिक प्रसिद्ध थे। बौद्ध विहारो के अनुकरण पर आगे चल कर हिन्दू मन्दिरो में भी सामूहिक शिक्षा की व्यवस्था प्रारम्भ हुई।

शिक्षा के लिए कोई शुल्क निर्धारित नहीं था। परम्परा से भी ब्राह्मण शिक्षा प्रदान करने का कोई शुल्क नहीं लेता था। शास्त्रकारो ने शुल्क प्राप्त करके शिक्षा देने वाले आचार्य की प्रशसा नहीं की है। शिष्यो द्वारा भिक्षाटन में लाया गया अन्न तथा दान-दक्षिणा में प्राप्त धन ही आचार्य की आय थी। ब्राह्मण अत्यन्त सन्तोषी प्रकृति का होता था। अत वह प्राय धन की माँग नहीं किया करता था तथा नि सकोच भाव से विद्यार्थियो को नि शुल्क ज्ञानार्जन कराता था। जब जनक ने याज्ञवल्क्य को एक सहस्र गाये एक हाथी एवं एक बैल (या हाथी के समान बैल) देना चाहा, तो याज्ञवल्क्य ने कहा-

"मेरे पिता का मत था कि बिना पूर्ण पढाये शिष्य से कोई पुरस्कार नहीं लेना चाहिए" (वृहदारण्यकोपनिषद्)।

गौतम के अनुसार "विद्या के अन्त में शिष्य को गुरु से धन लेने या जो कुछ वह दे सके, लेने के लिए प्रार्थना करनी चाहिए, जब गुरु आज्ञापित कर दे या बिना कुछ लिए

जाने को कह दे, तब शिष्य को स्नान करना चाहिए अर्थात् घर लौटना चाहिए।" अपनी योग्यता के अनुसार शिष्य को विद्या के अन्त में गुरु दक्षिणा देनी चाहिए। यदि गुरु तगी मे हो तो उग्र या शूद्र से भी भिक्षा माँग कर उसकी सहायता करनी चाहिए। ऐसा करके शिष्य को घमण्ड नहीं करना चाहिए और न इसका स्मरण रखना चाहिए" (आपस्तम्ब धर्मसूत्र)। वास्तव में शिष्य जो कुछ ज्ञान ग्रहण करता था, उसका प्रतिकार नहीं हो सकता था। मनु का मत है कि शिष्य "स्नान" के पूर्व कुछ नहीं भी दे सकता है, घर लौटते समय वह गुरु को कुछ धन दे सकता है। भूमि, सोना, गाय, अश्व, जूते, छाता, आसन अन्न, साग, सब्जी वस्त्र का अलग-अलग या एक साथ ही दान किया जा सकता है।" स्मृतियो के अनुसार यदि गुरु एक अक्षर भी पढा दे, तो इस ऋण से उऋण होना असम्भव है। "शिष्य के कार्यो एव व्यवहार से प्राप्त प्रसन्नता ही वास्तविक गुरु दक्षिणा है" (महाभारत)।

धन के लिए पढाने एव वेतनभोगी गुरु से पढने को उपपातको में गिना जाता था। भृतिकाध्यापक तथा उनके शिष्य श्राद्ध में बुलाए जाने योग्य नहीं माने जाते थे। किन्तु शिष्य से कुछ ले लेने पर ही कोई गुरु भृतिकाध्यापक नहीं कहा जाता था प्रत्युत् निर्दिष्ट धन लेने पर ही पढाने की व्यवस्था की गई थी। "भीष्म ने पाण्डवो तथा कौरवो की शिक्षा के लिए द्रोण को धन एव सुसज्जित आवासगृह दिया किन्तु कोई निर्दिष्ट धन नहीं" (महाभारत)। विद्वान् लोगो एवं विद्यार्थियो की जीविका का प्रबन्ध करना राजा का कर्त्तव्य था। राज्य मे कोई ब्राह्मण भूख से न मरे, यह देखना "राजधर्म" था। यदि गुरु विद्या के अन्त मे शिष्य से अधिक धन माँगे तो शिष्य सिद्धान्तत राजा के पास पहुँच सकता था।

शिक्षा के विषय

प्राचीन काल में छात्रो को अनेक विषयो की शिक्षा दी जाती थी। विद्या के अध्ययन में पहले 'त्रयी' अर्थात् तीन वेदो को समाविष्ट किया गया था। बाद मे अथर्ववेद को जोडकर चार वेद अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद को पूर्ण किया गया। वेद से ही सभी ज्ञान का निस्सरण माना जाता था। वेदाध्ययन का तात्पर्य मन्त्रो तथा विशिष्ट शाखा के ब्राह्मण भाग का अध्ययन था। वेदों को शाश्वत तथा अपौरुषेय माना जाता था। शतपथ ब्राह्मण मे स्वाध्याय के अन्तर्गत ऋचाओ, यजुषो सामो, अथर्वांगिरसो, इतिहास, पुराण, गाथाओ को गिना गया है। गोपथ ब्राह्मण के अनुसार इस प्रकार से सभी वेद कल्प, रहस्य, ब्राह्मणों, उपनिषदो, इतिहास, अन्वाख्यान, पुराण, अनुशासन वाकावाक्य आदि के साथ उत्पन्न किए गए। उपनिषदो में प्राय आता है कि ब्रह्मज्ञान की खोज में आने से पूर्व लोग बहुत कुछ पढकर आते थे। छान्दोग्य उपनिषद् में नारद सनत्कुमार से कहते है कि उन्होंने-

(1) चारो वेद, (2) पाचवे वेद के रूप मे इतिहास पुराण (3) वेदो के वेद (व्याकरण), (4) पित्र्य (श्राद्ध पर प्रबन्ध), (5) राशि (अक गणित), (6) दैव (लक्षण विद्या), (7) निधि (गुप्त खनिज खोदने की विद्या), (8) वाकोवाक्य (कथोपकथन या हेतु विद्या), (9) एकायन (राजनीति), (10) देव विद्या (निरुक्त), (11) ब्रह्मविद्या (छन्द एव ध्वनि विज्ञान) (12) भूतविद्या (भूत प्रेत को दूर करने की विद्या),

(13) क्षत्रविद्या (धनुर्वेद), (14) नक्षत्रविद्या (15) सर्पविद्या, (16) देवजन विद्या (नाच, गान, अभ्यजन आदि) सीख ली थी। गौतम ने प्रजा को संभालने के लिए वेद, धर्म अंगों, उपवेदों एव पुराणो पर आश्रित रहने के लिए राजा को आदेशित किया है। धर्मशास्त्रों में प्राय 14 विद्याए मानी गयी हैं-

> "पुराणन्यायमीमासाधर्मशास्त्रागमिश्रिता ।
> वेदा स्थानानि विद्याना धर्मस्य च चतुर्दश ॥"

अर्थात् पुराण न्याय (तर्क विद्या), मीमासा (वेदवाक्य विचार), धर्मशास्त्र, छ वेदाग (शिक्षा कल्प व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष) तथा चार वेद (ऋग्, यजु, साम तथा अथर्व) ये चौदह विद्या और धर्म के स्थान या कारण हैं। इनमें (1) आयुर्वेद, (2) धनुर्वेद (3) गान्धर्ववेद, और (4) अर्थशास्त्र नामक चार उपवेदों को और जोड़कर वायु गरुड एव विष्णु पुराण में 18 विद्याओं की चर्चा की गई है। वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में 64 विद्याओं का उल्लेख किया है। आत्मा से सम्बन्धित विद्या "आत्मविद्या" कही जाती थी। बौद्धयुग मे वेद, वैदिक साहित्य, ब्राह्मण, सहिता, उपनिषद्, अर्थशास्त्र, शिल्प वार्ता दर्शन धर्म आदि प्रमुख विषय थे। कौटिल्य ने इनका उल्लेख किया है -

(1) आन्वीक्षिकी (तर्क और दर्शन)
(2) त्रयी (वेद)
(3) वार्ता (कृषि, पशुपालन चारा भूमि, वाणिज्य व्यापार) तथा
(4) दण्डनीति (राजशास्त्र और शासन)।

अल्बेरुनी ने चारों वेद, 18 पुराण, 20 स्मृतियाँ, महाभारत, गौड कृत ग्रन्थ, कपिल कृत न्यायभाषा, जैमिनी कृत मीमासा, बृहस्पति कृत लोकायत अगस्त्य कृत अगस्त्यमत शर्ववर्मा व उग्रभूति कृत शिष्यहिता वृत्ति पुलिश गणित विषयक सिद्धान्त, वराहमिहिर आर्यभट्ट आदि के विभिन्न-विषयगत मतों और ग्रन्थों का उल्लेख किया है।

शिक्षा व्यवस्था एव अवधि–

प्राचीन भारत में मौखिक शिक्षा का ही प्रचलन था। लिखने के लिए भोजपत्रों का प्रयोग किया जाता था, किन्तु लिखने की सस्ती सामग्री के अभाव में पाठ्यपुस्तकें अधिक सख्या में प्राप्त नहीं थीं। उस समय वेद भी लिपिबद्ध नहीं किए गए थे। आर्यों को आशका थी कि प्रतिलिपि बनाने वालो की असावधानी से उनमें दोषों का प्रवेश होगा और पुस्तक रूप में होने से अपवित्र लोग भी उनका स्पर्श करेंगे। इसी कारण वेदों की शिक्षा मौखिक दी जाती थी। इसी विधि का प्रयोग दूसरी विद्याओं की शिक्षा में भी हुआ। पहले पाठ्य सामग्री के कुछ अश को गुरु पढकर शिष्यों को समझा देते थे। शिष्य बाद में उन्हें याद करता था। विद्यार्थी को अपना कुछ समय पिछले पाठ को दुहराने में लगाना पडता था। पाठ्य सामग्री को याद करने के कार्य को सुगम बनाने के लिए ग्रन्थों की रचना पद्य के रूप में की जाती थी। "शिक्षा का आदर्श भली-भाँति पाठ्य सामग्री को समझ कर याद करना था।'

इस प्रकार की शिक्षा देने की व्यवस्था में सबसे बड़ा गुण यह था कि गुरु प्रत्येक विद्यार्थी पर व्यक्तिगत ध्यान दे सकता था। अध्यापक प्रत्येक छात्र की निजी

आवश्यकताओं और कठिनाइयो को समझता था एवं उनके मानसिक विकास के अनुसार ही उन्हें शिक्षा देता था। उस काल में शिक्षा प्रधान रूप से वार्तालाप और प्रश्नोत्तर प्रणाली से भी दी जाती थी। जो बातें शिष्य के समक्ष मे नहीं आतीं, उन पर वह गुरु से प्रश्न करता तथा वादविवाद करता था। इस प्रणाली का यह लाभ था कि विद्यार्थी का मस्तिष्क सतत जागरूक रहता था। वह पूरे मनोयोग से पाठ को समझने का प्रयत्न करता था। गुरु भी शिष्य के प्रश्न से यह समझ जाता था कि उसने कितनी बातें ग्रहण की हैं। वार्तालाप की पद्धति का ही आश्रय लेकर उपनिषत्कारो और गौतम बुद्ध ने दर्शन के जटिल तत्त्वो की शिक्षा दी है।

प्राचीन काल में गुरु प्रतिदिन परीक्षा लेता था। हर एक शिष्य से अलग-अलग प्रश्न पूछ कर और यह समझ कर कि उसने पिछला पाठ ठीक से याद कर लिया है, गुरु दूसरा पाठ पढाता था। विद्यार्थी को शिक्षा की समाप्ति के बाद भी अपने ज्ञान को बनाए रखना पडता था। उसे किसी भी अवसर पर शास्त्रार्थ या वाद-विवाद मे अपनी योग्यता दिखाने के लिए उपस्थित होना पडता था। इसके लिए उसे सदैव ही अपनी सारी विद्या जिह्वा पर या कण्ठस्थ रखनी पडती थी। कभी-कभी शिक्षा की समाप्ति पर विद्यार्थी को स्थानीय विद्वत्परिषद् में उपस्थित होकर कुछ प्रश्नो के उत्तर देने पडते थे। यह बात समावर्तन सस्कार के उपरान्त होती थी। इससे स्पष्ट है कि इस बात का निर्णय कि विद्यार्थी ने अपनी शिक्षा सफलतापूर्वक समाप्त कर ली उसके शिक्षक पर ही निर्भर था। पूर्व मध्य युग में उपाधि की परिपाटी का प्रारम्भ दिखलाई पडता है। पालवश के राजा जो विक्रमशिला विश्वविद्यालय के सरक्षक थे, विद्यार्थियो को समावर्तन के समय उपाधियाँ देते थे।

अध्ययन या विद्या प्राप्ति केवल ब्रह्मचर्याश्रम तक ही सीमित नहीं थी। यह अध्ययन गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा सन्यास आश्रम में भी अक्षुण्ण रखा जाता था। मनु ने व्यवस्था की है कि गृहस्थाश्रम में एक गृहस्थ अपने आश्रम के कर्त्तव्यों को पूरा करते हुए पूर्वाश्रम में पढे हुए पाठ को नित्य पढे-

"नित्य शास्त्राण्यवेक्षेत निगमाश्चैव वैदिकान।" -मनुस्मृति।

शास्त्रो के विज्ञान तथा उनके रहस्यो का जितना मनन किया जाता था उतना ही वह स्पष्ट होता था तथा उसमें रुचि भी उत्पन्न होने लगती थी। इसके अतिरिक्त शास्त्रों को सुरक्षित रखने के लिए, लिपिबद्ध न किये जाने के कारण यह आवश्यक था कि नित्य पाठ के द्वारा उसे मौखिक रूप से सुरक्षित रखा जाए। यह एक और तथ्य पर भी प्रकाश डालता है कि एक विद्वान् की विद्वत्ता उसके मस्तिष्क की उर्वरता से ही परिलक्षित होता है। यह तभी प्रतिफलित होगी, जब ज्ञान का सचित कोष मस्तिष्क मे ही हो। पुस्तक में लिखी हुई विद्या मे पारगत हो जाने के उपरान्त यदि वह बुद्धिस्थ न हो सकी, तो वह वस्तुत कोई महत्त्व नहीं रखती है-

"पुस्तकस्था तु या विद्या परहस्तगत धनम्।
कार्यकाले समुत्पन्ने न सा विद्या न तद् धनम्॥"

अर्थात् जो विद्या पुस्तक मे विद्यमान है तथा जो धन दूसरे के हाथ में है समुचित समय के आने पर न वह विद्या और न वह धन ही कोई प्रयोजन सिद्ध करता है।

स्नातक होकर द्वितीय आश्रम में प्रविष्ट होने वाला युवक अपने साथ पूर्व आश्रम में पढ़े हुए वेद आदि ग्रन्थों को पुस्तकालय के रूप में नहीं रखता था अपितु वह तो स्वयं में ज्ञानराशि को धारण करता था।

छात्र को शिक्षण काल में छुट्टी भी मिलती थी। मनु ने अस्थिर मौसम अर्थात् वर्षाकाल या आकस्मिक प्रकृतिक प्रकोप होने पर तथा अन्य अनुपयुक्त समय में अनध्याय या अवकाश माना है। प्रायः दैवी प्रकोप होने पर या शृगाल उलूक गर्दभ श्वान जैसे जीवों के बोलने पर अध्ययन अध्यापन स्थगित कर दिया था। ऐसे क्षण में वेदों के अध्ययन से अपवित्रता होने और भगवान् के रुष्ट हो जाने का विश्वास था। कुछ शास्त्रकारों ने मनसा अध्ययन निषिद्ध नहीं माना है। प्रायः मेघगर्जन पर्व ग्रहण अशौच के दिनों में अध्ययन न करने का निर्देश था। याज्ञवल्क्य ने अमावस्या और पूर्णिमा के दिन अनध्याय की सलाह दी है। मनु ने शिक्षा कल्प आदि वेदांगों में नित्य किये जाने वाले ब्रह्म यज्ञ स्वाध्याय और हवन कर्म में उपर्युक्त समयों को अवकाश का नहीं माना है। धर्मसिन्धु से ज्ञात होता है कि नियमित अवकाश पूर्णिमा या अमावस्या के दूसरे दिन अर्थात् प्रतिपदा और अष्टमी को हुआ करता था अर्थात् आजकल रविवार को होने वाले अवकाश की भाँति उस समय भी साप्ताहिक अवकाश होता था।

गुरु के आश्रम में विभिन्न विषयों की शिक्षा ग्रहण करने के लिए छात्र के निवास करने की अवधि 12 से 16 वर्ष तक की होती थी। किसी ग्रन्थ विशेष के अध्ययन के लिए जाने वाला छात्र एक या दो वर्ष तक रहता था। कभी कभी छात्र का गुरुकुल की अवधि के अनुसार नाम भी पड जाता था जैसे सावत्सरिक ब्रह्मचारी (जो एक वर्ष तक गुरुकुल में रहे) मासिक ब्रह्मचारी (जो केवल एक मास के लिए ब्रह्मचारी बने) अथवा अर्द्धमासिक ब्रह्मचारी आदि।

स्त्री शिक्षा– वर्तमान काल की अपेक्षा प्राचीन काल में स्त्रियों की शिक्षा सम्बन्धी व्यवस्था अधिक उच्चतर थी। वे ज्ञान और शिक्षा में पुरुषों से कम न थीं। ऋग्वैदिक कालीन अनेक विदुषी स्त्रियों के सन्दर्भ मिलते हैं जिनमें से अनेक ने ऋचाओं का प्रणयन भी किया था। कुछ उदाहरण ये हैं

(1) अत्रि कुल की विश्ववारा अपाला घोषा कक्षावती आदि ने ऋग्वेद का अंश रचा था।

(2) सुप्रसिद्ध दार्शनिक ऋषि याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी सत्य ज्ञान की खोज में रहा करती थी और उसने अपने पति से ऐसा ही ज्ञान माँगा जो उसे अमर कर सके। यह वास्तव में अत्यन्त विदुषी और ब्रह्मवादिनी महिला थी।

(3) विदेहराज जनक की राजसभा में कई एक उत्तर प्रत्युत्तरकर्ता थे जिनमें गार्गी वाचक्नवी का नाम बडी श्रद्धा से लिया जाता है। गार्गी ने याज्ञवल्क्य के दांत खट्टे कर दिए थे। उसके प्रश्नों की बौछार से याज्ञवल्क्य की बुद्धि चकरा उठी थी।

(4) लोपामुद्रा सिकता सुलभा आदि प्रतिभासम्पन्न स्त्रियाँ अपने वैदुष्य के कारण पुरुषों के समकक्ष थीं।

(5) महाकाव्यों में भी स्त्री शिक्षा पर प्रकाश पडता है। रामायण में कौशल्या और तारा मन्त्रविद् थीं। सीता सन्ध्या पूजन व आत्रेयी वेदान्त का अध्ययन करती थीं।

(6) महाभारत मे द्रोपदी पडिता थी व उत्तरा ने अर्जुन से सगीत तथा नृत्य की शिक्षा प्राप्त की थी।

(7) बौद्ध और जैन परम्पराओ मे भी सुशिक्षित स्त्रियो के उल्लेख हैं। सघमित्रा ने लका जाकर बौद्ध शिक्षा का प्रचार किया था। सुभा, अनुपमा आदि दर्शन में पारगत थीं। जयन्ती सहस्रानीक आदि विदुषी महिलाए थीं।

हारीत ने स्त्रियो के लिए उपनयन एव वेदाध्ययन की व्यवस्था दी थी। आश्वलायन गृह्यसूत्र में गार्गी वाचक्नवी बडवा प्रातिथेयी एव सुलभा मैत्रेयी नामक तीन नारी शिक्षिकाओ के नाम भी आते है। नारी शिक्षिकाओ की परम्परा अवश्य रही होगी क्योंकि पाणिनि की काशिका वृत्ति ने "आचार्य" एव "उपाध्याया" नामक शब्दो के साधनार्थ व्युत्पत्ति की है। पतजलि ने बताया है कि क्यो एव कैसे ब्राह्मण नारी "आपिशला" (जो आपिशलि का व्याकरण पढती है) एव क्यो "काशकृत्स्ना" (जो काशकृत्स्न का मीमासा ग्रन्थ पढती है) कही जाती है। उन्होंने "औदमेघा" उपाधि की व्युत्पत्ति की है, जिसका तात्पर्य है "औदमेघा नामक स्त्री शिक्षिका के शिष्य"। सूत्र युग में पुरुषो की तरह स्त्रियाँ भी शिक्षा प्राप्त करने के निमित्त ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करती थीं। ऋषि तर्पण के समय ऋषि नारियो के भी नाम लेने का निर्देश किया गया था। उस युग में दो प्रकार की स्त्रियाँ थीं -

(1) सद्योवधू अर्थात् विवाह होने के पूर्व तक ब्रह्मचर्य व्रत को करने वाली और

(2) ब्रह्मवादिनी अर्थात् जीवनपर्यन्त ज्ञानार्जन में लगी हुईं।

वात्स्यायन के अनुसार लडकियो को अपने पिता के घर मे कामसूत्र एव इसके अन्य सहायक अग तथा 64 कलाए जिनमें नाच गान चित्रकारी आदि हैं सीखने चाहिए तथा विवाहोपरान्त पति की आज्ञा से इन्हे करना चाहिए। चौसठ कलाओ मे प्रहेलिकाए पुस्तकवाचन काव्य समस्या पूरण पिंगल एव अलकार का ज्ञान भी सम्मिलित था। महाकाव्यो एव नाटको में नारियाँ प्रेमपत्र लिखती दिखाई पडती है। किन्तु कालान्तर मे नारियो की दशा अधोगति को प्राप्त होती गई। मनु ने वेदाध्ययन के मामले मे उच्च वर्ण की नारियो को भी शूद्र की श्रेणी मे रखा है। विवाह को छोडकर स्त्री के अन्य सभी संस्कारो में वेदमन्त्रो का उच्चारण नहीं होता था। जैमिनि ने वैदिक यज्ञो मे पति-पत्नी को साथ तो रखा है किन्तु इनमे मन्त्रोच्चारण पति ही करता है। उसने दोनो को बराबर नहीं माना है। शबर ने अपनी व्याख्या मे स्पष्ट किया है कि पति विद्वान् होता है और स्त्री विद्याहीन। मेधातिथि ने मनु की व्याख्या में एक मनोरजक प्रश्न उठाया है कि ब्रह्मचारी लोग भिक्षा माँगते समय स्त्रियो से '**भवति भिक्षा देहि**' वाला सस्कृत सूत्र क्यो बोलते हैं जबकि वे यह भाषा नहीं जानतीं ? शतपथ ब्राह्मण मे भी कहा गया है कि 'मधुविद्या पढते समय स्त्री शूद्र कुत्ते एव कौआ पक्षी की ओर मत देखो, क्योकि ये सभी असत्य हैं।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति के उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि यह मानव के सर्वांगीण विकास के लिए पर्याप्त थी। हम यह भी

नि सकोच रूप में कह सकते हैं कि आज के शिक्षा जगत् की लगभग सभी समस्याएं उचित समाधान प्राप्त कर लेंगी यदि पुन ब्रह्मचर्याश्रम प्रतिष्ठित किया जा सके।

प्राचीन विश्वविद्यालय या प्रमुख शिक्षा केन्द्र

प्राचीन भारत में शिक्षा प्रदान करने के प्रमुख केन्द्र गुरुकुल सर्वत्र विद्यमान थे। उस समय शासन व्यक्ति या समाज की ओर से स्थापित एव सचालित आधुनिक विद्यालयों जैसी सस्थाओं का प्रचलन नहीं था। बौद्ध धर्म के विस्तार के उपरान्त विद्यालयों जैसी सस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ। इस धर्म में भिक्षु तथा भिक्षुणियों के लिए विशिष्ट शिक्षा पर बल दिया जाने लगा। इस हेतु बौद्ध विहार ही सर्वाधिक उपयुक्त थे। अत वे शिक्षा के केन्द्र बन गये। कालान्तर में अनेक विहारों में विद्या के सभी विषयों का पठन-पाठन प्रारम्भ हो गया और ये सभी के लिए खोल दिये गये। इनके अनुशासन और नियम हिन्दू शिक्षण व्यवस्था के आधार पर ही थे। इन विहारों और मठों का उत्कर्ष राजगृह वैशाली, श्रावस्ती कपिलवस्तु आदि में हुआ। इस युग के कुछ प्रसिद्ध विहार इस प्रकार हैं-

श्रावस्ती में जेतवन, कपिलवस्तु में निग्रोधाराम, वैशाली में कुटागारशाला तथा आम्रवन राजगृह में वेणुवन, यष्टिवन और सीतवन।

इन विहारों के अतिरिक्त अनेक मठारामों का भी विकास हुआ, जहाँ आध्यात्मिक चिन्तन हुआ करता था। इस काल के शिक्षा केन्द्रों का प्रबन्ध किसी विशिष्ट विद्वान् के निर्देशन में होता था, जो कि समिति के सदस्यों द्वारा चुना जाता था। वह प्रबन्धक अपने ज्ञान और विद्वता में अग्रणी होता था। वहाँ के प्रधान आचार्य के प्रबन्ध में सहायता प्रदान करने के लिए कई समितियाँ होती थीं। शिक्षा समिति के प्रबन्ध के अन्तर्गत विभिन्न पाठ्यक्रमों का निर्धारण और व्यवस्था का नियन्त्रण होता था। प्रबन्ध समिति के अन्तर्गत शिक्षा सस्थाओं की प्रशासनिक व्यवस्था, कर्मचारियों की नियुक्ति तथा भवनों का निर्माण आदि सभी कार्य होते थे। इस प्रकार की शिक्षा सस्थाओं की आर्थिक स्थिति धनी मानी राजाओं और श्रेष्ठियों के दान पर निर्भर करती थी।

(1) नालन्दा विश्वविद्यालय—नालन्दा का विश्वविद्यालय पटना से चालीस मील दक्षिण में बड़गाँव नामक स्थान में स्थित था। इसके नामकरण के विषय में विभिन्न धारणाएं हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार यहाँ पर कमल-दलों की अधिकता थी, इसी से नालन्दा कहा गया। कुछ इसके नाम की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि "न अलं ददाति इति नालन्दा" अर्थात् जहाँ किसी भी समय अध्ययन का विश्राम न मिले। प्राचीन भारत में नालन्दा विश्वविद्यालय का महत्त्वपूर्ण स्थान था। भगवान् बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित यह स्थान अतिशीघ्र एक ख्यातिप्राप्त शिक्षाकेन्द्र बन गया। यहाँ बौद्ध धर्म और दर्शन की शिक्षा के अतिरिक्त अन्यान्य विषयों की भी शिक्षा दी जाती थी। इसे शिक्षाकेन्द्र का स्वरूप देने का प्रथम दानी गुप्त राजा कुमारगुप्त प्रथम ने किया, जिसका शासन काल 414 से 455 ईस्वी तक का माना जाता है। इसके बाद विभिन्न गुप्त राजाओं ने इसमें योगदान दिया। बौद्ध धर्म का प्राचीन केन्द्र होने पर भी नालन्दा के विकास में गुप्त शासकों ने जो सराहनीय योग दिया था, वह उनकी धार्मिक सहिष्णुता और विचारों की व्यापकता का उज्ज्वल पक्ष है। पाल्काल में इसकी ख्याति और फैल गई तथा यह एक महान् शिक्षाकेन्द्र बन गया। इसके बाद मुगल आक्रमणों के कारण यह केन्द्र विनिष्ट होने लगा। बख्तियार

खिलजी ने तो इस विश्वविद्यालय की गरिमा को ही भूमिसात् कर दिया । बारहवीं शताब्दी की समाप्ति के वर्षों मे यह नष्ट हो गया, उस समय यह तान्त्रिक स्वरूप के प्रभाव मे रंग गया था ।

पुरातत्त्व विभाग के उत्खनन तथा इससे सम्बन्धित बौद्ध ग्रन्थो में प्राप्त विवरणो को मिलाकर नालन्दा के भवन व शिक्षा की विभिन्न व्यवस्थाओ के सम्बन्ध में कुछ सीमा तक व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । चीनी यात्रियो ने इस विषय में विशेष रूप से विवरण दिया है । उत्खनन के आधार पर ज्ञात होता है कि इस विश्वविद्यालय का क्षेत्रफल एक मील लम्बा और आधा मील चौड़ा था । इसके चारों ओर एक चाहरदीवारी थी और मध्य मे विभिन्न राजाओ द्वारा निर्माण कराया हुआ विहार था । इसके भवन चार भागों मे विभक्त थे

(1) विद्यार्थियो के आवास
(2) विद्याध्ययन के भवन
(3) पुस्तकालय के कक्ष और
(4) धार्मिक भवन ।

यहाँ अनेकानेक विहारो का निर्माण किया गया था । कुछ विहार तो काफी बडे और भव्य थे जिनके गगनचुम्बी शिखर अत्यन्त आकर्षक थे । यहाँ अनेक जलाशय थे जिनमें कमल तैरते रहते थे । अनेक विशालकाल भवनो मे छोटे-बडे बहुत-से कक्ष थे । विश्वविद्यालय भवन मे व्याख्यान के निमित्त 7 बडे व 300 छोटे कक्ष थे जहाँ छात्र अपने गुरुजनो के समीप शिक्षा प्राप्त करते थे । बडे कक्षो मे समय-समय पर सामूहिक रूप से शिक्षा एव अध्ययन सम्बन्धी विषयो पर विचार-विमर्श तथा व्याख्यानो का आयोजन होता था, क्योंकि विश्व के विभिन्न विषयो के उद्‌भट विद्वान् यहाँ अपनी समस्याओ के समाधान हेतु आते थे । यहाँ पर विद्यार्थी छात्रावासो मे रहते थे तथा प्रत्येक कोने पर कूपो का निर्माण किया गया था । विद्यार्थियो के आवास के लिए कम से कम दो मजिल ऊँचे कई विहार थे । इनमे से कुछ कमरो में एक और कुछ मे दो विद्यार्थियो के रहने का प्रबन्ध था ।

विश्वविद्यालय के स्वामित्व मे 200 गाँव दान दिए हुए थे, जिनसे विद्यार्थियो के लिए निर्मूल्य भोजन, आवास और वस्त्र का प्रबन्ध था । इसी आय से भिक्षु कार्यकर्ताओं का भी भरण-पोषण होता था । यहाँ प्रवेश पाने के इच्छुक छात्रो के लिए कडे नियम थे । इच्छुक छात्रो को पहले द्वारपाल से साक्षात्कार करना पडता था । उसके प्रश्नो के उत्तर सफलतापूर्वक दे देने के बाद ही प्रवेश मिलता था । इस प्रक्रिया में आठ-दस छात्र असफल और एक या दो सफल होते थे । *यहाँ पर सभी प्रकार के प्रबन्ध कुलपति के अधीन थे* जिसकी सहायता के लिए दो परिषदे थीं एक शिक्षा व दूसरी शासन से सम्बन्धित ।

जब चीनी यात्री इत्सिग भारत आया, उस समय नालन्दा में छात्रो की सख्या तीन हजार थी किन्तु श्वानच्वाग के समय बढ़कर दस हजार हो गई । यहाँ लगभग डेढ हजार शिक्षक थे, एक हजार तो सूत्र-निकायो मे दक्ष तथा शेष पाँच सौ अन्य विषयो में । इस विश्वविद्यालय का प्रधान कुलपति शीलभद्र था जो अनेकानेक विषयो मे पारगत था । श्वानच्वाग भी यहाँ के शिक्षको मे से एक था जिसने बहुत-से विषयो पर अधिकार प्राप्त

किया था। यहाँ वेद, व्याकरण धर्मशास्त्र, वेदाग आदि चौदह विषयो की शिक्षा दी जाती थी। यहाँ के शिक्षाक्रम में बौद्ध दर्शन एव धर्म अधिक महत्त्वपूर्ण थे। यहाँ पर निदान व्यापार आदि व्यावसायिक शिक्षा भी दी जाती थी। सुदूर प्रदेशो से विद्यार्थी यहाँ आकर शिक्षा प्राप्त करते थे। चीन, तिब्बत कोरिया, तुखार आदि अनेक देशों से विदेशी शिक्षार्थी आते थे।

नालन्दा विश्वविद्यालय के विद्यार्थियो व शिक्षको के अध्ययन की सुविधा के लिए "धर्मगज" नामक एक वृहत् पुस्तकालय था, जो तीन भव्य भवनो में स्थित था। इसकी यहाँ विशेष सुविधा थी, क्योंकि गुप्त अभिलेखों तथा दानपत्रो से ज्ञात होता है कि राजा लोग पुस्तको की प्रतिलिपियाँ कराने के लिए, नवीन पुस्तको की रचना करने और अनुवाद के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करते थे। इत्सिग ने स्वय चार सौ सस्कृत पुस्तकों की प्रतिलिपियाँ तैयार की थीं, जिनमें लगभग पाँच लाख श्लोक थे। "रत्नसागर, रत्नोदधि और रत्नरजक नामक तीन भवनो से मिलकर भव्य पुस्तकालय का निर्माण हुआ था जिसका प्रागण धर्मगज था। इनमें जिज्ञासु विद्यार्थियों की प्राय भीड रहा करती थी।"

शिक्षा के केन्द्र के रूप में नालन्दा की बडी ख्याति थी। यहाँ के विद्यार्थियो और शिक्षको के ज्ञान का स्तर ऊँचा था। यहाँ का एक अध्यापक लगभग दस छात्रो को पढाता था। यहाँ के विशालकाय अध्यापन कक्षा मे प्रतिदिन एक सौ व्याख्यानो का आयोजन किया जाता था। यहाँ पर बौद्ध धर्म की महायान शाखा का विशेष अध्ययन किया जाता था। पालि भाषा की शिक्षा अनिवार्य रूप से प्रदान की जाती थी। नागार्जुन वसुबन्धु, असग, धर्मकीर्ति आदि महायान विचारकों ने इसी शिक्षाकेन्द्र से अपनी उन्नति की थी। धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, जिनमित्र, आर्यदेव, दिङ्नाग ज्ञानचन्द्र आदि ऐसे ही प्रतिभाशाली विद्वान् थे, जिनके आकर्षण से दूरस्थ विद्यार्थी भी ज्ञानार्जन के निमित्त आते थे। नालन्दा की ख्याति केवल देश में ही सीमित नहीं थी इसकी प्रसिद्धि अन्तर्राष्ट्रीय थी।

(2) तक्षशिला–तक्षशिला तत्कालीन भारत में हिन्दू शिक्षा का प्रबल केन्द्र था जो ज्ञान और विद्या के क्षेत्र में बहुत अधिक प्रसिद्ध था। रामायण के अनुसार इसकी स्थापना भरत ने की थी और इसका प्रशासन तक्ष को सौंपा गया था तथा अपने पुत्र तक्ष के नाम पर ही इसकी सज्ञा तक्षशिला कर दी थी। राजनीतिक दृष्टि से इस स्थान का बहुत महत्त्व रहा। भारत की पश्चिमी सीमा पर (अब पाकिस्तान में) स्थित रावलपिण्डी से 20 माल की दूरी पर बसा हुआ यह स्थान कुषाण नरेश कनिष्क का शासन केन्द्र था और सदा विदेशियो से आक्रान्त होता रहा था। महाभारत से ज्ञात होता है कि जनमेजय ने अपना नागयज्ञ यहीं किया था। तक्षशिला नगर के रूप में उत्तर वैदिक काल में ही विकसित हो चुका था। अत यहाँ विद्वानो और ज्ञान-चर्चाओ का होना स्वाभाविक था। जातको से विदित होता है कि विभिन्न स्थानो से छात्र यहाँ आकर आचार्यों के सान्निध्य में शिल्प का ज्ञान भी प्राप्त करते थे। तक्षशिला गान्धार देश की राजधानी थी। अफगानिस्तान का वर्तमान पूर्वी भाग गान्धार देश कहलाता था। उस काल में सम्भवत कश्मीर भी इसके अन्तर्गत आता था। तक्षशिला सिन्धु नदी के पूर्वी तट पर थी। गौतम बुद्ध के समय गान्धार के राजा पुक्कुसाति ने मगध-नरेश बिम्बिसार के यहाँ अपना दूत मण्डल भेजा था। छठी सदी ईस्वी पूर्व फारस

के शासक कुरुश ने सिन्धु प्रदेशो पर आक्रमण किया और बाद मे भी उसके कुछ उत्तराधिकारियो ने उनकी नकल की ।

मकदूनिया के आक्रमणकारी विजेता सिकन्दर के समय से तक्षशिला की चर्चा करते हुए स्ट्रैबो ने लिखा है कि वह एक बडा नगर था, अच्छी विधियो से शासित था, घनी आबादी वाला था और उपजाऊ भूमि से युक्त था । वहाँ का शासक टैसीलिदस अथवा टैक्सिलीज था । उसने सिकन्दर से उपहारो के साथ भेट कर मित्रता कर ली । उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र भी सिकन्दर का मित्र बना रहा, जिसका नाम आभी था । किन्तु थोडे ही दिनो पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य ने उत्तरी पश्चिमी सीमा क्षेत्रो से सिकन्दर के सिपहसालारो को मार कर निकाल दिया और तक्षशिला पर उसका अधिकार हो गया । वह उसके उत्तरापथ प्रान्त की राजधानी हो गई और मौर्य राजकुमार मन्त्रियो की सहायता से वहाँ शासन करने लगे । उसका पुत्र बिन्दुसार, पौत्र सुसीम और प्रपौत्र कुणाल बारी-बारी से वहाँ प्रान्तीय शासक नियुक्त किये गए ।

साधारणतया तक्षशिला को हम प्राचीन विश्वविद्यालयो के अन्तर्गत लेते हैं, किन्तु सचमुच मे यह विश्वविद्यालय नहीं था । विश्वविद्यालय का अर्थ है "उच्चतम शिक्षा की वह संस्था, जिसका अपना एक भवन हो एक अपनी व्यवस्था या प्रशासन हो ।" परन्तु तक्षशिला मे ऐसा नहीं था । वहाँ उच्च शिक्षा के लिए अध्यापक थे, जो काशी की तरह अलग-अलग घरो मे रहते थे और व्यक्तिगत रूप से शिक्षा देते थे । इसी प्रकार पूरा नगर गुरुओ से भरा था । अध्यापक अपने घरो मे रह कर शिक्षा देते थे और विद्यार्थी भी उन्हीं के साथ रहते थे । एक से अधिक विषयो मे शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्र एक विषय के अध्यापक के साथ रहते हुए भी दूसरे विषयो के अध्यापको के घर जाकर शिक्षा प्राप्त करते थे । केवल धनी विद्यार्थी ही अपना निजी मकान लेकर रहते थे । इसलिए तक्षशिला को विश्वविद्यालय के स्थान पर "नगर विद्यालय" कहना श्रेयस्कर है ।

यहाँ देश के कोने-कोने से विद्यार्थी आकर शिक्षा प्राप्त करते थे । इनमें वाराणसी राजगृह, मिथिला, उज्जयिनी आदि नगरो के भी थे जो यहाँ की ज्ञानगरिमा से परिचित होने के लिए आते थे । यहाँ के शिक्षा प्राप्त बडे-बडे विद्वान् और सम्राट् थे । कोसलशासक प्रसेनजित्, मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्त, महान् अर्थशास्त्री कौटिल्य, ख्यातिलब्ध वैद्य जीवक तथा वैयाकरण पाणिनि यहीं से शिक्षा ग्रहण करके अपने-अपने क्षेत्र मे विख्यात हुए थे । वेदत्रयी, अष्टादश शिल्प, व्याकरण, दर्शन आदि विभिन्न विषय यहाँ पढाये जाते थे । अष्टादश शिल्प के अन्तर्गत आयुर्वेद शल्य चिकित्सा, धनुर्विद्या तथा सम्बद्ध युद्धकला, ज्योतिष, भविष्य कथन, मुनीमी, व्यापार, कृषि रथ चालन इन्द्रजाल, नागवशीकरण, गुप्तनिधि अन्वेषण, सगीत, नृत्य चित्रकला आदि की गणना होती थी । कौशल से विद्यार्थी वहाँ जाकर अनेकानेक विषयो मे पारगत होते थे । द्विजो के सभी सदस्य एक साथ शिक्षा प्राप्त करते थे । ब्राह्मण के साथ क्षत्रिय भी वेदाध्ययन करते थे और क्षत्रिय के साथ ब्राह्मण भी धनुर्विद्या सीखता था । एक जातक के अनुसार "किसी ब्राह्मण राजपुरोहित ने अपने पुत्र को धनुर्विद्या की शिक्षा प्राप्त करने के लिए तक्षशिला भेजा था ।"

ईस्वी पूर्व चौथी सदी से ईसा की छठी सदी तक तक्षशिला ने अनेक परिवर्तन देखे थे । इसने यवन, शक, पह्लव, कुषाण और हूणो के अनेक आक्रमण सहे थे तथा

उनके झञावातों से अपने को यथाशक्ति रक्षित करने का प्रयास भी किया था। फलस्वरूप नवीन ज्ञान-विज्ञान का सम्पर्क होकर भारतीय जनमानस में उसका प्रवेश प्रारम्भ हो गया। विदेशी खरोष्ठी लिपि का प्रचार, यूनानी तक्षणकला, मुद्रानिर्माण कला तथा दर्शन का प्रसार भारत में होने लगा। इससे भारतीय विषयों में नया आयाम आया। जातकों से विदित होता है कि एक-एक आचार्य के निर्देशन में सैकड़ों विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे। पढ़ाई बहुत अधिक संघटित न होने पर भी महत्त्वपूर्ण थी। पाठ्यक्रम निर्धारित होता था। शिक्षा का प्रधान उद्देश्य उपाधि प्राप्त न हो कर स्वान्त सुख था। शिक्षा में भेदभाव न था। आचार्य के यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के साथ-साथ दर्जी और मछली मारने वाले भी शिक्षा ग्रहण करते थे। यह उस युग की जाति व्यवस्था के लचीलेपन की ओर इंगित करता है। धनी और निर्धन दोनों प्रकार के छात्र समान रूप से गुरु के शिष्य हो सकते थे। योग्य और मेधावी छात्रों को राजकीय सहायता पर शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा जाता था। इससे स्पष्ट है कि प्रतिभाशाली किन्तु निर्धन छात्रों को राज्य और समाज की ओर से प्रत्येक सम्भव सहयोग प्राप्त होता था।

(3) विक्रमशिला–यह विश्वविद्यालय बिहार प्रान्त के भागलपुर जिले में स्थित था। इसकी स्थापना का श्रेय पाल वंश के राजा धर्मपाल (775-800 ईस्वी) को है। शीघ्र ही इस विश्वविद्यालय ने अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त कर लिया। यहाँ अनेक बौद्धमन्दिरों और विहारों का निर्माण कराया गया था, जिनमें सर्वदा व्याख्यान तथा दर्शन व धर्म की चर्चाएं हुआ करती थीं। यहाँ के अनेक विद्वानों ने विभिन्न ग्रन्थों की रचना की, जिनका बौद्ध साहित्य और इतिहास में नाम है। वे प्रसिद्ध विद्वान् हैं-रक्षित, विरोचन, ज्ञानपाद, बुद्ध, जेतारि, रत्नाकर, शान्ति, ज्ञानश्रीमित्र, रत्नवज्र, अभयकर और दीपंकर। इस अन्तिम बौद्धभिक्षु ने तो लगभग दो सौ ग्रन्थों की रचना की थी। "वह इस शिक्षा केन्द्र के महान् प्रतिभाशाली व्यक्तियों में अकेला था।" यह उपाध्याय अतीश के नाम से विख्यात था। इस प्रकार विक्रमशिला के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों की एक लम्बी तालिका है। प्रारम्भ से ही इस शिक्षा केन्द्र का तिब्बत के साथ विशेष सम्बन्ध था। वहाँ पर अध्ययन के लिए आने वाले तिब्बत के विद्वानों के लिए एक पृथक् अतिथिशाला थी। विक्रमशिला से कई विद्वान् तिब्बत गए, जहाँ उन्होंने कई ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया।

यहाँ बौद्ध धर्म और दर्शन के अतिरिक्त न्याय, तत्त्व-ज्ञान, व्याकरण आदि की भी शिक्षा दी जाती थी। यहाँ का पुस्तकालय बड़ा समृद्ध था, जहाँ छात्रों की सुविधा के लिए पुस्तकें उपलब्ध की जाती थीं तथा उनकी जिज्ञासाओं का समाधान आचार्य द्वारा किया जाता था। शिक्षा समाप्ति के बाद विद्यार्थी को उपाधि दी जाती थी, जो उसके विषय की दक्षता का प्रमाण मानी जाती थी। यहाँ लगभग 3 हजार अध्यापक तथा लगभग 10 हजार विद्यार्थी थे। वस्तुतः उस युग में शिक्षा का और कोई इतना महत्त्वपूर्ण केन्द्र न था। इस विश्वविद्यालय का समस्त व्यय बड़े लोगों के दान और भेंट पर आधृत था। आवास तथा भोजन का प्रबन्ध विश्वविद्यालय की ओर से था। भिक्षु अध्यापक इसके प्रबन्ध में हाथ बँटाते थे। छः द्वार पण्डितों की समिति द्वारा संचालन होता था, जिसका प्रधान महास्थविर होता था। इसी कुलपति के अधीन चार द्वार पण्डितों की एक परिषद् प्रवेश प्राप्त करने के लिए आए विद्यार्थियों की परीक्षा लेती थी। इस विश्वविद्यालय में व्याकरण, न्याय दर्शन

और तन्त्र के अध्ययन की विशेष व्यवस्था था। यहाँ देश के ही नहीं, अपितु विदेशों के भी छात्र अध्ययन के लिए आते थे।

तेरहवीं सदी ईस्वी के प्रारम्भ में मुसलमानों के आक्रमण के कारण जिन अनेक भारतीय शिक्षा मन्दिरों का विनाश हुआ, उनमें विक्रमशिला भी था। सन् 1203 ईस्वी में बख्तियार खिलजी ने इसे नष्ट कर दिया। उसने इसे दुर्ग समझ कर तोड़ा था। तबकाते नासिरी में इसका विवरण दिया गया है कि यहाँ के निवासी अधिकांश ब्राह्मण (या बौद्ध भिक्षु) थे। सभी सिर मुँडाये थे। इन सबको तलवार के घाट उतार दिया गया। हिन्दू धर्म से सम्बन्धित सैकड़ो पुस्तकें थीं, जिन्हे समझने के लिए मुसलमानों ने अन्य पण्डितो को बुलाया, किन्तु कोई भी पण्डित अर्थ को ठीक से नहीं समझा सका, क्योंकि सभी मारे जा चुके थे।

(4) वलभी–वलभी गुजरात (काठियावाड़) के समुद्र के पास एक व्यस्त अन्तर्राष्ट्रीय बन्दरगाह के साथ-साथ शिक्षा का भी प्रधान केन्द्र था। इसका विकास सातवीं सदी तक हो चुका था। इत्सिंग के अनुसार वलभी का महत्त्व नालन्दा की ही तरह था। यहाँ भी अनेक विशाल बौद्ध विहार और मठ थे। श्वानच्वांग ने एक सौ विहार और छ हजार भिक्षुओ का विवरण दिया है। बौद्ध शिक्षा के इस प्रधान केन्द्र में दूर-दूर से शिक्षा ग्रहण करने आते थे। स्थिरमति और गुणमति नामक विद्वान् यहाँ की शोभा थे। यहाँ तर्क व्याकरण, व्यवहार, साहित्य आदि विभिन्न विषयों की शिक्षा दी जाती थी। इस विश्वविद्यालय की आर्थिक स्थिति सुदृढ थी। वलभी मे एक सौ करोड़पति रहते थे, जिनका आर्थिक सहयोग इसे प्राप्त था। अनेक राजाओ ने भी दान और भेटस्वरूप उसे समुचित धन प्रदान किया था। इसे ग्रन्थो के लिए भी दान प्राप्त होते रहते थे। बारहवीं सदी के बाद मुसलमानों के आक्रमण तीव्रता से होने लगे तब इस शिक्षा केन्द्र पर उसका प्रभाव पड़ा और इसका महत्त्व घटने लगा। यहाँ के स्नातक प्रशासकीय पदो पर नियुक्त किए जाते थे। बौद्ध शिक्षा का प्रधान केन्द्र होने के कारण दूर-दूर के स्थानों से विद्यार्थी यहाँ शिक्षा ग्रहण करने के लिए आते थे तथा गंगा की तलहटी से अनेक ब्राह्मण भी अपने पुत्रों को यहाँ शिक्षा हेतु भेजते थे।

(5) काशी–बनारस या काशी का महत्त्व विद्या और शिक्षा के क्षेत्र मे वैदिक काल से हो रहा है। काशी नगर उपनिषद् युग में एक महत्त्वपूर्ण शिक्षा केन्द्र के रूप मे विकसित हो चुका था। काशी का शासक अजातशत्रु अपनी प्रतिभा और विद्वत्ता के लिए पूरे देश में विख्यात था। उससे शिक्षा ग्रहण करने के लिए दूर देशों के विद्यार्थी काशी आते थे। बुद्ध के युग में भी काशी की महत्ता पूर्ववत् थी। वह वैदिक शिक्षा और दर्शन मे अग्रणी था। काशी मे ही गौतम बुद्ध ने धर्मचक्र-प्रवर्तन किया था। अशोक ने यहाँ अनेक बौद्ध विहारों और मठो का निर्माण किया था। श्वानच्वांग ने सातवीं सदी मे यहाँ के भवनों को देखा था। उसके अनुसार यहाँ अत्यन्त आकर्षक और सुहावने अनेक मंजिला वाले भवन थे। अल्बेरुनी लिखता है कि "हिन्दू विद्याएं हमारे विजित प्रदेशों से भाग कर कश्मीर और वाराणसी (काशी) जैसे सुदूर स्थानो में चली गईं, जहाँ मेरे हाथ भी नहीं पहुँच सकते।" मध्ययुगीन अभिलेखो से विदित होता है कि "वाराणसी में वेदो का अध्ययन किया जाता है।" अल्बेरुनी ने यहाँ पर श्रेष्ठ विद्यालय होने का संकेत किया है। काशी

गहडवालों के लिए दूसरा महत्त्वपूर्ण आवास था। प्रसिद्ध कश्मीरी कवि श्रीहर्ष के पिता श्रीहीर राजा विजयचन्द्र के सभासद् थे। श्रीहर्ष ने नैषधीयचरितम् नामक महाकाव्य की रचना काशी में ही की थी। कबीर और तुलसी काशी से ही सम्बद्ध थे।

(6) कश्मीर–प्राचीन काल से ही कश्मीर की ख्याति "शारदा देश" या "सरस्वती का निवास" के रूप में रही है। यह पूर्व मध्य युग में शिक्षा का प्रधान केन्द्र था। यहाँ दर्शन साहित्य, न्याय, ज्योतिष, इतिहास आदि के अनेक प्रतिभासम्पन्न विद्वान् हुए थे, जिन्होंने साहित्य और संस्कृति के अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। नवीं सदी के विद्वानों मे हरविजय महाकाव्य का निर्माता रत्नाकर, शिवाक काव्य का रचयिता शिवस्वामी, बृहत्कथामजरी, रामायण मजरी, भारत मजरी, बोधिसत्वावदान आदि के कर्त्ता क्षेमेन्द्र तथा कलाविलास, चतुर्वर्ग सग्रह, चारुचर्या, नीतिकल्पतरु, समयमातृका आदि ग्रन्थों का प्रणयनकर्ता क्षेमेन्द्र का पुत्र सोमेन्द्र और बारहवीं सदी की प्रतिभाओं में अलकारशास्त्रज्ञ रुय्यक, श्रीकठचरित के निर्माता मखक और नैषधीयचरित के लेखक श्रीहर्ष प्रसिद्ध थे। कल्हण ने राजतरगिणी नामक ऐतिहासिक काव्य लिखकर साहित्य की अद्वितीय सेवा की है। उस समय पूरे भारत के कवि अपनी विद्वत्ता पर छाप लगाने हेतु कश्मीर जाने में गर्व का अनुभव करते थे।

(7) धारा–धारा नगरी पूर्व मध्य युग में विद्या का प्रधान केन्द्र रही है। यह मालवा के परमारो की राजधानी थी। पद्मगुप्त परिमल ने यहीं निवास करके नवसाहसाकचरित नामक महाकाव्य की रचना की थी। धनिक और धनजय नामक विद्वान् इसी राजधानी के आश्रित थे। हलायुध, अमितगति, शोभन आदि भी यहीं के थे। राजा भोज अपने पूर्ववर्ती मुज की भाँति यहाँ का एक विद्वान् और प्रतिभासम्पन्न शासक था। वह राजनीति, दर्शन, ज्योतिष, वास्तु, काव्य, साहित्य, व्याकरण, चिकित्सा आदि विभिन्न विषयों का मर्मज्ञ तथा अनेक ग्रन्थों का रचयिता था। 'कविराज' उसकी उपाधि थी। उसकी राजसभा में धनपाल, विज्ञानेश्वर, उवट आदि विद्यमान थे। राजा भोज ने अनेक विद्यालयों की भी स्थापना की थी।

(8) कन्नौज–उत्तर भारत में सम्राट् हर्ष के समय से ही कन्नौज का उत्कर्ष प्रारम्भ हो गया था। यह स्थान राजधानी के साथ-साथ विद्या और शिक्षा का भी केन्द्र था। इसका अनवरत विकास सातवीं से बारहवीं सदी तक होता रहा। इस नगर की शोभा अनेक विषयों के ज्ञाता बढाते थे, जो अपने शिष्यों को विभिन्न प्रकार की शिक्षा प्रदान करते थे। संस्कृत साहित्य के सुप्रसिद्ध गद्यकाव्यकार बाणभट्ट ने ऐसे ही आचार्यकुल में शिक्षा प्राप्त की थी। हर्षवर्धन स्वय अनेक ग्रन्थों का रचयिता था। बौद्ध और हिन्दू धर्म के मध्य कन्नौज में ही दार्शनिक शास्त्रार्थ हुआ था। प्रतिहारों के युग मे भी कन्नौज उसी प्रकार शिक्षा का केन्द्र बना रहा। इस काल में राजशेखर ने काव्यमीमासा, बालरामायण, कर्पूरमजरी आदि काव्यों की रचना की थी।

(9) काञ्ची–दक्षिण भारत में विद्यमान काँची पल्लववशीय शासकों के नेतृत्व में एक महान् शिक्षाकेन्द्र बन गया था। यह विद्या के क्षेत्र में पूर्व मध्ययुगीन दक्षिण भारत का एक प्रमुख केन्द्र था, जहाँ अनेक आचार्य वैदिक साहित्य का अध्यापन कार्य करते थे। काची के शिक्षाकेन्द्र का विकास विश्वविद्यालय के रूप में हुआ था। भारत के विभिन्न

प्रदेशों के निवासी यहाँ शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे। शूद्रक ने अपने नाटक "मृच्छकटिक" का प्रणयन यहीं पर किया था। कदम्बवंशी राजकुमार मयूरवर्मन ने काची में ही शिक्षा ग्रहण की थी। यह भी कहा जाता है कि वात्स्यायन और दिङ्नाग जैसे महान् ज्ञाता काची विश्वविद्यालय की शोभा बढ़ाते थे।

पुरुषार्थ चतुष्टय

मानव जीवन का वास्तविक स्वरूप, महत्त्व और लक्ष्य क्या है इस विषय मे एकमत नहीं है। कुछ विद्वानो का कथन है कि "इस जगत् में सब कुछ क्षणभगुर और नश्वर है, *अत यह असत्य है। इसके पीछे भागना नितान्त व्यर्थ है। मनुष्य को इन सब* को छोडकर परलोक की चिन्ता या परम सत्य की खोज में अपना सम्पूर्ण जीवन लगा देना चाहिए।" इसके विपरीत दूसरे पक्ष का चिन्तन है कि "जीवन की सफलता भोग की मात्रा पर निर्भर है। भौतिक वस्तुओ की प्रचुरता में यदि मनमाना भोग किया जाये, तो जीवन वास्तव मे पूर्ण तथा सफल माना जा सकता है।" ये परलोक के अस्तित्व को अस्पष्ट अज्ञात व अवास्तविक मानते हैं। इनके अनुसार "वास्तविक सत्य तो वर्तमान जीवन है, जिसमे अधिकाधिक सुख-भोग करना जीवन की सफलता व सार्थकता है।" भारतीय *सस्कृति मे इन दोनो मार्गों का समन्वय प्राप्त होता है। यहाँ भोग सर्वस्व, जीवन स्वार्थपूर्ण एव सकीर्ण माना गया है, जो उच्चतर आदर्श का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। सर्वोच्च* ऐश्वर्य भी शनै शनै मिट जाता है। अत इस ससार के सुखो को ही सब कुछ मान लेना उचित नहीं है। मनुष्य जन्म लेता है। उसका परिवार धनसम्पन्नता, विविध प्रकार के सुख उसे उपलब्ध होते हैं, किन्तु एक दिन ऐसा आता है, जब वह इन सब को छोडकर मृत्यु की गोद मे चला जाता है। उसके स्वजन, सुखोपभोग, ऐश्वर्य कोई भी उसके साथ नहीं जाते। अत इन सब को स्थायी नहीं माना जा सकता, यद्यपि इन सबके नश्वर होते हुए भी इनकी अवहेलना भी नहीं की जा सकती है। "नश्वर और अविनश्वर को पृथक् करना अनुचित एव भ्रान्तिकारक होगा।" इन दोनो को मिलाकर ही मानव जीवन के वास्तविक स्वरूप, महत्त्व और लक्ष्य का निर्धारण करना चाहिए। इसी समन्वय की अभिव्यक्ति पुरुषार्थ का सिद्धान्त है।

पुरुषार्थ का अर्थ व स्वरूप—मनुष्य न तो पूर्णतया दैवी प्राणी है और न भौतिक। उसमें देवत्व तथा प्रकृतित्व का सम्मिश्रण स्वीकार किया गया है। इसी आधार पर भारतीय चिन्तन मे मनुष्य को पशुजगत् से उठा कर आत्मिक श्रेष्ठता की ऊँचाई में प्रतिष्ठित करने की योजना बनाई गई। "मनुष्य को ईश्वर की श्रेष्ठतम रचना मान कर प्राकृतिक सरचना की दृष्टि से उसके उद्देश्य की गुरुता का भी ध्यान में रख कर जीवन यापन की जिस प्रणाली का निर्धारण किया गया, उसे पुरुषार्थ कहा गया।" जीवन के लक्ष्य बोध के रूप मे हिन्दू चिन्तन में पुरुषार्थ की अवधारणा का विकास हुआ। यह अवधारणा व्यक्तित्व और समाज के निर्माण का आधार थी। "पुरुषार्थ" में दो शब्द हैं पुरुष और अर्थ *जिनका अर्थ क्रमश "विवेकशील प्राणी" तथा "लक्ष्य" है। अत पुरुषार्थ का आशय* "विवेकशील प्राणी का लक्ष्य" हुआ। इसमें एक ओर सासारिक और पारलौकिक लक्ष्य एव कर्तव्य हैं तथा दूसरी ओर इसमे नैतिक, आर्थिक, शारीरिक व आध्यात्मिक मूल्यो का सन्तुलित किया गया। "जीवन को आध्यात्मिक, भौतिक और नैतिक दृष्टि से उन्नत

करने के निमित्त पुरुषार्थ की नियोजना की गई।" जीवन में भौतिक सुख के साथ आध्यात्मिक सुख भी महत्त्वपूर्ण था। जीवन को सयमित, नियमित और आदर्शपूर्ण बनाना भी मानव का कर्त्तव्य है। सकीर्णता, स्वार्थलिप्सा, वासना, भौतिक सुख व समृद्धि ही आदर्श जावन नहीं है। अत पुरुषार्थ द्वारा सात्विक और नि स्वार्थ जीवनयापन की व्यवस्था की गई।

पुरुषार्थ के नियोजन में आधारभूत सिद्धान्त और उद्देश्य मनुष्य का सर्वांगीण विकास है। पुरुषार्थ वह आधार है, जिसके अनुसरण द्वारा व्यक्ति स्वय के लिए जावित रहते हुए सामाजिक मूल्यो को भी बल देता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आश्रम व्यवस्था की सफलता पुरुषार्थ पर ही निर्भर करती थी। धर्म अर्थ, काम तथा मोक्ष ये चार पुरुषार्थ माने गए। इन्हें "चतुर्वर्ग" भी कहा गया। इन्हीं के बल पर व्यक्ति उत्साहपूर्वक अपने कार्य करता है तथा जीवन, जगत् और परमात्मा के प्रति अपनी कर्मनिष्ठता ज्ञापित करता है। मोक्ष की प्राप्ति सभी के लिए सम्भव नहीं थी। अत "त्रिवर्ग" की सयोजना की गई। इसमें धर्म अर्थ और काम था। "धर्म" मनुष्य को सन्मार्ग दिखाता है। यह असत् या पशविक और सत् या दैवी प्रकृति के मध्य का सेतु है। इससे मनुष्य नैतिक सिद्धान्तों व न्यायपूर्ण क्रियाओ को सत्य रूप में समझ सकता है। "जिससे दूसरे को कष्ट न पहुँच कर लाभ हो, वह धर्म है" (महाभारत)। गुणसम्पन्नता धर्म के प्रभाव से ही सम्भव है। "अर्थ" मनुष्य की सन्तुष्टि और विभिन्न वस्तुओ को प्राप्त करने की उत्कण्ठा को व्यक्त करता है। मानव जावन मे धनाजन की प्रवृत्ति को पुरुषार्थ के अन्तर्गत रख कर मन की सहज आकाक्षाओ और वृत्तियो का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। "जीवन में भौतिक सुखो की पूर्ति अर्थोपार्जन से ही सम्भव है।" "काम" मानव जीवन की सुखद और सहज अनुभूति से सम्बद्ध है, जिसके आधार पर विवाह तथा सन्तानोत्पत्ति सम्भव है। यौन भावना के साथ सौन्दर्यानुभूति की तुष्टि काम के माध्यम से ही होती है। "काम इन्द्रियो से नि सृत मन और हृदय का सुख है" (महाभारत)। "मोक्ष का सम्बन्ध आत्मा व परमात्मा तथा आध्यात्मिक जीवन से है। जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है।" इस प्रकार पुरुषार्थ मानव जीवन के समग्र स्वरूप का उन्नयन करता है। यह व्यक्ति के जीवन को गरिमा-मण्डित बनाकर उसके निवृत्ति-मूलक व्यक्तित्व का निर्माण करता है।

विवरण–(1) धर्म–धर्म शब्द का अर्थ "धारण करना" है "**धारयतीति धर्म** " अर्थात् जो जीवन में धारण किया जाता है, वही धर्म कहलाता है। धर्म प्रजा को धारण करता है। "धर्म" भारतीय संस्कृति का मूल मन्त्र है। यह व्यक्ति को कर्त्तव्यों सत्कर्मों एव गुणो की ओर ले जाता है। "यह व्यक्ति की विविध रुचियो, इच्छाओ, आकाक्षाओ, आवश्यकताओ आदि के मध्य एक सन्तुलन बनाए रखता है और परिणामस्वरूप मानवीय व्यवहार का उचित नियमन एव नियन्त्रण करता है। आचार से धर्म को फलीभूत होने वाला कहा गया है तथा आचार एव सदाचार को धर्म का लक्षण माना गया। मनु के अनुसार, "वेद और स्मृतियो में विवृत है कि आचार ही श्रेष्ठ धर्म है।" "धर्म वही है, जो किसी को कष्ट नहीं देता अपितु लोककल्याण करता है" (महाभारत) कणाद मुनि ने धर्म का स्वरूप निर्धारित करते हुए कहा है,"**यतोऽभ्युदयनि श्रेयस सिद्धि स धर्म** " अर्थात् जिससे कल्याण एव उन्नति हो वही धर्म है। मनु के अनुसार धर्म के 4 आधार हैं-

(1) श्रुति (वेद) (2) स्मृति (धर्मशास्त्र)
(3) सदाचार तथा (4) आत्मतुष्टि।

धर्म नैतिक आचरणो को अधिक महत्त्व देता है। धर्म के दो भेद हैं सामान्य और विशिष्ट। प्रथम के अन्तर्गत मानव मूल्यो का नियोजन है। सत्य अहिसा ब्रह्मचर्य दम क्षमा सुश्रूषा शील मधुर वचन शरणागत रक्षा अतिथि सेवा आदि मनुष्य के सामान्य धर्म हैं। द्वितीय मे देशधर्म जाति धर्म कुल धर्म वर्ण धर्म आश्रम धर्म गुण धर्म और नैमित्तिक धर्म आते है। *सत्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। इससे व्यक्ति और समाज की* उन्नति होती है। अपनी इन्द्रियो पर नियन्त्रण रखना ब्रह्मचर्य है। तप अनुशासन और उच्च मार्ग का अनुसरण इसके अन्तर्गत आता है। किसी को अपनी वाणी और कार्यों से हानि न पहुँचाना ही अहिसा है जो मनुष्य का उत्तम कार्य माना गया है। अपनी कर्मेन्द्रियो को पूर्ण रूप से वश मे करना दम या इन्द्रियनिग्रह है। व्यक्ति मे क्षमा की भावना उसे *महान् बनाती है। अपने मधुर और प्रिय वचन से सबको मोह लेना ही मनुष्य की* सार्थकता है। मनुष्य का चरित्र शील से ही उन्नत होता है जो मनुष्य का आभूषण है। **सत्ययुग मे तप त्रेता मे ज्ञान द्वापर मे यज्ञ और कलि मे केवल दान को ही धर्म कहा गया है।** (मनुस्मृति)।

(2) अर्थ–अर्थ पुरुषार्थ चतुष्टय का द्वितीय अग है। अर्थ का शाब्दिक अभिप्राय होता है धन। मानव जीवन में धर्म के समान ही अर्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। महाभारत मे अर्थ को उच्चतम महत्त्व दिया गया है क्योकि प्रत्येक वस्तु उस पर निर्भर करती है। अर्थसम्पन्न लोग सुख से रह सकते हैं। अर्थहीन लोग मृतसदृश हैं। किसी एक के धन को क्षय करके उसके त्रिवर्ग को प्रभावित किया जा सकता है। धर्म को काम और धर्म का आधार माना गया है। इससे स्वर्ग का मार्ग प्रशस्त होता है। धर्मस्थापना के लिए अर्थ अनिवार्य है क्योकि इसी से प्राप्त सुविधा द्वारा धार्मिक कृत्य किये जा सकते है। *अर्थविहीन व्यक्ति ग्रीष्म की सूखी सरिता के समान माना गया है। अर्थ के बिना* जीवनयापन असम्भव है। बृहस्पति ने भी अर्थ की महत्ता ज्ञापित की है। अर्थसम्पन्न व्यक्ति के पास मित्र धर्म विद्या गुण क्या नहीं होता। दूसरी ओर अर्थहीन व्यक्ति मृतक या चाण्डाल के समान है। कौटिल्य ने भी अर्थ को धर्म जितना ही महत्त्वशाली बताया है। भर्तृहरि ने अर्थ को जीवन का प्रधान साधन माना है तथा किसी भी स्थिति में धन से इसका *अलगाव स्वीकार नहीं किया है क्योंकि बिना धन के व्यक्ति निरर्थक और प्रभावहीन हो* जाता है। नीतिशतक में वर्णन मिलता है कि

यस्यास्ति वित्त स नर कुलीन
स पण्डित स श्रुतवान् गुणज्ञ।
स एव वक्ता स च दर्शनीय
सर्वे गुणा काचन माश्रयन्ति॥

अर्थात् जिसके पास धन है वह मनुष्य कुलीन पण्डित श्रुतवान् गुणज्ञ वक्ता तथा दर्शनीय होता है *क्योंकि सभी गुण काचन मे निवास करते हैं। आपस्तम्ब ने* मनुष्य को धर्मानुकूल सभी सुखो का उपभोग करने के लिए निर्दिष्ट किया है। मनुष्य के

जीवन मे सुख की सर्वोपरि महत्ता है, जिसे प्राचीन विचारको ने अत्यन्त तर्कपूर्ण भाषा में व्यक्त किया है। मनु के अनुसार त्रिवर्ग ही श्रेय है, जिसमें अर्थ की अपनी विशेष महत्ता है। धनार्जन उपयोग्य वस्तुओ के प्रति उत्कठा एव खानपान की विविध वस्तुओ के प्रति मोह आदि भौतिक सुख से सम्बन्धित हैं। प्रत्येक व्यक्ति भौतिक वस्तुओ के प्रति प्रवृत्त रहता है। किन्तु व्यक्ति का धनसग्रह धार्मिक आधार पर होना चाहिए अधर्म और अन्याय से अर्जित धन सम्पत्ति का फल दु खदायी होता है तथा धर्मविरुद्ध कार्यों मे धन व्यय करना भी निन्दनीय माना गया है। धर्म को हानि पहुँचा सकने वाले अर्थ का त्याग करना श्रेयस्कर था। "धर्मविरुद्ध अर्थ और काम को छोड़ देना चाहिए" (मनु)। अत अर्थ के निमित्त किये जाने वाले प्रयास मे धर्म की संस्तुति अवश्य होनी चाहिए।

(3) काम–"काम" तीसरा पुरुषार्थ है 'काम' शब्द का शाब्दिक अर्थ होता है 'इच्छित वस्तु की चाहना'। **'काम्यते जनैरिति काम सुख'** अर्थात् वह सुख जिसकी कामना मनुष्यो के द्वारा की जाय, वही वास्तव मे 'काम' है। काम भावना व इन्द्रियसुख काम के प्रधान लक्षण हैं। व्यक्ति की समस्त कामनाए, वासनाजन्य प्रवृत्तियाँ तथा आसक्तिमूलक वृत्तियाँ काम के अन्तर्गत आती हैं। परिवार और समाज का उत्कर्ष तथा एक दूसरे के प्रति आकर्षण काम द्वारा सम्भव है। मन और मस्तिष्क की इच्छाए और उनकी तुष्टि कामजन्य ही होती है। "आनन्द (सम्प्रमोद) मे पूर्णत लिप्त रहना ही काम है" (महाभारत शान्तिपर्व)। किन्तु इनका अतिरेक भी महान् दुर्गुण है। काम के वशीभूत होकर धर्म नहीं छोडना चाहिए। काम को धार्मिक नियमो और सयमो के अनुरूप होना चाहिए। समस्त आकाक्षाओ की पूर्ति के लिए काम अनिवार्य था। महाभारत में धर्म को सदा अर्थ की प्राप्ति का कारण, काम को अर्थ का फल, इन तीनो का मूल कारण सकल्प और सकल्प को विषय रूप माना है। **कौटिल्य** ने अर्थशास्त्र में कहा है कि–

"धर्मार्थाविरोधेन काम सेवेत्।"

अर्थात् धर्म और अर्थ को बिना बाधा पहुँचाए काम का पालन करना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में इसी धर्म अविरुद्ध अर्थात् धर्मयुक्त काम को मुख्य स्थान दिया है, उनका कथन है-' **धर्मविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ** ।" मनु ने काम को तमोगुण के लक्षण से युक्त माना है-"**तमसो लक्षण काम** "। मनुष्य के जीवन मे अभिलाषा का प्रधान स्थान है, क्योंकि व्यक्ति अपनी मनोवृत्ति के वशीभूत होकर ही वेद पढता एव अन्यान्य कार्यों मे तल्लीन होता है। काम धर्म का सार माना गया है तथा धर्म और अर्थ से उसे विशिष्ट कहा गया है। व्यक्ति की समस्त अन्तर्वृत्तियाँ काम से सचालित होती हैं। मानसिक और शारीरिक आनन्दानुभूति काम के माध्यम से होती है। इसकी निकटता से उसकी कामभावना और विषयसुख की तुष्टि होती है। मनुष्य के जीवन का उत्थान पुरुषार्थ के साथ-साथ काम के अनुराग से भी है। यौन सम्बन्धी सुख के अतिरिक्त सन्तानोत्पत्ति भी व्यक्ति का प्रधान उद्देश्य रहा है। वह अपनी सहज स्वाभाविक और सुबोध अनुरक्ति से काम की अभिव्यक्ति आदर्श रूप मे करता है। गृहस्थ जीवन की सार्थकता काम के माध्यम से सन्तान उत्पन्न करके मानी गई है जिससे अक्षय स्वर्ग और ऐहिक सुख प्राप्त होता है। विषयो के निरन्तर चिन्तन से इनमें रुचि बढती जाती है और कामवासना का जन्म होता है। कामतृप्ति मे व्यवधान पडने से क्रोध उत्पन्न होता है।

क्रोध से अविवेक के प्रतिरूप मोह की उत्पत्ति होती है जिससे स्मृतिभ्रम बुद्धिनाश व मनुष्य का सर्वनाश होता है । अत यह उचित समझा गया कि कामवासना को धर्म या आध्यात्मिक रूप मे रखा जाये । सकुचित और सीमित कामजन्य विचारो के स्थान पर प्रशस्त और व्यापक विषयसुख की अवधारणा की गई । अत व्यक्ति के स्वस्थ और सुन्दर होने मे काम का महत्त्वपूर्ण योग है ।

(4) मोक्ष–मोक्ष पुरुषार्थ का अन्तिम सोपान है जिसे प्राप्त करने मे मानव वृद्धावस्था में सलग्न होता है । यह आध्यात्मिक जीवन का अन्तिम और उच्चतम उद्देश्य माना गया है । मानव का धार्मिक और आध्यात्मिक जीवन मोक्ष मार्ग पर अग्रसर होकर ही प्रकाशमान होता ह । जीवन को पूर्ण रूप से धार्मिक और आध्यात्मिक बना पाना बडा कठिन है । इसके लिए मानवीय प्रवृत्तियो का एकनिष्ठ होना आवश्यक है । मानव भावात्मक बौद्धिक आर्थिक सौन्दर्यात्मक सामाजिक आदि विविध भावो से परिपूर्ण रहता है और इनसे प्रभावित भी होता है । इन प्रवृत्तियों से छुटकारा मिलते ही उसे निवृत्ति का मार्ग मिल जाता है । इसी बीच वह कई द्वन्द्वो मे झूलता रहता है । फिर वह ऐहिक व सासारिक सुख का परित्याग कर पारलौकिक सुख की ओर अग्रसर होता है । मानव का मोक्षप्राप्ति का उद्देश्य जीवन और मृत्यु के बन्धन तथा ससार के आवागमन के चक्र से मुक्ति पाना होता है । आत्मा और परमात्मा का तादात्म्य ही मोक्ष तथा परमानन्द की चरम अनुभूति है । जीव ब्रह्म मे लीन होकर मोक्ष तथा पद को प्राप्त करता है । आमा का यही सच्चा ज्ञान मोक्ष है । **आत्मज्ञान की पूर्णता ही मोक्ष यत्ब्रह्म की प्राप्ति है** । काम क्रोध से रहित जीते हुए चित्त वाले परब्रह्म परमा मा का साक्षात्कार कर चुके ज्ञानी पुरुषो के लिए सब ओर से शान्त परब्रह्म परमा मा ही प्राप्त होता है । आत्मा और परमात्मा में एकाकार की स्थिति उत्पन्न हाने पर जब आनन्द की अनुभूति होती है तब मोक्ष की कल्पना साकार होती है ।

मनु के अनुसार तीनो ऋणो को पूरा करके मन को मोक्ष मे लगाना चाहिए । बिना ऋणो का शोधन किये मोक्ष सेवन करने वाला नरकगामी होता है । सभी आश्रमो के कार्य सम्पादित करने के बाद ही ब्रह्मलोक या मोक्ष की प्राप्ति होती है **(विष्णु पुराण)** । मोक्षार्थी के लिए अपना आचरण विशुद्ध एव चरित्र सात्विक रखना अत्यन्त आवश्यक था ।

पुरुषार्थ का सिद्धान्त भारतीय सस्कृति की आत्मा है । इसी से मनुष्य के व्यक्तित्व का उत्कर्ष सम्भव रहा है । चारो पुरुषार्थों में सभी का एक दूसरे से लगाव और सम्बन्ध है । मनुष्य इन चारो पुरुषार्थों को विवेकशीलता और कर्तव्यपालन का प्रधान आधार मानता है । उसका सामाजिक धार्मिक आध्यात्मिक और आर्थिक उत्कर्ष पुरुषार्थ की सम्पन्नता से ही होता है । जीवन में विविध प्रकार के भाव हैं । यहा भौतिकता और सासारिकता के अतिरिक्त आध्यात्मिकता भी है । प्रवृति से हट कर निवृत्ति की ओर झुकना पुरुषार्थ का महान लक्ष्य रहा है । इनमे धर्म को सर्वोच्च स्थिति रही है । अत धर्म कर्त्तव्यों का वह प्रकाशपुंच माना गया है जिससे सर्वत्र प्रकाश फैलता है । इस प्रकार पुरुषार्थ मनुष्य के व्यक्तित्व निर्माण का प्रधान आधार ही नहीं अपितु मुख्य प्रेरक भी है । पुरुषार्थ जीवन के उच्चतर आदर्शों की प्राप्ति की एक परियोजना है । इसमें न तो

अध्याय 8

राजनीतिक संगठन तथा लोक प्रशासन

भारत में राजनीतिक चिन्तन की परम्परा बहुत प्राचीन समय से प्रचलित है। वैदिक साहित्य में इसकी सामग्री परोक्ष रूप से प्राप्त होती है। राजशास्त्र सम्बन्धी विषय पर अधिक प्रकाश *रामायण, महाभारत अर्थशास्त्र, कामन्दकनीतिसार शुक्रनीतिसार* बार्हस्पत्यसूत्र तथा मनुस्मृति से पड़ता है। इनसे यह भी ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में उस विषय पर अनेक आचार्यों ने विशालकाय ग्रन्थों और शास्त्रों की रचना की थी। "पहले युग में सब लोग धर्मपूर्वक रहते थे। कोई राजा या दण्ड-व्यवस्था न थी। बाद में मोह, लोभ, काम, राग आदि दोष उत्पन्न होने से लोगों का पतन तथा धर्म का नाश हुआ। तब धर्म की रक्षा के लिए ब्रह्मा ने धर्म अर्थ, काम तथा मोक्ष पर एक लाख अध्यायों का एक विशाल ग्रन्थ बनाया। इसे शंकर विशालाक्ष ने दस हजार अध्यायों में संक्षिप्त किया। इन्द्र ने इसका संक्षेप 5 हजार अध्यायों में करके इसे "बाहुदन्तक" नाम दिया। इसके बाद बृहस्पति ने इसका पुनः 3 हजार अध्यायों में तथा काव्य या उशना ने एक हजार अध्यायों में संक्षेप किया" (**महाभारत, शान्तिपर्व**)। यहाँ पर राज्य सम्बन्धी अवधारणा का विवेचन करने वाले 7 आचार्यों का वर्णन किया गया है-(1) बृहस्पति, (2) विशालाक्ष, (3) काव्य, (4) महेन्द्र, (5) मनु, (6) भारद्वाज और (7) गौरशिरा। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में 53 बार दूसरे आचार्यों के मतों का उल्लेख करते हुए उनसे असहमति प्रकट की है। उसने राजशास्त्र के 5 सम्प्रदायों और 7 आचार्यों का नामोल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि "प्राचीन भारत में अनेक आचार्यों व विद्वानों ने राज्यविषयक प्रश्नों पर गम्भीर विचार किया था।"

यही नहीं, हमारे सामने राज्य-सम्बन्धी अवधारणा को क्रियान्वित करने वाले चन्द्रगुप्त, अशोक, कनिष्क, समुद्रगुप्त, विक्रमादित्य, हर्षवर्धन, पुलकेशिन जैसे प्रबल प्रतापी, *महत्त्वाकांक्षी और समर्थ शासकों के क्रियाकलापों का विवरण भी उपलब्ध है* जिन्होंने राजनीति के मौलिक सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देकर कतिपय मौलिक प्रयोग भी किये।

प्राचीन भारत में राज्य की अवधारणा–प्राचीन भारतीय मान्यता के अनुसार चतुर्वर्ग या मोक्ष की प्राप्ति के लिए राज्य को एक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण साधन माना गया है। राज्य के इसी महत्त्व को दृष्टि में रखते हुए राज्य के विभिन्न अंगों तत्त्वों, स्वरूपों, अधिकारों कर्तव्यों आदि का निर्धारण किया गया। राज्य के महत्व विषयक कुछ विचार यों है-जैसे इन्द्र की पत्नी कभी भी विधवा नहीं हो सकती, उसी प्रकार धर्मविमुख लोग भी जो शासन नहीं चाहते या मोक्ष के आकांक्षी नहीं हैं राजा या राज्य के बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकते" (**शुक्रनीति**)। सोमदेव ने नीतिवाक्यामृत में

राज्य को इसलिए प्रणाम किया कि वह धर्म और अर्थ का फलदाता है-"**अथ धर्मार्थफलाय राज्याय नम ।**" राजा के न होने पर जब मनुष्य यत्र-तत्र भागने लगे, तब भगवान् ने विश्व की रक्षा के लिए राजा की सृष्टि की" (मनुस्मृति)। इस अवधारणा में दण्ड को विशेष महत्त्व दिया गया। "दण्ड द्वारा ही अप्राप्त की प्राप्ति, प्राप्त का परिरक्षण, परिरक्षित का परिवर्द्धन, परिवर्द्धन का सदुपयोग व तीर्थ आदि में वितरण सम्भव है। अत समाज की समग्र व्यवस्था दण्ड पर आश्रित है" (महाभारत)। "इस प्रकार प्राचीन भारतीय राज्य सम्बन्धी चिन्तन द्वारा मोक्ष की प्राप्ति, अराजकता का अन्त तथा दण्ड प्रयोग के लिए जिस राज्य की उत्पत्ति का प्रतिपादन किया गया, वह शान्ति, सुव्यवस्था न्याय एव सुरक्षा का प्रतीक बन गया।"

उस समय राज्य के कर्त्तव्य थे और उसके कार्यकलाप में जीवन के सभी क्षेत्रों का समावेश था, अपराधों को रोकने से लेकर कलाओं को प्रोत्साहन देने तक का। किन्तु उस शासन के अधीन व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता थी। वस्तुत राज्य के अधिकारों का आधार परम्पराएँ और विधि थीं और इस आधार को स्पष्ट रूप से निर्धारित भी कर दिया गया था। इसमे सम्राट् की इच्छा को प्राय नगण्य स्थान प्राप्त था। राजा जनता को अराजकता से बचाता था, इसलिए उसकी आज्ञा का पालन अनिवार्य था। शास्त्र विधि सहिता, स्थानीय रिवाज ही विधि के स्रोत थे और विधि बनाने के सम्बन्ध में राजा को बहुत थोडे अधिकार थे। वह इन विधियों का पालन करने के लिए उतना ही बाध्य था, जितना कि दूसरे लोग। इस समय राज्यव्यवस्था अत्यन्त सुसगठित थी और एक धार्मिक पुट लिये थी। धर्म को विधि का ही पर्याय समझा जाता था। एक अन्य भारतीय अवधारणा के अनुसार "मनुष्य मे आसुरी वृत्तियाँ प्रबल होती हैं। अत उन्हें रोकने के लिए राज्य का जन्म होता है। वह अपने दण्ड की शक्ति से सब मनुष्यो का ठीक रास्ते पर रख कर समाज में सुशासन और व्यवस्था बनाये रखता है।" दण्ड उस मर्यादा का नाम है, जो मनुष्यों में व्यवस्था और अराजकता के निवारण के लिए की गई है। अराजक दशा को दूर करने के लिए ब्रह्मा द्वारा दण्ड की उत्पत्ति की गई। राज्य की सारी व्यवस्था दण्ड के कारण है। यदि दण्ड का ठीक प्रकार से प्रयोग न हो, तो सारी मर्यादा टूट जायेगी। बलवान् निर्बलो को उसी प्रकार खाने लगेंगे, जैसे जल में बडी मछलियाँ छोटी मछलियो को खाती हैं।"

भारतीय सस्कृति में चार वर्ण तथा चार आश्रम हैं। इनमें प्रत्येक वर्ण और आश्रम के अपने-अपने कर्त्तव्य या स्वधर्म हैं। "स्वधर्म का पालन स्वर्ग और मोक्ष देने वाला है। यदि स्वधर्म का उल्लघन किया जाये तो अव्यवस्था उत्पन्न हो जायेगी तथा समाज नष्ट हो जायेगा। समाज और राज्य की उन्नति इसी बात पर निर्भर है कि राजा सब को अपने स्वधर्म पर स्थिर रखे" (कौटिल्य)। "जो भी धर्म से विचलित हो उसका अपने बाहुबल से निग्रह करना राजा का कर्त्तव्य है।" (महाभारत)। वैदिक युग में राज्य विदेशी शत्रुओं के प्रतिकार और आन्तरिक व्यवस्था व सुशासन बनाए रखने का काम करता था। सम्भवत उन दिनो राजा न्यायकार्य नहीं करता था। दीवानी और फौजदारी मामलों का निर्णय पचायतें ही करती थीं। ईस्वी पूर्व चौथी सदी के आसपास इसके कार्यक्षेत्र में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि-

"वैदिक युग में जहाँ राज्य का प्रधान उद्देश्य आन्तरिक उपद्रवो से तथा बाह्य आक्रमणो से देश की रक्षा करना था वहाँ अब उसका आदर्श राज्य की तथा नागरिकों की

सर्वांगीण उन्नति करना समझा जाने लगा । भौतिक दृष्टि से देश को समृद्ध बनाने के लिए राज्य की ओर से उद्योग-धन्धे चलाने नई बस्तियाँ बनाने नई जमीन कृषि योग्य बनाने बाँध बनवाने खाने खुदवाने कारीगरो और शिल्पियो को सरक्षण देने की व्यवस्था शुरू हुई । सामान्य हितो का ध्यान रखते हुए नाप तथा तौल का मान स्थिर करने वस्तुओ का सचय और मुनाफाखोरी रोकने के लिए राज्य की ओर से अधिकारी नियुक्त किये जाने लगे । कारीगरो की सुरक्षा के लिए श्रम कानूनो की व्यवस्था की गई । वेश्यावृत्ति घूस मदिरापान आदि बुराइयो को राज्य की ओर से नियन्त्रण करने की व्यवस्था की गई । धर्म और सदाचार के प्रोत्साहन के लिए "धर्ममहामात्य" नामक राजकर्मचारी नियत किये गये । विद्वानो तथा धर्म प्रचारको को राज्य की ओर से प्रोत्साहन दिया गया । दीन-दुखिया के कष्ट निवारण के लिए धर्मशालाए मनुष्यो की तथा पशुओ की चिकित्सा के लिए औषधालय एव निर्धनो के लिए अन्न-क्षेत्र खोले गए ।"

इस प्रकार प्राचीन भारतीय राज्य सम्बन्धी अवधारणा मे कल्याणकारी राज्य के आदर्श को पूरी तरह अपना लिया गया था । "अब राज्य का उद्देश्य धर्म अर्थ और काम की वृद्धि करना था ।"

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त

प्राचीन भारत मे राज्य की उत्पत्ति के विषय मे वैज्ञानिक दृष्टिकोण से पर्याप्त चिन्तन किया गया था । इसमे निम्नाकित 4 सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं

1 **सामाजिक समझौता सिद्धान्त**—ऋग्वेद मे राजा के लिए "धृतव्रत" उपाधि प्राप्त होती है जिसका अर्थ है "नियमो का पालने वाला ।" यह इस तथ्य का पोषक है कि राजा की नियुक्ति उसके द्वारा कतिपय व्रतो के पालन करने की प्रतिज्ञा द्वारा हुई होगी । "प्रस्तावित राजा को राजपद कतिपय विशेष अनुबन्धो के आधार पर दिया जा रहा है" (यजुर्वेद) । "राज्य सस्था से पूर्व अराजक दशा थी और बाद में राज्य की उत्पत्ति हुई" (महाभारत) । इसमे राज्य की उत्पत्ति भय-सत्रस्त लोगो ने पारस्परिक अनुबन्ध द्वारा की । "मनुष्यो मे पहले राज्य का अभाव था । तब किसी वस्तु की कमी नहीं थी । यह युग देर तक स्थिर नहीं रह सका । धीरे-धीरे पदार्थों की कमी होने लगी । इससे उनमे लोभ मोह, काम, क्रोध मद और हर्ष उत्पन्न हुए । मनुष्यो का नैतिक पतन हो जाने और धर्म का लोप हो जाने से यह आवश्यकता प्रतीत हुई कि राज्य द्वारा मनुष्यो में मर्यादा और नियन्त्रण की स्थापना की जाए । तब स्वय मनुष्यो ने राज्य की रचना की ।" यह अनुबन्ध 4 स्थितियो को प्रकट करता है-

(1) अराजक दशा में किसी भी व्यक्ति का जीवन सुरक्षित नहीं था ।

(2) इस स्थिति से व्याकुल होकर लोगो ने पहले आपस मे समझौता किया कि जो कोई मनुष्य दूसरे की सम्पत्ति व स्वतन्त्रता मे बाधा डालेगा उसे बहिष्कृत कर दिया जायेगा ।

(3) किन्तु सामाजिक शान्ति और व्यवस्था के लिए उन्होने केवल बहिष्कार के साधन को अपर्याप्त समझा और ब्रह्मा के परामर्श के अनुसार मनु को अपना राजा व शासक बनाना निर्धारित किया ।

(4) प्रजा ने मनु से यह समझौता किया कि वे उसे अपनी आमदनी का निश्चित भाग के रूप मे या उसकी वृत्ति के रूप मे प्रदान किया करेंगे और उसके आदेशो का पालन करेंगे। इसके बदले मे मनु उनकी रक्षा व पालन करेगा।

2 दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त–ऋग्वेद के कुछ मन्त्रो मे राजा को 'देव' मान कर सम्बोधित किया गया है। यजुर्वेद में राजा को "दिव सुनु" अर्थात् द्युलोक के पुत्र की उपाधि दी गई। मनुस्मृति के अनुसार "ससार की रक्षा के लिए ईश्वर ने राजा का निर्माण इन्द्र, अग्नि, यम, सूर्य, वायु, वरुण, चन्द्र और कुबेर से अश लेकर किया। इसीलिए वह सब की आँखो और मनो का सूर्य के समान अपने तेज से प्राप्त करता है तथा पृथ्वी पर कोई भी व्यक्ति उसकी ओर आँख उठाकर नहीं देख सकता। राजा अपने प्रभाव के कारण ही स्वय अग्नि, वायु सूर्य, सोम (चन्द्रमा), कुबेर, वरुण और महेन्द्र होता है। यदि कोई बालक भी राजा हो तो यह समझ कर उसका अपमान नहीं करना चाहिए कि वह तो अभी बालक ही है। राजा देखने मे यद्यपि एक साधारण मनुष्य प्रतीत होता है, पर वास्तव में उसे एक महान् देवता समझना चाहिए।" सब प्राणियो की रक्षा के प्रयोजन से और न्यायपूर्वक दण्ड के प्रणयन के लिए देवताओ के अश लेकर स्वयभू ने राजा की सृष्टि की है।" महाभारत से भी राजा का दैवी होना सूचित होता है। शान्तिपर्व में एक स्थान पर "देवो और नरदेवो अर्थात् राजाओ को एक तुल्य कहा गया है।"

"राजा इन्द्र और यम का स्थानीय होता है। कृपा और कोप उसमे प्रत्यक्ष रूप से होते हैं। जो कोई उसका अपमान करता है, उसे दैवी दण्ड भी मिलता है। इस कारण राजाओं का कभी अपमान नहीं करना चाहिए।" (कौटिल्य)। भारत मे सृष्टि, ज्ञान आदि सभी का उद्‌गम ईश्वर द्वारा माना जाता था। जहाँ एक आर राजा के बालक होने पर भी देवत्व समझ कर अपमान न करने का आदेश दिया गया था वहाँ पर यह भी कहा गया कि राजा अपने दैवी गुणो का उत्तरोत्तर विकास करता हुआ प्रजा के हित में ही शासन करेगा। राजा सर्वथा निरकुश न होकर दण्ड के अधीन भी था। भारतीय सिद्धान्त के अनुसार, जैसा कि मनु ने भी स्पष्ट शब्दो मे कहा, यदि राजा अपनी दैवी शक्ति की आड मे अत्याचारी का व्यवहार करता है, तो उसे भी राजसिंहासन से अलग कर देना चाहिए। भारत मे राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि नहीं माना गया है और न उसके अत्याचारो के प्रति विद्रोह को ईश्वर के प्रति विद्रोह कहा गया है। राजा का यह वैदिक दैवी सिद्धान्त पाश्चात्य विचारधारा से नितान्त भिन्न था। वैदिक विचारधारा मे राजा देव अवश्य माना गया, परन्तु उसका देवत्व उसके पवित्र एव धर्मानुकूल आचरण पर आश्रित था। "अपने कार्यों के लिए वह जनता के प्रति उत्तरदायी था, न कि ईश्वर के प्रति।"

3 युद्ध द्वारा राज्य की उत्पत्ति–ऐतेरेय ब्राह्मण मे राज्य एव राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे एक अन्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। इसके अनुसार युद्ध की आवश्यकता से विवश होकर राजा का प्रादुर्भाव हुआ था। "देवो और असुरो मे युद्ध चल रहा था। असुरो ने देवो को पराजित कर दिया। इस पर देवो ने कहा, "क्योंकि हमारा कोई राजा नहीं है, इसी कारण असुर हमे जीत लेते हैं। हम भी राजा बना ले। इसे सबने स्वीकार कर लिया। सुरो द्वारा सोम को सर्वप्रथम राजा चुनाया गया।" इससे पता चलता है कि वैदिक आर्यों में राजनीतिक समाज अथवा राज्य का सर्वप्रथम उदय हुआ, जिसका मात्र उद्देश्य युद्ध मे विजय प्राप्ति था। ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के कतिपय उद्धरणो से सिद्ध

होता है कि वैदिक आर्य तथा अनार्यों मे परस्पर सघर्ष होते रहते थे। इन सघर्षों में विजेता पराजित जाति के लोगो को दास बना लिया करते थे। इसीलिए दासता से मुक्ति और विजय प्राप्ति के लिए यत्र-तत्र प्रार्थनाए मिलती हैं, ' हे वरुण देव हमारे शत्रुओ का नाश कीजिए" (ऋग्वेद)। "जो हमे दास बनाना चाहता है या बनाता है उस नीच को नरक प्राप्त कराइये" (यजुर्वेद)। इस स्थिति से राजनीतिक समाज की अवस्था मे प्रविष्ट होते हुए आर्यों मे राज्य तथा राजा का निर्माण हुआ तथा युद्ध की आवश्यकताओ की पूर्ति और विजय के लिए ही राज्य की उत्पत्ति हुई।

4 राज्य की उत्पत्ति का विकासवादी सिद्धान्त—इसका सबसे प्राचीन निर्देश अथर्ववेद मे मिलता है। सभा और समिति सम्बन्धी ऋग्वेद के सूक्त के अनुसार राज्य क्रमिक विकास का परिणाम है। राज्य सस्था से पूर्व "विराट्" अर्थात् राज्यविहीन या अराजक दशा थी। उस दशा के हाने पर यह भय हुआ कि क्या यही दशा सदा रहेगी ? क्योंकि यह दशा भयावह थी अत सगठन बने। मनुष्यो का सबसे पहला सगठन "परिवार" के रूप में था। पारिवारिक दशा म उन्नति होकर "आहवनीय" दशा आई। इसमे गृहो या परिवार के स्वामियो अर्थात् गृहपतियो का एक स्थान पर आह्वान किया जाता था। सम्भवत यह "ग्राम सगठन" का सूचक है। आहवनीय के नेता को वेदो मे 'ग्रामणी" कहा गया है। आहवनीय या ग्राम से उत्क्रान्ति होकर "दक्षिणाग्नि" दशा आई। यह ग्राम की अपेक्षा अधिक बडा सगठन था। निरुक्त मे अग्नि का अर्थ अग्रणी दिया गया है। जिस सगठन मे चतुर अग्रणी एकत्र हो उसी को दक्षिणाग्नि कहा गया है। इस दक्षिणाग्नि दशा मे सभा और समिति सस्थाओ का निर्माण हुआ। इस प्रकार अथर्ववेद के अनुसार राज्य सस्था क्रमिक विकास का परिणाम है। यह सिद्धान्त वर्तमान समय के राजनीतिशास्त्र विशारदो के सिद्धान्त से अनेक अशो मे समता रखता है।

प्राचीन आर्य प्रारम्भ मे जनो मे सगठित थे और प्रत्येक जन का सबसे ज्येष्ठ अथवा शक्तिशाली पुरुष नेता होता था। वही युद्ध मे अपने जन का नेतृत्व करता था। अत प्रारम्भिक राज्यो के निर्माण मे शक्ति और युद्ध का अवश्य ही महत्वपूर्ण भाग रहा होगा। ' जब आर्य जन या कबीले निश्चित भू-भाग पर रहने लगे तो उन्हे उस भूमि से अवश्य ही प्रेम उत्पन्न हुआ होगा उस प्रेम के साथ उनमे आदिवासियो के प्रति घृणा और अपने वर्ण या रग व विजित प्रदेश के रक्षण के लिए गहरी चिन्ता उत्पन्न हुई होगी। इस प्रकार आर्यों के मन मे उसी भूमि के प्रति जहाँ के वे निवासी थे एक सुदृढ भावना पैदा हुई होगी क्योंकि उस भूमि से वह हटना नहीं चाह सकते थे। इस भावना ने जिसे प्रतिरक्षा व आक्रमण की आवश्यकता ने अधिक सुदृढ बनाया होगा प्रारम्भिक राजनीतिक चेतना का रूप धारण किया होगा और इस प्रक्र प्रथम राज्य जिसे वदिक आर्यों ने राष्ट्र कहा उत्पन्न हुआ होगा" (डॉ सिन्हा)। ऐतिहासिक दृष्टि से भी इस विकासवादी सिद्धान्त को सिद्ध करने मे कोई कठिनाई नहीं है।

राज्य का सप्ताग सिद्धान्त—राजशास्त्र के प्राचीन भारतीय आचार्यों का मत है कि राज्य के सात अग या प्रकृतियाँ होती है जिनके सयोग से राज्य का निर्माण होता है। महाभारत में राज्य के ये सात अग (1) आत्मा (राजा) (2) अमात्य (3) कोष (4) दण्ड (5) मित्र (6) जनपद और (7) पुर बतलाए गए हैं। धर्मशास्त्रो मे भी राज्य का

स्वरूप यही माना गया है । उनके द्वारा वर्णित राज्य की 7 प्रकृतियाँ-(1) स्वामी (2) अमात्य, (3) पुर, (4) राष्ट्र, (5) कोष, (6) दण्ड और (7) सुहृद हैं-

"स्वाम्यमात्यौ पुर राष्ट्र कोषदण्डौ सुहृत्तथा ।
सप्त प्रकृतयो ह्येता सप्ताग राज्यमुच्यते ॥" (मनु)

कौटिल्य, शुक्रनीति, कामन्दक आदि ने भी ऐसे ही विचार अभिव्यक्त किये हैं और इन अगो की उत्तमता एव विशुद्धता पर ही राज्य की उत्तमता मानी है । उनका मत है कि राज्य के इन अगो मे यदि एक अग भी विकारग्रस्त हो गया, तो सम्पूर्ण राज्य ही विकारग्रस्त हो जायेगा । अत राजशास्त्र साहित्य मे इन अगो को इनके स्वाभाविक रूप मे बनाये रखने के लिए अनेक उपायो व साधनो की व्यवस्था की गई है ।

राज्य के सप्ताग स्वरूप की कल्पना वैदिक युग की देन नहीं है । यद्यपि यजुर्वेद में एक स्थान पर राज्य की कल्पना पुरुष रूप में करते हुए उसके अग-प्रत्यगा का वर्णन राज्य के कतिपय अगो के रूप में किया गया है-"मेरी (विराट् पुरुष की) पीठ भू-भाग (राष्ट्र) है । मेरा उदर, मेरी ग्रीवा, मेरी कटि और मेरी जघा, घुटने, गट्टे यह सब मेरी प्रजा (विश्) हैं । मेरा सिर कोश (श्री) है, मेरा मुख, मेरे केश और मेरी दाढी मूँछ, मेरी दीप्ति अथवा प्रताप हैं । मेरा अमर प्राण राजा है ।" इससे सिद्ध होता है कि यजुर्वेद मे राज्य के "आवयविक स्वरूप" की कल्पना की गई है । स्मृतियो में राजा की दैवी उत्पत्ति के साथ ही साथ राज्य के सावयव स्वरूप का भी सिद्धान्त प्राप्त होता है । यह "कार्य विशिष्टता" के सिद्धान्त पर आधारित है । इसके अनुसार जो अग जिस कार्य को करता है, वह उसमें विशिष्ट समझा जाता है और कोई अग उस कार्य को करने में अशक्त रहता है । इसी कारण अपने स्थान पर सबका समान महत्त्व है, परन्तु सामूहिक दृष्टि से नही । ये सभी "अन्योन्याश्रित" हैं । महाभारत के अनुसार राज्य की स्थिति तथा उसकी समृद्धि इसी सिद्धान्त पर आधारित थी । कौटिल्य ने राज्य को उपयोगी, अनिवार्य, सावयविक एव सर्वश्रेष्ठ सस्था मानते हुए यह प्रतिपादित किया है कि राज्य ही मात्र एक ऐसा सगठन है, जिसके द्वारा मानव जीवन सम्भव, निश्चित तथा उद्देश्यपूर्ण बनता है । उसके अनुसार राज्य की अनुपस्थिति का अर्थ "मत्स्य-न्याय" है, जिसके अन्तर्गत जीवन सम्भव नहीं हो सकता ।

सप्तागो का वर्णन व महत्त्व–

(1) राजा– बलवान् द्वारा निर्बलो पर अत्याचार किये जाने के कारण जनता ने वैवस्वत् मनु से कहा कि "हम तुम्हे अपना राजा नियुक्त करते है । हम तुम्हे धान्य का छठा भाग और व्यापार पदार्थों का दसवाँ भाग कर के रूप में देने का वचन देते ह । तुम हमारी रक्षा करो ।" ऐसा राजा राज्य का प्रथम अग है । उसमें ये गुण होने चाहिए-(1) उच्चकुल-शील (2) धर्मनिष्ठ, (3) सत्यवादी, (4) कृतज्ञ, (5) बलवान्, (6) उत्साही, (7) दृढप्रतिज्ञ, (8) विनयशील (9) विवेकी, (10) स्पष्ट विचारयुक्त, (11) तर्क-वितर्क मे प्रवीण, (12) तत्त्वज्ञाता, (13) न्यायशील, (14) मृदुभाषी, (15) हँसमुख, (16) कार्य निपुण, (17) स्पष्ट वक्ता, (18) शास्त्र एव शस्त्र में प्रवीण, (19) निश्चयी, (20) पापाचार के प्रति असहिष्णु (21) सन्धि विग्रह के सम्यक् ज्ञान वाला,

(22) प्रजा के पोषण मे समर्थ, (23) शत्रु की दुर्बलताओ को समझने वाला और (24) राज्यकोष मे वृद्धि करने वाला ।

मनु के अनुसार **"राजा कालस्य कारणम्"** अर्थात् राजा काल का भी कारण होता है । राजा यदि राजधर्म का भली-भाँति पालन करेगा, सबको स्वधर्म (कर्त्तव्यो) मे स्थित रखेगा, तो वह स्वय काल का भी निर्माण कर सकेगा । जब राजा पूर्ण रूप से दण्डनीति का प्रयोग करता है, तभी कृतयुग या सत्ययुग होता है । उस समय अधर्म का सर्वथा अभाव होता है और सब कोई अपने-अपने धर्म का पालन करते हैं-

"दण्डनीत्या यदा राजा सम्यक् कार्त्स्न्येन वर्तते ।

तदा कृतयुग नाम काल श्रेष्ठ प्रवर्तते ।।" (महाभारत)

ऐसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति के लिए आदर्श और गुणसम्पन्न होना भी परम आवश्यक है । राजा जितेन्द्रिय रहे, क्योकि वही प्रजा को वश मे रखने मे समर्थ हो सकता है । "दस व्यसन ऐसे हैं जो कामवासना से उत्पन्न होते हैं और आठ व्यसनो की उत्पत्ति क्रोध के कारण होती है । राजा को चाहिए कि वह इन व्यसनो से प्रयत्नपूर्वक बचे । जो राजा कामवासना द्वारा उत्पन्न व्यसनो मे फँस जाता है, उसका धर्म और काम से सयोग नहीं रह पाता । क्रोध द्वारा उत्पन्न व्यसनो मे फँस कर राजा अपने आप को ही भूल जाता है" (मनु) । राजा को मर्यादा मे रखने के लिए उसका व्यक्तिगत रूप से उच्च चरित्र का होना भी आवश्यक था । उसकी स्वेच्छाचारिता पर ऐसे अकुश अपेक्षित थे जो उसे नियन्त्रण मे रख सके । इस हेतु नीतिग्रन्थो में निर्देश भी थे । राजा और उसके परिवार के व्यक्ति राजकीय आमदनी का मनमाने तरीके से व्यय नही कर सकते थे । अन्य राज-पदाधिकारियो के समान उनका वेतन भी निश्चित था ।

राजा के कर्त्तव्य भी सुनिश्चित थे । वह मन्त्री, पुरोहित आदि विविध राजकर्मचारियो की सहायता से शासन-कार्य का सचालन करता था । उनकी नियुक्ति उसी के अधीन थी । उनमे अपने-अपने कार्यों के लिए उत्साह सम्पन्न करना और जो कोई अपने कर्त्तव्यों में शिथिल हो, उसे शिथिल होने से रोकना राजा का ही कार्य माना जाता था । राजा महत्त्वपूर्ण कार्य करता था, पर तो भी राज्य मे उसकी स्थिति "ध्वजमात्र" ही मानी जाती थी, क्योकि राज्य शक्ति का प्रयोग उसी में निहित था जिसे वह मन्त्री आदि अमात्यो के सहयोग से प्रयुक्त करता था । वह राजधर्म या दण्डशक्ति का प्रणेता नहीं था अपितु इनके अधीन रहते हुए भी अपने कर्त्तव्यों का सम्पादन करता था । इसीलिए **विशाखदत्त** ने अपने मुद्राराक्षस नाटक मे चन्द्रगुप्त मौर्य को "सचिवायत्त सिद्धि" अर्थात् मन्त्री के अधीन सफलता वाला कहा है । यह भी प्रावधान था कि "यदि राजा दण्ड शक्ति का दुरुपयोग करे, तो गृहस्थों की तो बात ही क्या, वानप्रस्थ और परिव्राजक तक कुपित होकर उसके विरुद्ध उठ खडे हो सकते थे" (कौटिल्य) और ऐसे प्रतिज्ञादुर्बल राजा को राज्यच्युत कर दिया जाता था ।

उस समय राज्य के शासन के सम्बन्ध मे प्रजा की सम्मति का इतना अधिक महत्त्व था कि यदि प्रजा की सम्मति विरुद्ध हो तो धर्मानुकूल कार्य को भी राजा न करे, ऐसा आचार्य बृहस्पति का मत है-

"धर्ममपि लोकविक्रुष्ट न कुर्यात् ।" (बृहस्पति सूत्र)

महाभारत में कहा गया है कि राजा अपने गुप्तचरो द्वारा यह पता लगाता रहे कि जनता उसके वृत्त अर्थात् कार्यों की प्रशंसा करती है या नहीं। विश्वस्त गुप्तचर राज्य मे सर्वत्र यह जानते रहे कि बीते हुए दिनो मे राजा द्वारा किये गये कार्यों की प्रशंसा हो रही है या नहीं और जनता मे राजा के यश की क्या स्थिति है ? गुप्तचरों द्वारा लोकमत का परिज्ञान करते रहने की आवश्यकता राजा के लिए इसी कारण थी क्योंकि वह जनता की भावनाओ की उपेक्षा नहीं कर सकता था। अनेक ब्राह्मण राजा की परिषद् मे उपस्थित होते थे और निर्भय होकर उसे वास्तविकता का बोध कराते रहते थे। जनता पर उनका बहुत अधिक प्रभाव होता था। सिकन्दर ने जब भारत पर आक्रमण किया तो ऐसे अनेक ब्राह्मणो से उसकी भेंट हुई थी। ये सिकन्दर के विरुद्ध भारतीयो को उभाड रहे थे। ऐसे एक ब्राह्मण से सिकन्दर ने पूछा-"तुम मेरे विरुद्ध क्यो राजा को भडकाते हो ?" ब्राह्मण ने उत्तर दिया-"मैं चाहता हूँ कि यदि वह जिए तो सम्मानपूर्वक जिए अन्यथा सम्मानपूर्वक मर जाए।" सर्वोच्च स्थिति पर रहते हुए भी राजा पर अनेक प्रतिबन्धो का लगाया जाना तथा सयमो द्वारा उसके व्यक्तित्व पर नियन्त्रण रखना तत्कालीन भारतीय राजशास्त्र की प्रमुख एव महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी।

(2) अमात्य–प्राचीन काल मे राज्य के मुख्य पदाधिकारियो और राजकर्मचारियों को ' अमात्य ' कहा जाता था। वे भी राज्य सस्था के महत्त्वपूर्ण अग होते थे। अत भली-भाँति परखने के बाद ही किसी व्यक्ति को इस पद पर नियुक्त करना उपयुक्त समझ जाता था। सद्मन्त्रणा तथा अमात्यो की उपयोगिता का उल्लेख करते हुए कौटिल्य ने राज्य के कार्यों की सफल सिद्धि के लिए अमात्यो की नियुक्ति पर विशेष बल दिया है। (1) विद्या (2) बुद्धि (3) विवेक (4) नीति निपुण (5) साहसा, (6) राष्ट्रसेवी (7) स्वामिभक्त (8) कर्त्तव्यनिष्ठ (9) स्वार्थरहित व्यक्ति ही अमात्य के पद का सुशोभित करने योग्य हो सकते है। राज्य के सब कार्यों के मूल अमात्य ही होते हैं क्योंकि (1) जनपद की कर्मसिद्धि (2) अपना और दूसरो का योगक्षेम साधन (3) विपत्तियों का प्रतीकार (4) खाली हुई भूमि को बसाना और उसकी उन्नति करना (5) सेना का सगठन (6) करो को एकत्र करना, और (7) अनुग्रह प्रदर्शित करना आदि राजकार्य उन्हीं द्वारा सम्पन्न होते थे। भारद्वाज सदृश कतिपय आचार्य अमात्यो को राजा की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण मानते थे, पर कौटिल्य उन्हे राजा से अधिक महत्त्व का तो नहीं समझते, यद्यपि अन्य सब प्रकृतियो की तुलना मे उनकी दृष्टि से अमात्यो का महत्त्व अधिक था।

इनकी नियुक्ति के सम्बन्ध मे भी विविध मत हैं। "अपने सहपाठियो को ही अमात्य बनाना चाहिए क्योंकि राजा उन पर विश्वास कर सकता है" (भारद्वाज)। "साथ खेलते रह चुकने के कारण वे राजा का समुचित सम्मान नहीं करते। अत राजा ऐसे व्यक्तियो को अमात्य नियत करे, जिनका शील और व्यसन राजा के समान हो और जिनके गुप्त रहस्यो को राजा जानता हो" (विशालाक्ष)। "राजा ऐसे पुरुषो का अमात्य बनाए, जिन्होंने आपत्ति के समय जान पर खेल कर भी राजा की रक्षा की हो और जिनका राजा के प्रति अनुराग हो" (पाराशर)। "ऐसे व्यक्ति राजा के भक्त तो हो सकते है पर यह आवश्यक नहीं कि उनमे बुद्धि का गुण भी विद्यमान हो। जिनके गुण स्पष्ट रूप से विदित हों, उन्हीं को अमात्य बनाना चाहिए" (पिशुन)। "ऐसे व्यक्ति को अमात्य नियत किया

जाना चाहिए जिनके कुल मे पितृ पैतामह के काल से ये पद चले आ रहे हो। (**कौणपदन्त**)। वशक्रमानुगत रूप से चले आ रहे अमात्य स्वय स्वामी के समान व्यवहार करने लगते है अत ऐसे नये व्यक्तियो को अमात्य बनाना चाहिए जो कि नीति के ज्ञाता हो (**वातव्याधि**)। इन सब का निष्कर्ष यह है कि कार्य देश और काल को दृष्टि मे रखते हुए ऐसे व्यक्तियो को अमात्य नियत किया जाए जो कि कार्य को सम्पन्न करने का साहस रखते हो और उनमे कार्य सामर्थ्य के अनुसार पद बाँट दिए जाए

दण्डशक्ति का प्रयोग उन्हीं द्वारा किए जाने मे राज्य सस्था के लिए अमात्यो का बहुत महत्त्व है। *अमात्य ऐसे हो जो शुचि प्राज्ञ और सुपरीक्षित हो* (**मनु**)। शुक्र ने अमात्यो के ये गुण माने हैं (1) वे ऊँचे कुल के हो (2) गुणी हो (3) शील से सम्पन्न हो (4) शूर हो (5) राजा के प्रति भक्ति रखते हो (6) प्रियभाषण करने वाले हो (7) हित बात को उपदिष्ट करने वाले हो (8) क्लेश सहने की क्षमता रखने वाले हो और (9) धर्म मे रत हो (10) यदि राजा कुमार्ग पर चलने लगे तो अपनी बुद्धि द्वारा उसे सन्मार्ग पर लाने की क्षमता भी उनमे होनी चाहिए (11) उनका आचरण पवित्र होना चाहिए साथ ही उनके लिए (12) ईर्ष्या द्वेष से रहित होना (13) काम क्रोध तथा लोभ से हीन होना तथा आलसी न होना भी आवश्यक है

(3) जनपद–राज्य का तीसरा अग जनपद है। इसका अर्थ राष्ट्र देश अथवा स्वजातीय राज्य है। अर्थशास्त्र मे प्रत्येक जनपद के लिए (1) जनसख्या (2) निश्चित और प्राकृतिक सीमाबद्ध भू क्षेत्र (3) राज्यसत्ता की स्थापना (4) सैन्यशक्ति तथा (5) आर्थिक अवस्था को आवश्यक अग बताया गया है। जनपद मे (6) सभी साधनो की उपलब्धि (7) शासनतन्त्र का सुचारु सचालन (8) प्रजा मे देशभक्ति तथा विधि के पालन की भावना राजदण्ड तथा राज्य के करो को सहन करने की क्षमता का भी उल्लेख किया गया है। विस्तार में जनपद की भूमि इतनी पर्याप्त होनी चाहिए कि (1) जनता का पालन हो सके (2) विपत्ति के समय शरण लेने वाले विदेशी लोग भी उससे अपना निर्वाह कर सके (3) उसमे शत्रुओ से रक्षा के साधन हो (4) खेत चरागाह जगल खाने जल और स्थल मार्ग सिंचाई के लिए नहरे तथा कुए आदि सब उसमे हो और (5) उसकी जलवायु भी उत्तम हो। प्रजा के गुणों मे (1) किसानो की कर्मशीलता (2) उच्च और अधम सब वर्णों के लोगो मे बुद्धि का होना तथा (3) राज्य सस्था के प्रति भक्ति का होना आवश्यक है। आचार्य विशालाक्ष का मत है कि (1) राजकाय कोष (2) सेना (3) कच्चा माल (4) विष्टि (बेगार) (5) सवारी के लिए पशु और अन्य सब वस्तुओं की उपलब्धि जनपद से ही होती है अत उसका महत्त्व अमात्यो की तुलना मे अधिक है

(4) पुर या दुर्ग–राज्य के स्वरूप के सात अगो मे पुर या दुर्ग भी एक है। इनका भी भारी महत्व था। (**कौटिल्य**) ने राज्य पर विशेष बल देते हुए युद्धोचित दुर्गों के निर्माण को आवश्यक बताया है। युद्ध छिडने आन्तरिक अशान्ति उत्पन्न होने तथा शत्रु से राज्य की रक्षा करने मे दुर्ग का विशेष महत्त्व है (**अर्थशास्त्र**)। यदि दुर्ग न हो तो कोष पर शत्रु सुगमता से अपना अधिकार कर लेगा। युद्ध के अवसर पर शत्रु की पराजय के लिए दुर्ग का ही आश्रय लेना होता है। वहीं से सैन्यशक्ति का प्रयोग भली भाति किया जा सकता है। राजकोष और सेना प्रधानतया दुर्ग मे ही स्थित होते हैं और आपत्ति के समय में जनपद के निवासी भी वहीं आश्रय प्राप्त करते है। जनपद के निवासियो की तुलना मे

पुर के निवासी अधिक शक्तिशाली भी होते हैं" (पाराशर)। पुर को किस प्रकार से बनाया जाए, और विविध दुर्गों का निर्माण किस ढग से किया जाए, इस विषय में भी विस्तृत उल्लेख मिलते हैं। जनपद की सीमाओ पर युद्ध के लिए उपयोगी दुर्ग और आवश्यकता की दृष्टि से नदी या द्वीप के बीच, ऊँचे टीले पर, रेगिस्तान या ऊसर भूमि में दुर्गों का निर्माण किया जाता था। महाभारत मे महीदुर्ग, गिरिदुर्ग, वनदुर्ग, जलदुर्ग आदि अनेक प्रकार के दुर्गों का विधान करके उनका राष्ट्र की रक्षा के लिए महत्त्व बताया गया है। शुक्रनीतिसार में विविध प्रकार के दुर्गों के अतिरिक्त पुर के सम्बन्ध में भी विस्तार के साथ लिखा गया है।

(5) कोष–राज्य की समस्त कार्य-विधियो के सुचारु सचालन के लिए कोष अति आवश्यक है। "राजा को अपने पूर्वजो द्वारा सग्रहीत कोष मे स्वय द्वारा धर्मानुसार अर्थ सग्रह करना चाहिए।" कोष को स्वर्ण, रजत, सोने की मुद्राओ, विविध रगों व भारी वजन के रत्नो से पूर्ण होना चाहिए और उसे इतना पर्याप्त होना चाहिए कि उससे निर्वाह हो सके। यह सुनिश्चित कर लेना उचित तथा आवश्यक ठहराया गया था कि बाह्य आक्रमण, दुर्भिक्ष एव अन्य दैवी आपत्तियो के समय पर, चाहे ये विपत्तियाँ आदि सुदीर्घ काल तक ही क्यों न चले, कोष में कमी न आए।

(6) सेना या बल–राज्य की सुरक्षा तथा विस्तार के लिए सैन्य-शक्ति का सगठन आवश्यक था। कौटिल्य ने सेना को 7 श्रेणियों का उल्लेख किया है, जिनका विवरण इस प्रकार है-

(1) मौलसेना-यह राजधानी की सुरक्षा के लिए होती थी।

(2) भृतसेना-इसमें किराये पर लडने वाले सैनिक होते थे।

(3) श्रेणीसेना-इसमें युद्धवीर जातियों के लोग भर्ती किये जाते थे।

(4) मित्रसेना-इसमें मित्रराष्ट्रों के सैनिक होते थे।

(5) अमित्रसेना-इसमें शत्रु राजा के सैनिकों की गणना की जाती थी।

(6) अटवीसेना-इसमें वन्य जातियों के सैनिक होते थे।

(7) औत्साहिक सेना-इसमें लूटमार करने वाले, हिंसक तथा दस्यु आदि होते थे।

सैनिको के व्यक्तिगत निर्वाह के साथ-साथ उनके परिवार के सदस्यो की यथोचित देखभाल को राज्य का उत्तरदायित्व बताया गया है। सैनिकों तथा सेना के गुणो के विषय में यह प्रतिपादित किया गया है कि-

(1) सैनिक ऐसा होना चाहिए, जिसका वशपरम्परा से सैनिक सेवा का ही पेशा हो।

(2) सेना स्थायी या नित्य होनी चाहिए।

(3) सेना अनुशासित होनी चाहिए।

(4) सैनिकों की पत्नियाँ और सन्तान उस वेतन से सन्तोष अनुभव करें, जो कि उन्हें दिया जाए।

(5) सैनिक चिरकाल तक घर से बाहर रहने को तैयार रहें ।

(6) उनमें कष्ट सहने की क्षमता हो ।

(7) उन्हे विविध प्रकार के युद्ध लडने को शिक्षा दी गयी हो ।

(8) वे सब प्रकार के अस्त्रशस्त्र के प्रयोग मे विशारद हो ।

(9) उनमें यह भावना हो कि वे "साथ जियेंगे साथ मरेंगे ।"

महाभारत के एक सन्दर्भ मे नारद ने युधिष्ठिर से प्रश्न किया है-

"क्वचिद् बलस्य भक्तश्च वेतन च यथोचितम् ।
सम्प्राप्तकाले दातव्य ददासि न विकर्मसि ॥" (सभापर्व)

अर्थात् क्या तुम अपने सैनिको को उनका भत्ता, वेतन व भोजन का अश समय पर देते हो ? यह आवश्यक है कि सैनिको को ठीक समय पर वेतन दे दिया जाए । मेरा *विचार है कि तुम ऐसा ही करते हो और इस सम्बन्ध मे कभी अकार्य कम नहीं करते ।*

(7) मित्र–राज्य सस्था के लिए यह भी आवश्यक है कि कतिपय अन्य राज्यो से मित्रता का सम्बन्ध भी स्थापित किया जाए । विपदा, अशान्ति तथा आवश्यकता की घड़ी मे सर्वाधिक सहायता मित्रवर्ग द्वारा ही प्राप्त होती है । मित्रराज्य ऐसा होना चाहिए-(1) जिसके साथ पितृपैतामह आदि के समय मे मैत्री सम्बन्ध चला आ रहा हो (2) जो स्थायी हो (3) जिसमे नियन्त्रण की सत्ता हो (4) जिसे अपने विरुद्ध न किया जा सके और (5) जो शीघ्रता के साथ बडे पैमाने पर युद्ध को तैयारी कर सकने में समर्थ हो ।

इस सप्ताग सिद्धान्त में 3 बाते प्रमुख हैं-

(1) राज्य 7 तत्त्वो से मिलकर बना है,

(2) राज्य शरीर के 7 अग या अवयव हैं, और

(3) राज्य के विभिन्न अवयवो के मध्य आगिक एकता है ।

पाश्चात्य विचारक राज्य के 4 प्रमुख अग बताते हैं-(1) जनसख्या (2) भू-भाग (3) सरकार, और (4) प्रभुता । सूक्ष्मरूप से विचार करने पर भारतीय सिद्धान्त मे ये चारो तत्त्व मिल जाते हैं ।

प्राचीन भारत मे राज्यो के प्रकार–प्राचीन भारत मे राज्य का सर्वाधिक प्रचलित प्रकार "राजतन्त्र" था, यद्यपि प्राचीन गणतन्त्रो का भी उल्लेख मिलता है । ऐतरेय ब्राह्मण में राज्य के प्रकारों का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है । इसमें कहा गया है–"समस्त जनता का कल्याण हो, साम्राज्य, भोज्य स्वराज्य वैराज्य, पारमेष्ठ्य राज्य, महाराज्य आधिपत्यमन्य सामन्त पर्यायी राज्य शासन के विभिन्न प्रकार हैं । सार्वभौम सम्राट् पूर्ण आयु तक जीवित रहे, समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का एक राजा हो ।" इससे विभिन्न प्रकार के राज्यो के अस्तित्व के विषय मे ज्ञान प्राप्त होता है । प्राचीन भारत में बहुत समय तक "जनराज्यों" का ही प्रचलन रहा । उत्तर वैदिक काल मे प्रादेशिक राज्य की भावना का विकास होने लगता है । तैत्तिरीय सहिता मे ऐसे अनुष्ठान का वर्णन है जिससे "राजा अपने 'विश्' पर प्रभुता पा सकता है, पर 'राष्ट्र' या देश पर नहीं ।" वैदिककाल में "नृपतन्त्र" ही

प्रचलित था। राजा, महाराजा और सम्राट् आदि उपाधियाँ राजाओं के पद, गौरव और शक्ति के अनुसार दी जाती थीं। वेदोत्तर युग में एक सम्राट के सामन्त के रूप में छोटे-बडे अनेक राजाओ का उल्लेख मिलता है। वैदिक काल के अधिकाश राज्य छोटे ही होते थे। उस समय भारत मे "नगर राज्य" भी थे, जिनका आधिपत्य राजधानी तथा समीपवर्ती प्रदेश पर ही रहता था। उस काल मे राज्यसघ तथा सम्मिलित राज्य भी थे। उत्तर वैदिक काल मे कुरु पाचालो ने मिल कर एक शासक के अधीन अपना सम्मिलित राज्य स्थापित किया था। बुद्ध और महावीर के जीवनकाल मे लिच्छवियो ने एक बार मल्लो के साथ और थोडे ही समय बाद दूसरी बार विदेहों के साथ सघ बनाया था।

(1) गणराज्य–इस वर्ग के राज्यो मे राज्यसत्ता का प्रयोग किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं किया जाता था। गणराज्यो मे सत्ता का उपभोग जनप्रतिनिधि करते थे। "गण" का अर्थ "समूह" होता है। अत इसका अर्थ हुआ समूह के द्वारा संचालित राज्य अथवा बहुत से लोगों द्वारा सचालित शासन। गणराज्य को बाद में प्रजातान्त्रिक राज्य के लिए भी प्रयुक्त किया जाने लगा। जातको के अनुसार "गण का सगठन कृत्रिम होता था।" अवदान शतक के अनुसार "गणराज्य किसी एक राजा के राज्य का विलोम था।" गणराज्यो के लिए प्राय "सघ" शब्द का भी प्रयोग किया जाता था। ऐसा लगता है कि कई गणराज्यो को मिलाकर सघ का निर्माण भी किया जाता था। मूल रूप में सघ शासन भी प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तो पर ही आधारित था।

(2) कुल राज्य–इसका अभिप्राय वशानुक्रमिक राज्य से था।

(3) भोज राज्य–भोज्य नामक जाति के नेताआ तथा शासको के कारण इसका नाम रखा गया था।

(4) स्वराज्य राज्य–इसमें लोग अपने मध्य से किसी व्यक्ति को "स्वराष्ट्र" (शासक या सभापति) चुनते थे, जो शासन कार्य का सचालन करता था।

(5) वैराज्य राज्य–यह शासन प्रणाली दक्षिण भारत में थी। वैराज्य प्रजा के चित्त के अनुकूल चलता हुआ सबके भोगने योग्य राज्य होता है। इस लोकसत्तात्मक राज्य मे राज्यसत्ता का उपभोग व्यक्ति विशेष या व्यक्ति समूह न करके सारे निवासी करते थे।

(6) राष्ट्रीय राज्य–इसमे शासन कार्य नेताओ के एक मण्डल द्वारा सचालित किया जाता था।

(7) द्वैराज्य राज्य–इसमें शासन दो उत्तराधिकारियों द्वारा सयुक्त रूप से किया जाता था।

(8) अराजक राज्य–इसका आदर्श यह था कि केवल विधि और धर्मशास्त्र को ही शासक मानना चाहिए और किसी व्यक्ति को नहीं। इस सिद्धान्त पर शासित होने वाले राज्य बहुत ही छोटे-छोटे रहे होगे।

(9) उग्र और राजन्य राज्य–इसमें राजमुकुट धारण करने से पूर्व शासको का राज्याभिषेक अनिवार्य था। इस वर्ग के राज्यो मे पुरोहितो का बडा महत्त्व होता था।

(10) साम्राज्य–इसके शासक सम्राट् के अधीन कई राज्य होते थे। इसमें राजा अश्वमेध यज्ञ करता था।

(11) नगर राज्य–इनका शासन राजधानी तथा पडोस के क्षेत्र पर ही था।

(12) सघ राज्य–इन सम्मिलित राज्यो का सघ प्राय अल्पकालीन ही हुआ करता था।

राज्य के उद्देश्य तथा कार्य–राज्य का उद्देश्य वर्णाश्रम धर्म का पालन कराना था। राज्य के प्रधान कार्य (1) जनता की रक्षा (2) शान्ति और व्यवस्था (3) प्रचलित नियमो या कानूनो का पालन (4) न्याय (5) वर्णाश्रम धर्म का पालन (6) सुख और समृद्धि की वृद्धि (7) व्यक्ति के पूर्ण विकास में सहायता (8) अनेक प्रकार के आर्थिक कार्य (9) युद्ध तथा (10) शान्ति स्थापन आदि थे।

कल्याणकारी राज्य का स्वरूप–प्राचीन भारतीय कल्याणकारी राज्य की प्रमुख विशेषताए इस प्रकार थीं

(1) विधि की सर्वोच्च सत्ता

(2) मानव प्रवृत्ति पर विशेष बल

(3) दण्ड शक्ति का सन्तुलित प्रयोग

(4) स्वधर्म का सिद्धान्त

(5) राज्य एक सजीव *सस्था*

(6) प्रजा का सर्वांगीण विकास तथा

(7) धर्म, *अर्थ* और काम का सवर्धन।

राजतन्त्र–भारत मे राजतन्त्र ही व्यवस्थित शासन का प्राचीनतम रूप तथा सर्वाधिक प्रचलित शासन था। इसमे राजा का पद सर्वाधिक सम्मानित और प्रमुख था जो प्रजा का रक्षक व पोषक था। राजा दिव्य गुणो से युक्त होता था तथा जिसका यश अपने प्रभाव के कारण दूसरो को अपनी ओर आकर्षित करता था। राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे जो सिद्धान्त प्रचलित थे वे ही राजा की उत्पत्ति के विषय में भी प्रचलित थे। दैवी उत्पत्ति के अन्तर्गत राजा को इन्द्र वरुण, विष्णु का अवतार माना गया है। इसे ' परमदेव'' माना गया था। यहाँ के राजत्व की विशेषताओ को इन तीन बिन्दुओ मे बाँटा जा सकता है-(1) राज्य राजा के पास प्रजा की धरोहर था, (2) राजतन्त्र में धर्म या कानून का स्थान सबसे बढकर और उच्च था तथा (3) नैतिकता के सिद्धान्त को अधिक महत्त्व दिया जाता था।

राजा–राजा का पद अपनी निजी विशेषता के लिए विख्यात है। अन्य जातियो ने जिस रूप मे राजपद का स्वरूप निश्चित किया है और तदनुसार उसकी जो स्थापना की है उसमें और प्राचीन भारतीय राजपद के स्वरूप में विशेष अन्तर है।

राजा की नियुक्ति तथा अभिषेक–प्राचीन काल में राजा की नियुक्ति दो प्रकार *से होती थी-(1) वश परम्परा के अनुसार अथवा (2) निर्वाचन द्वारा। ऋग्वेद के दसवे* मण्डल मे प्राप्त राजा के निर्वाचन सम्बन्धी मन्त्रो से विदित होता है कि उस समय राजा का पद पूर्णत *लौकिक था। अनुस द्रुह्य क्रिवि कुरु, पुरु आदि* ऐसे *जनराज्य* थे, जिसमें प्रजा स्वय राजा को चुन लेती थी। राजा का निर्वाचन एक समिति द्वारा होता था। राजा को चुन

लिए जाने पर उसका राजतिलक होता था । इसके पूर्व उसे कुछ धार्मिक कृत्य करने पड़ते थे । सर्वप्रथम वह अग्नि में हवन करता था और राज्य के मन्त्रिया (रत्निन्) को रत्न या बहुमूल्य पदार्थ भेंट रूप में देता था, जो रत्निन् की अनुमति प्राप्त करने की तथा उनकी राजा के प्रति भक्ति की द्योतक थीं । इस अवसर पर राजा राज्य के विभिन्न प्रदेशों में अनुमति प्राप्त करने हेतु जाता था । तदनन्तर वह रुद्र तथा सोम देवता के लिए हवन करता था । वह जल छिड़क कर अन्य देवों की स्तुति करता था ।

राजा सिंहासनारूढ होने से पूर्व प्रजा की रक्षा के लिए तथा सबके अधिकारों की सुरक्षा के लिए प्रतिज्ञा करता था कि "यदि वह कुछ पाप करेगा, तो वह अपने सभी धार्मिक कृत्यों के पुण्य को, अपने स्थान को तथा अपने जीवन को त्याग देगा ।" फिर अग्नि, गृहपति इन्द्र, मित्र, वरुण, पूषा, स्वर्ग तथा पृथ्वी आदि को सम्बोधित करते हुए पुरोहित प्रजा के समक्ष राजा को घोषित करता था और राजा प्रजा को सिंहासन पर चढ़ने की आज्ञा देता था । तत्पश्चात् राजा प्रजा के प्रतिनिधियों से मिलने के पूर्व पृथ्वी की स्तुति कर उसके प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करता था । इस अवसर पर पुरोहित राजा को यह चेतावनी देता था कि राजा जनता की शक्ति प्राप्त कर ही शक्तिशाली बना है । वह अकेला नहीं है उसे प्रजा का भी ध्यान रखना है ।

राजा के कर्त्तव्य व प्रजा से सम्बन्ध–शुक्रनीति मे राजा के 8 प्रकार के कर्तव्यो का उल्लेख हुआ है-

> **"दुष्टनिग्रहण दान प्रजाया परिपालनम् ।**
> **यजन राजसूयादे कोशाना न्यायतो ऽर्जनम् ॥**
> **करदीकरण राज्ञा रिपूणा परिमर्दनम् ।**
> **भूमेरुपार्जन भूयो राजवृत्त तु चाष्टधा ॥"**

अर्थात् (1) दुष्ट को दण्ड देना, (2) दान देना, (3) प्रजा का पालन करना (4) राजसूय आदि यज्ञ करना, (5) न्यायानुसार कोष का वर्धन करना, (6) अन्य राजाओं को वश में करना, (7) शत्रु का परिमर्दन करना तथा (8) भूमि का सग्रह करना ।

राजा प्रजा का रजन करता था । राजा ही प्रजा की सुख, समृद्धि, शान्ति, विपत्ति तथा अशान्ति का कारण होता था ।"प्रजा के सुख से राजा सुखी होता है तथा दु ख से दु खी । ऐसा राजा इस लोक मे यश पाता है और परलोक में स्वर्ग ।" (विष्णु सहिता) । "प्रजा के हित में ही राजा का हित है" (कौटिल्य) । राजा का अपनी प्रजा मे वैसा ही हित है, जैसा कि पिता का अपनी सन्तान में । एक अन्य स्थान पर राजा को प्रजा का सेवक तथा उसके हितो का रखवाला कहा गया है । इससे स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में राजपद को थाती समझा जाता था और राजकोष राजा की निजी सम्पत्ति न थी, बल्कि जनता की धरोहर थी ।

मन्त्रिपरिषद्–प्राचीन भारत में मन्त्रिपरिषद् की उपयोगिता तथा महत्त्व को स्वीकार किया गया है । "राजाओं की विजय मन्त्रियों के परामर्श पर ही आश्रित होती थी" (महाभारत) । मन्त्रिपरिषद् परामर्श द्वारा राज्य के महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित करवाती थी । सचिव, अमात्य मन्त्री आदि एक ही अर्थ वाले शब्द हैं । मन्त्रियों की

नियुक्ति मे कुल गुण शील आदि का होना आवश्यक है । इनका "वयोवृद्ध" भी होना चाहिए । अयोग्य व्यक्ति मन्त्री नहीं बन सकता था । मनु के अनुसार मन्त्रियो की सख्या सात या आठ होनी चाहिए । छोटे आकार वाले राज्य में तीन व विशालकाय में 37 तक हो सकती है । राजा को मन्त्रियो से राज्य की विभिन्न विकट परिस्थितियो मे तथा सामान्य सन्धि-विग्रहादि राष्ट्र की रक्षा तथा सत्पात्र आदि का धन देने के कार्य मे नित्य परामर्श करना चाहिए । इस प्रकार से परामर्श करने मे ही राज्य की उन्नति सम्भव है । राजा इनके निर्णयो से बाध्य नहीं था । मन्त्रिया के कार्यक्षेत्र में शासन का पूरा क्षेत्र आ जाता था । उनके प्रमुख कार्य 7 थे

(1) नीति का निर्धारण करना

(2) नीति को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करना

(3) कठिनाइयो को दूर करना

(4) राज्य के आय-व्यय के सम्बन्ध मे नीति-निर्धारण और उनका निरीक्षण करना

(5) राजकुमारो की शिक्षादीक्षा का समुचित प्रबन्ध करना

(6) राज्याभिषेक मे भाग लेना और

(7) परराष्ट्र नीति पर विचार करना ।

मन्त्रियो को अलग-अलग विषय सौपे जाते थे । आचार्य शुक्र के अनुसार मन्त्रिपरिषद् मे 10 मन्त्री होने चाहिए

(1) **पुरोहित**–यह राजा का नैतिक सलाहकार होता था ।

(2) **प्रतिनिधि**–यह पद युवराज को ही मिलता था जो राज्यसत्ता का प्रतिनिधित्व करता था ।

(3) **प्रधान**–मन्त्रिपरिषद् का महत्त्वपूर्ण सदस्य प्रधानमन्त्री पूरी शासन व्यवस्था पर नजर रखता था ।

(4) **सचिव**–यह युद्धमन्त्री होता था जिसे सेनापति महाबलाधिकृत या महाप्रचण्ड दण्डनायक भी कहते थे ।

(5) **मन्त्री**–राजा इसकी सलाह से नीति निर्धारित करता था । राजा को कुशल मन्त्रणा देने वाला यह महासन्धिविग्राहिक भी कहलाता था ।

(6) **प्राड्विवाक**–यह प्रधान न्यायाधीश होता था ।

(7) **पण्डित**–इसका काम राज्य की धार्मिक नीति निर्धारित करना था ।

(8) **कोषाध्यक्ष**–इसे सुमन्त्र सग्रहीत समाहर्ता या भाण्डागारिक भी कहते थे ।

(9) **अमात्य**–यह राज्य के नगरो ग्रामो जगलो तथा उनसे होने वाली आय का विवरण रखता था ।

(10) **दूत**–यह राज्यो के मध्य पारस्परिक सम्बन्धो को बनाए रखने वाला राजदूत था जिसे सन्धिविग्राहिक भी कहते थे ।

सभा–प्राचीन भारत में प्रशासन तथा राजनीतिक व्यवस्था से सम्बन्धित कतिपय लोकप्रिय तथा जनप्रतिनिधित्व से युक्त संस्थाएं भी थीं। इनका अस्तित्व वैदिक काल से था। इनमें सभा का प्रमुख स्थान था। अथर्ववेद में सभा को प्रजापति की दुहिता (पुत्री) कहा गया है। वैदिक आर्यों की एक राजनीतिक संस्था थी, जिसमें सभा और समिति नामक दो सदन थे। कुछ "सभा को समिति की एक स्थायी उपसमिति" मानते हैं, तो अन्य "सभा का सम्बन्ध ग्राममात्र से" मानते हैं। सभा के सदस्य सभ्य व सभासद कहलाते थे। यह केन्द्रीय स्तर पर संचालित थी। सभा का शाब्दिक अर्थ "भासित" या "प्रकाशित" होना है। अतः वैदिक सभा का तात्पर्य महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के एकत्र होने का स्थान है। सभा की सदस्यता का अधिकार सामान्य पुरुषों को तब तक प्राप्त नहीं होता था जब तक कि उनमें इसकी सदस्यता के अनुरूप वाछनीय गुण एवं योग्यताएं विद्यमान न होती थीं। "न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा" अर्थात् "वह सभा नहीं है जहाँ वृद्ध न हों" से ज्ञात होता है कि उच्च यश के सज्जन तथा वृद्ध पुरुष सभा के सदस्य होते थे। सभा की सदस्यता के लिए लोग लालायित रहते थे, जिसके लिए लोकोपकारी कार्य कर यश की प्राप्ति कर लेना आवश्यक था। सभा के सदस्यों को मृदुभाषी, यथार्थवादी, न्यायपरायण वर्चस्वी व ज्ञानवान् होना चाहिए। यह जनतान्त्रिक संस्था थी, जिसमें प्रत्येक सदस्य को अपना मत एवं विचार-प्रकाशन की स्वतन्त्रता थी।

सभा का प्रधान कार्य विवादग्रस्त विषयों पर विचार करना एवं तदनुसार निर्णय करना था। यजुर्वेद के अनुसार "धर्म निर्णय अर्थात् न्याय की प्राप्ति हेतु सभा में गमन किया जाता था।" इसमें उस व्यक्ति को शरण मिलती थी जिसके जीवन, सम्पत्ति, स्वतन्त्रता, सम्मान अथवा प्रतिष्ठा पर आक्रमण होता था। यह एक प्रकार की न्यायालय थी। सभा मे इस ओर विशेष ध्यान दिया जाता था कि उसके द्वारा दिए गए निर्णय सर्वसम्मति से हों। अथर्ववेद के एक प्रसंग में बहुमत के आधार पर निर्णय प्राप्त करने के निमित्त प्रार्थना की गई है। सभा में प्रस्तुत विषय पर उसके प्रत्येक सदस्य को अपना मत स्वतन्त्रतापूर्वक व्यक्त करने का पूर्ण अधिकार था। कालान्तर में सभा का न्यायिक स्वरूप अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया। राजा और सभा के बीच भी घनिष्ठ सम्बन्ध था।

समिति–"समिति सभा की यमज भगिनी और प्रजापति की पुत्री है" (अथर्ववेद)। आदिकालीन वैदिक संस्थाओं में समिति भी थी क्योंकि इसका जन्म विराट् पुरुष से हुआ था। "जिस राष्ट्र में ब्रह्महत्या होती है, वहाँ मित्र और वरुण जलवृष्टि नहीं करते, समिति वहाँ कार्य नहीं करती और उस राष्ट्र के मित्र उसके वश में नहीं रहते।" समितिहीन राज्य मृतवत् समझा जाता था। वैदिक आर्यों द्वारा सार्वजनिक जीवन सम्बन्धी समस्याओं को परस्पर मिलजुल कर तथा विचारों के आदान-प्रदान द्वारा सुलझाने और सम्पूर्ण राज्य की जनता के कल्याण का चिन्तन कर तदनुसार साधनों को जुटाने में समिति का महान् सहयोग रहता था। इस दृष्टि से समिति एक उपयोगी संस्था थी, जिसके बिना राष्ट्रीय जीवन का सम्यक् विकास असम्भव था। "समिति" शब्द में सम् और इति का संयोग है, जिसका अर्थ एकत्र होना है। यह वैदिक आर्यों की सार्वजनिक संस्था थी, जिसमें समस्त प्रजा सार्वजनिक जीवन सम्बन्धी समस्याओं का समाधान मिल-जुल कर करती थी।

"सभा की सदस्यता का अधिकार केवल उन पुरुषो को प्राप्त था जो राज्य मे विशिष्ट समझे जाते थे परन्तु समिति की सदस्यता के लिए ऐसा कोई प्रतिबन्ध न था। इसलिए सगठन की दृष्टि से सभा की अपेक्षा समिति अधिक प्रजातन्त्रात्मक थी।" समिति के सदस्य को "सामित्य" कहते थे। इसका एक अध्यक्ष होता था। समिति द्वारा निर्धारित की गई नीति को "मन्त्र" कहा जाता था। यह सार्वजनिक समस्याओ पर गम्भीर विचार करती थी। वाद-विवाद एव विवेचना आदि के उपरान्त प्राप्त निर्णय को यथासम्भव कार्यान्वित किया जाता था। समिति के सदस्य प्रस्तुत सकल्प या प्रस्ताव पर अपना मत व्यक्त करते थे और वाद-विवाद मे बहुधा उग्ररूप भी धारण कर लिया करते थे। राज्य की आन्तरिक एव बाह्य नीति का निर्धारण किया जाना इसी सस्था के कार्यक्षेत्र के अधीन था। प्रजा समिति के रूप में अपने राजा का वरण करती थी। यह एक प्रभुतासम्पन्न सस्था थी जिसे निष्कासित राजा को पुन पदारूढ करने का भी अधिकार था।

विदथ–यह सभा और समिति से विशेष प्रकार की सस्था थी जिसका स्वरूप विद्या एव ज्ञान सम्बन्धी था। "विदथ" शब्द में विद् धातु है जिसका अर्थ सत्य की खोज करना है। ऋग्वेद के एक उल्लेख मे विदथ को क्रान्तदर्शियो की सस्था बताया गया है जिसमे विद्वान् ब्राह्मण एकत्र होते थे। अत यह विद्वत्परिषद् थी। इसमे महत्त्वपूर्ण विषयो पर विद्वत्तापूर्ण चिन्तन और तदनुसार निर्णय किया जाता था। इसका विशेष सम्बन्ध वैदिक यज्ञो से भी था क्योंकि अग्नि की ज्वाला को विदथ की पताका माना है। यह ब्रह्मज्ञान की खोज एव उसकी प्राप्ति का प्रमुख साधन समझी जाती थी। इससे स्पष्ट है कि विदथ के सदस्य विद्वान् ब्राह्मण होते थे। इसका अध्यक्ष प्रधान पुरोहित होता था जिसकी उपाधि "ब्राह्मणस्पति" होती थी।

राज्य की आय के साधन–प्राचीन भारत मे राजस्व सग्रह करने और उसके उपयोग की ओर बहुत ध्यान दिया जाता था क्योंकि वही सुव्यवस्थित प्रशासन का मेरुदण्ड होता था। कृषिकर राजस्व का सबसे महत्त्वपूर्ण स्रोत था। साधारणत भूमि कर उपज के छठे भाग के बराबर लिया जाता था जो नकद या अनाज की शक्ल मे दिया जा सकता था। किन्तु कर की इससे ऊँची दर 10 से 30 प्रतिशत तक के उदाहरण भी मिलते हैं। कर व्यवस्था मे इस बात पर जोर दिया जाता था कि यह न्यायसगत एव समता पर आधारित होनी चाहिए और राज्य तथा कर देने वाले दोनो को ही यह सन्तोष होना चाहिए कि कर न तो बहुत कम है और न बहुत असह्य। व्यापार तथा उद्योगो में कुल लाभ पर कर वसूल किया जाता था और यदि इसकी दर में कोई वृद्धि करनी होती थी तो वह बहुत धीरे-धीरे की जाती थी। किसी से भी बहुत जल्दी-जल्दी कई बार कर वसूल नहीं किया जाता था। यदि अतिरिक्त धन की आवश्यकता होती थी तो अतिरिक्त कर जनता की अनुमति से ही लगाया जा सकता था। कुछ श्रेणियो के लोग यथा विद्वान् और सैनिक कर्मचारी कर से मुक्त थे। अक्षम तथा जीर्ण लोगो मे भी कर नहीं लिया जाता था। प्राचीन भारत मे राज्य की आय के साधनो अथवा राज्यकरो को निम्नाकित रूप मे वर्गीकृत किया जा सकता है-

(1) भूमिकर।

(2) खानो पर कर।

(3) वाणिज्य एवं उद्योगों से प्राप्त कर।

(4) क्रय-विक्रय कर।

(5) उत्पादन कर।

(6) आयात तथा निर्यात कर।

(7) प्रत्यक्ष कर, जो मुख्य रूप से तौल या माप के उपकरणों, वसूलियों और कारीगरी आदि पर लगाया जाता था।

(8) राज्य द्वारा अधिकृत व्यवसाय नमक, मद्य, खनिज पदार्थ और जंगले' आदि को राज्य के अधीन रखा जाता था।

(9) अर्थदण्ड के रूप में आय।

(10) आपातकाल में अतिरिक्त कर।

षाड्गुण्य–राज्य की वैदेशिक नीति का सचालन करने के लिए षाड्गुण्य का महत्त्वपूर्ण स्थान था। इन्हीं के सिद्धान्तो पर विदेश नीति सुचारु रूप से चलती थी। इसके अन्तर्गत छ प्रकार के गुणों का समावेश किया जाता था जो इस प्रकार है-

(1) सन्धि–अन्य राष्ट्रों को मित्र बनाने के लिए आवश्यक थी, इससे शत्रु भी पराजित किया जाता था।

(2) विग्रह–इसका अर्थ "युद्ध करना" है जो अपने मित्र राष्ट्रो की सहायता से शत्रु से किया जाता था।

(3) यान–इसका शब्दार्थ "चढाई करना" है, जो युद्ध की घोषणा के पश्चात् शत्रु पर आक्रमण के रूप में होता था।

(4) आसन–इसका अर्थ "घेरा डालना" है जिससे शत्रु का सहज ही में नाश हो सके।

(5) समाश्रय–इसमे बलवान् का आश्रय लिया जाता था तथा उनसे मेल-मिलाप किया जाता था।

(6) द्वैधीभाव–फूट डालने को कहते हैं। इस प्रक्रिया को अपनाने से शत्रु सहज रूप में वश मे हो सकता है। महाभारत तथा मनुस्मृति में इसका विशेष विवरण भी प्राप्त होता है।

प्राचीन भारत मे न्याय-व्यवस्था

भारतीय धारणा के अनुसार न्याय का अधिष्ठात् देवता वरुण माना गया है। वह पापियो को दण्ड देता है। राजा में वरुण का निवास है, अत वह प्रजा में न्याय का वितरण करता है। उस समय यह मान्यता थी कि पापियो को दण्ड देना तथा सज्जनो की रक्षा करना राजा का धर्म है। प्राचीन समय में न्याय-व्यवस्था का जो स्वरूप था उसे युगानुसार हम इस प्रकार सक्षेप में प्रस्तुत कर सकते हैं-

(1) ऋग्वैदिक काल मे न्याय-व्यवस्था–प्राचीन भारत में ऋग्वेद काल में न्याय-व्यवस्था का स्वरूप क्या था तथा उस समय कौन-से कानून प्रचलित थे-इस सम्बन्ध

तथापि इस समय दण्ड की व्यवस्था तथा उसके न्यूनाधिक होने का निर्णय धर्मशास्त्रो पर निर्भर था। न्याय व्यवस्था के लिए इस समय भी धार्मिक तार्किक कर्त्तव्यनिष्ठ निष्पक्ष विद्वान् व्यक्तियों की धर्माधिकारी व्यक्ति के रूप मे नियुक्ति होता थी।

प्राचीन धर्मशास्त्रों और स्मृतियों में न्याय क लिए सभा का उल्लेख मिलता है। **मनुस्मृति** में लिखा है कि न्याय का विचार करने के लिए राजा शास्त्रो और मन्त्रो को जानने वाले ब्राह्मणो और मन्त्रियो के साथ सभा में प्रवेश करे। शुक्र के अनुसार न्याय सभा मे तीन पाँच या सात सदस्य होते थे। सदस्यो द्वारा बहुमत से निर्णय किया जाता था। सामान्यत न्याय सभा की अध्यक्षता राजा करता था किन्तु उसके अभाव मे विद्वान् ब्राह्मण को इस कार्य के लिए नियुक्त किया जाता था

यदा स्वय न कुर्यात् नृपति कार्यदर्शनम्।
तदा नियुञ्ज्याद् विद्वान्स ब्राह्मण कार्यदर्शने॥ (मनु 8/9)

धर्मशास्त्रो में अनेक प्रकार के विवादो का वर्णन किया गया है। मनु ने अठारह प्रकार के विवाद बतलाये है। मनुस्मृति में चार प्रकार के दण्डो का वर्णन किया गया है (1) अर्थ दण्ड (2) अग विच्छेद (3) कारागृह तथा (4) मृत्यु दण्ड। सूत्र एव स्मृतिकाल में हमे न्याय व्यवस्था का वैज्ञानिक विवेचन प्राप्त होता हे। अर्थशास्त्र में न्याय व्यवस्था का वैज्ञानिक दृष्टि से निरूपण किया गया है।

(v) बौद्धकालीन न्याय व्यवस्था—इस काल मे आते आते न्याय व्यवस्था एव दण्ड व्यवस्था मे और अधिक परिवर्तन हो गये थे। इस समय दण्ड अधिक कठोर हो गया था। छोटे छोटे अपराध के लिए भी अग भग आदि का दण्ड दिया जाने लगा था। इस समय न्याय बडा निष्पक्ष था।

(vi) मौर्यकालीन न्याय व्यवस्था—मौर्यकाल में दण्ड तथा न्याय का आधार ग्रन्थ **कौटिल्य** का **अर्थशास्त्र** बन गया था। इस काल की न्याय व्यवस्था का स्वरूप अधिक सुधरा हुआ प्रतीत होता है। इस समय ग्राम पचायता का अधिकारी ही न्यायाधीश होता था। बडे बडे नगरो मे भी कुछ न्यायालय होते थे। लगभग चार सौ गाँवो के न्यायालय द्रोण मुख कहलाते थे। इन सब से ऊपर स्थानीय अथवा जिले का न्यायालय था। इसके अतिरिक्त स्वय सम्राट का भी एक पृथक् न्यायालय होता था। बडे बडे अपराधो को साहस कहा जाता था और साहसपूर्ण कार्यों के लिए भिन्न भिन्न प्रकार के दण्ड विधान थे।

मौर्य काल मे न्याय व्यवस्था के चार आधार थे धर्म व्यवहार चरित्र एव राज शासन। उस समय सारे विवाद उक्त आधारो पर निर्णीत होते थे। **चाणक्य** का मत है कि यदि राजा किसी निरपराधी को दण्ड दे तो उससे तिगुना दण्ड उसे स्वय भुगतना होगा।

निष्कर्ष—सक्षेप में हम यह कह सकते है कि भारत मे न्याय व्यवस्था वेदकाल से ही प्रारम्भ हो गयी थी तथा वह कुछ परिवर्तनो के साथ उत्तरोत्तर विकसित होती रही। यद्यपि आज की न्याय व्यवस्था तथा दण्डनीति पर धर्मशास्त्रो का कोई हाथ नहीं है पर प्राचीन भारत की न्याय व्यवस्था पूर्णतया शास्त्रीय विधानो पर आधारित थी। वह निष्पक्ष एव विवेकाश्रित थी।

अध्याय 9
भारतीय संस्कृति का मानव-कल्याण में योगदान

भारतीय सस्कृति और मानवता

मनुस्मृति मे एक श्लोक आता है

"एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन ।
स्व स्व चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्या सर्वमानव ॥"

अर्थात् इस देश भारतवर्ष मे उत्पन्न होने वाले अग्रजन्मा ब्राह्मणों के पास से *पृथ्वी के सभी मनुष्यो ने अपने-अपने चरित्र की शिक्षा ग्रहण की है । मनु का यह कथन* बडा महत्त्वपूर्ण है । प्राचीन भारतीय सस्कृति इतनी उदार और विशाल है कि उसमे विश्व सस्कृति के सभी महत्त्वपूर्ण अश समाहित हैं । हमारे यहाँ का आदर्श वाक्य "वसुधैव कुटुम्बकम्" अर्थात् ' पृथ्वी ही परिवार" रहा है । फिर भला ऐसी सस्कृति मे अनुदार या सकुचित भावना का तो प्रवेश हो ही नहीं सकता है । इतिहास से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतीयो ने अपनी सस्कृति को भारत की भौगोलिक सीमा मे ही परिसीमित नहीं रखा *था, अपितु बाहर भी उसका प्रचार-प्रसार किया था । भारतीयो की धर्मप्रचार-वृत्ति तथा* वैदेशिक व्यापार के कारण इस सस्कृति का विश्वव्यापी प्रभाव सम्भव हुआ है । हमारी सस्कृति प्राचीन होते हुए भी नवीन है क्योकि यह ऐसे सिद्धान्तो पर आश्रित है जो पुराने होते हुए भी नये हैं जिस प्रकार सूर्य आदि प्राचीन होते हुए भी आज तक मानव जीवन के लिए हितकारी हैं अतएव नये कहे जा सकते हैं ठीक यही स्थिति भारतीय सस्कृति की भी है । इसके मूल मे वे सिद्धान्त हैं जिनसे किसी देशविशेष कालविशेष या जातिविशेष *का ही नहीं अपितु समस्त मानव जाति का कल्याण हो सकता है ।*

भारतीय ऋषि-मुनियो के सम्मुख यही वृहत् दृष्टिकोण उपस्थित था कि किसी प्रकार मानव समाज का कल्याण हो और मनुष्यमात्र सुखी हो । उस काल के आर्थिक, सामाजिक धार्मिक दार्शनिक आदि सिद्धान्तो को यदि इस कसौटी पर कसा जाए, तो वे निस्सन्देह खरे उतरेगे । ये ही सिद्धान्त इस सस्कृति के प्राण हैं और देश कालादि से अबाधित हैं ।

भारतीय सस्कृति की देन

विश्व सस्कृति भारतीय सस्कृति का ऋणी है । आज दानवता के भीषण प्रहार के कारण मानवता छिन्न-भिन्न हो रही है । मनुष्य-मनुष्य का शत्रु बन रहा है । स्वार्थपरता के कारण आज किसी का किसी मे विश्वास नहीं है । यदि आज ससार में मानवता को

रक्षा अभीष्ट है, तो भारतीय संस्कृति ही इसमें भरपूर सहायता कर सकती है। मानव कल्याण के लिए इसकी विश्व को ये देन हैं-

(1) पुनर्जन्म तथा आत्मतत्त्व के सिद्धान्त की स्थापना-आज समूचा विश्व स्वयं की सुरक्षा के लिए भयकर से भयकर हथियार बना रहा है। वह दूसरों को धमकी देकर स्वय बचना चाहता है। भौतिकवादी संस्कृति पर अवलम्बित होने के कारण वह अधिक से अधिक जीकर सुखोपभोग चाहता है और मृत्यु से डरता है। वह आत्मा को अमरता या पुनर्जन्म को न मानने के कारण बडा व्यथित रहता है। परन्तु जब उसे भारतीय सस्कृति में विद्यमान पुनर्जन्म के सिद्धान्त एव आत्मतत्त्व के विषय में ज्ञान होता है तो उसे बहुत कुछ आशा बँधती है। फिर उसे मृत्यु भयभीत नहीं करती अपितु उसे इसी में अमरता के दर्शन होते हैं। उसके जीवन से निराशा दूर हो जाती है। फिर वह चिर शान्ति का अनुभव करता हुआ अपना जीवन आनन्दपूर्वक व्यतीत करता है।

(2) वर्णाश्रम धर्म की सामाजिक व्यवस्था-वर्णव्यवस्था और आश्रमव्यवस्था के रूप मे भारत ने एक सुन्दर सामाजिक व्यवस्था का सिद्धान्त ढूँढा। इसका यदि आज भी सच्चाई से पालन किया जाए, तो मानवता भली प्रकार से जीवित रह सकती है। इन दोनो व्यवस्थाओ को ईमानदारी से अपना लेने पर मानव का दृष्टिकोण विशाल बन सकता है तथा उसके हृदय से घृणा के भाव सदा के लिए विलुप्त हो सकते हैं। यद्यपि आज हम वर्णव्यवस्था को समुचित नहीं मानते, परन्तु यदि किसी भी देश या समाज के निवासियों का परीक्षण करे, तो ज्ञात होता है कि "वर्णव्यवस्था" तो वहाँ भी विद्यमान है। आज भारत में ही चाहे ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य के वर्ग शिथिल हो चुके हो, परन्तु मजदूरी का वर्ग, किसानो का वर्ग छात्रो का वर्ग, एक जैसे उच्च पदाधिकारियो का वर्ग आदि के रूप में वे ही पुराने सिद्धान्त अपना कार्य कर रहे हैं। इस सन्दर्भ में अग्रेजी का एक मुहावरा सटीक बैठता है-"Old wine in new bottle" अर्थात् पुरानी शराब नई बोतल में है। सिद्धान्त वे ही हैं, केवल उनका रूप या आकार बदल गया है। इसी प्रकार यदि आज सभी देश के निवासी "आश्रम व्यवस्था" को अगीकार कर ले तो आज न पिता-पुत्र में कलह हो, न सास-बहू मे झगडा हो और न ही शासक और प्रजा के मध्य मनमुटाव हो। आज यदि आश्रम व्यवस्था के सिद्धान्त के अनुसार सभी प्राणी 50 वर्ष की व्यवस्था मे अपने पद या नौकरियाँ छोड कर वानप्रस्थ में दीक्षा ले ले, तो बेराजगारी की भीषण समस्या तत्काल ही हल हो जाए।

(3) गणित का अनुपम सिद्धान्त-भारत के प्राचीन विद्वानो ने गणित विद्या के परमावश्यक सिद्धान्त "सशून्य दशाश गणना विधि" को जन्म दे कर विश्व का बडा भारी उपकार किया है। इस गणना विधि को आज सम्पूर्ण विश्व ने अपना लिया है।

(4) आयुर्वेद के सिद्धान्त की स्थापना-प्राचीन भारत के आयुर्वेद के सिद्धान्तो को पाश्चात्य जगत् ने अपनाया। आयुर्वेद के कितने ही ग्रन्थ अरबी तथा अन्य प्राचीन भाषाओं में अनूदित किए गए।

(5) धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्त-हमारे यहाँ प्राचीन काल से ही धर्म का अत्यन्त उदार अर्थ रहा है। इससे "कर्त्तव्य" का बोध होता था। प्रारम्भ से ही भारतीयो की धारणा रही है कि "जो अच्छा है, वह हमारा है," जबकि विश्व की अन्य

सभ्यताओं और संस्कृतियों के उपासकों ने यह माना है कि "जो हमारा है, वह अच्छा है।" इस बाद वाले सिद्धान्त को अंगीकार करने से कट्टरता का तथा धर्मान्धता का समावेश हो जाता है और एक बार जब इसको अपना लिया जाता है, तो फिर प्रतिक्रियास्वरूप दूसरा पक्ष भी उत्तेजित होकर उसी के पदचिह्नों पर चलता है। प्रायः इस संकीर्णता के कारण रक्त की होली खेली जाती रही है। परन्तु भारतीय संस्कृति में ऐसा कभी नहीं हुआ। यहाँ पर मतवैभिन्न्य भी रहा, शास्त्रार्थ भी खूब हुए, परन्तु उदार दृष्टिकोण के कारण किसी भी प्राणी का गला नहीं घोटा गया। विभिन्न सम्प्रदायों के दार्शनिकों ने भी अपने प्रतिपक्षी दर्शन के सिद्धान्तों को सम्यक्तया हृदयंगम करने के बाद ही अपने ज्ञान को पूर्ण माना है। इस प्रकार की सहिष्णुता की भावना भारतीय संस्कृति में इतनी अद्भुत है कि इसे अपना लेने पर विश्व को आशातीत लाभ प्राप्त हो सकता है।

(6) भाषा का महत्त्व–इस दिशा में हमारी संस्कृत भाषा का भी उल्लेखनीय योगदान रहा है। जब पाश्चात्य विद्वानों ने इसका अध्ययन किया तो उन्हें अन्यान्य भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत भाषा में कई शब्दों का साम्य मिला। जब उन्होंने इसका तुलनात्मक अध्ययन किया तो संसार में एक नये विषय "भाषा विज्ञान" का जन्म हुआ। इसका बीसवीं सदी ईस्वी में बड़ा बोलबाला है। संस्कृत का अध्ययन करने के पश्चात् विद्वानों ने यह अनुमान लगाया कि हम सब के पूर्वज पहले एक ही स्थान पर रहते थे और वह भारोपीय जाति थी।

(7) व्यापारियों द्वारा संस्कृति प्रचार–प्राचीनकाल में भी स्थल और जल मार्ग से विश्व के अनेक देशों में व्यापार सम्पन्न होता था। एक ओर भारत के व्यापारी विदेशों में जाते थे तो दूसरी ओर वहाँ के व्यापारी लोग भी भारत आते थे। उनके साथ-साथ संस्कृति की भी यात्रा होती थी। आज भी विश्व की अनेक सभ्यताओं एवं संस्कृतियों में प्राप्त पुराकथाओं के अध्ययन से प्रतीत होता है कि वहाँ के कई प्रतीकों का मूल उद्गम भारत है। उदाहरणार्थ लोकप्रिय कथाओं का मूल स्थान भारत ही है। इन्होंने यहीं से भ्रमण करना प्रारम्भ किया और वे समस्त सभ्य देशों के साहित्य में व्याप्त हो गईं। पंचतन्त्र की कहानियाँ भारत व अरब निवासियों को समभाव से आनन्दित करती रही हैं।

(8) शतरंज का खेल–प्राचीन भारत में चतुरंगिणी सेना का महत्त्वपूर्ण स्थान था जिसमें क्रमशः हाथी, रथ, घोड़े और पैदल सैनिक होते थे। इन्हीं के आधार पर यहाँ एक खेल का विकास हुआ जिसे चतुरंग का खेल कहते थे। कालान्तर में यही शतरंज का सुप्रसिद्ध खेल बन गया और मध्यकालीन यूरोप में फैल कर अत्यन्त लोकप्रिय बन गया।

इस प्रकार भारत की सामासिक या मिली-जुली संस्कृति में मानो सभी कुछ समा जाता है क्योंकि इसके निर्माण में निषाद, द्रविड़, आर्य, शक, कुषाण, हूण, पठान, तुर्क, मंगोल, यूरोपीय जातियों आदि का योग रहा है। यह सच है कि भारत ने अपनी संस्कृति में देश-देश और जाति-जाति के विचार ग्रहण कर उनकी भावनाओं को अपनाया है, किन्तु इस संस्कृति का एक "अपनापन" इसमें सदैव रहा है। सरल और निश्छल आस्तिक भाव भारतीय संस्कृति का अपनापन है। इसी कारण इसके तुल्य विश्व की अन्य प्राचीन संस्कृतियों के विनष्ट हो जाने पर भी यह संस्कृति अतीत काल से लेकर अब तक अपनी प्रेरणा प्रदान करती आई है।

साहित्य के क्षेत्र मे योगदान

किसी भी साहित्य का विवेचन तीन दृष्टियों से किया जाता है- (1) भाषा (2) विषय और (3) भाव । भाषा के दो स्वरूप हैं-(1) गद्य और (2) पद्य । इनमें (1) पद रचना, (2) पदविन्यास, (3) छन्द (4) अलकार और (5) रस का समावेश रहता है । काव्य या साहित्य का यह मुख्य उद्देश्य होता है कि भाषा के उपर्युक्त अगा को सुन्दर बनाया जाये । इतिहास, दर्शन वैद्यक कला और विज्ञान ये विषय प्रधान होते हैं । इसी प्रकार धर्मग्रन्थो में भाव की प्रधानता रहती है, इनमे भाषा सौष्ठव और विषय के सयमन पर उतना बल नहीं दिया जाता है । वस्तुत ये गुण साहित्य के विभिन्न अगों मे मिश्रित रूप से दृष्टिगोचर होते हैं । साहित्य के क्षेत्र में भारतीय सस्कृति का योगदान इस प्रकार है

वैदिक साहित्य–विश्व का सबसे प्राचीन साहित्य वेद है । इनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद तथा अथर्ववेद ये सहिता ग्रन्थ हैं । ये अधिकाश पद्यात्मक हैं, जो प्रार्थनाओ एव विभिन्न देवताओ की स्तुतियो से परिपूर्ण हैं । प्रत्येक सहिता के अपने ब्राह्मण ग्रन्थ हैं । ये गद्यात्मक हैं । इनमे विधि या यज्ञोपयोगी नियम एव अर्थवाद अर्थात् वैदिक सूक्तो का आध्यात्मिक अर्थ वर्णित ह । ब्राह्मणो के अन्तिम भाग को ''आरण्यक'' कहा जाता है जो अरण्यवासियो या वानप्रस्थियो को लक्ष्य मे रख कर लिखे गए हैं । इस साहित्य का अन्तिम भाग ''उपनिषद्'' है, जो भारतीय दर्शन की आधारशिला है । इसमे सृष्टि और जीव की उत्पत्ति तथा ब्रह्म, जगत् व जीव के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन है । ये उपनिषदें जिनकी संख्या काफी है गद्य पद्य अथवा दोना मे लिखी गई है । इनके अतिरिक्त कुछ सूत्र या नियम ग्रन्थ भी हैं । इन श्रौत सूत्रों मे श्रुति प्रतिपादित सोम आदि यज्ञों का वर्णन है । गृह्यसूत्रो मे गृहस्थो, वनप्रस्थो व सन्यासियो के कर्त्तव्यो का विवरण है । इनसे स्मृतिग्रन्थो का अभ्युदय हुआ । ये पद्यात्मक हैं, जिनमें वर्ण व आश्रमो के कर्त्तव्यो का वर्णन किया गया है । इनके साथ ही वेद के छ अग भी हैं शिक्षा, कल्प, व्याकरण निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ।

लौकिक साहित्य–परवर्तीकाल के सस्कृत साहित्य में छन्दो की सख्या में वृद्धि हो गई । इनमे सर्वप्रथम ''वीरकाव्य'' का स्थान आता है, जो वीरो के गुणानुवाद मे रचे गए । इनका वैदिक यज्ञो के समय पाठ भी होता था । ये वैदिक और सस्कृत साहित्य के बीच मे सम्बन्ध भी स्थापित करते है । ये दो हैं (1) रामायण और (2) महाभारत । वाल्मीकि रचित रामायण सबसे प्रसिद्ध वीरकाव्य है, जिसमे राम का गुणानुवाद है । यह आदिकाव्य माना जाता है । इसमें सात काण्ड हैं । दूसरा वीर काव्य ''महाभारत'' है । इस विपुलकाय महाकाव्य मे 18 पर्व एव एक लाख श्लोक हैं । मूल रूप से इसमे पाण्डवो व कौरवो का युद्ध-वर्णन है एव युधिष्ठिर, अर्जुन श्रीकृष्ण आदि का गुणानुवाद है ।

सास्कृतिक इतिहास का स्रोत महाभारत–महाकवि वेदव्यास द्वारा बनाए गए महाभारत का भारतीय जीवन पर रामायण के समान ही गहन प्रभाव है । इनके आदर्श और शिक्षाए भारतीय समाज मे पूरी तरह से व्याप्त है । बाद वाले महाकवियो व नाटककारो द्वारा इनसे प्रेरणा ग्रहण करने के कारण इन दोनो को ''उपजीव्य काव्य'' कहा जाता है । ये महाकाव्य समस्त भारतीय समाज के लिए सन्दर्भ स्रोत का कार्य करते हैं । विश्वकोश के

तुल्य महाभारत को इतिहास भी कहते हैं। इस पचम वेद को जनसाधारण व विद्वान् श्रुति के समान ही प्रामाणिक मानते हैं। यही एक मात्र ग्रन्थ है जिसमे समस्त ज्ञान भरा है और 'जो इसमे नहीं है, वह कहीं नहीं है।" इस जातीय ग्रन्थ मे भारतीय सभ्यता और सस्कृति का जैसा भव्य रूप प्राप्त होता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इस ग्रन्थ का सास्कृतिक मूल्य भी कम नहीं है। *सच तो यह है कि "केवल इसी ग्रन्थ के अध्ययन से हम अपने सस्कृति के* शुद्ध स्वरूप का परिचय प्राप्त कर सकते हे। भगवद्गीता इसी का एक अश है। विष्णुसहस्रनाम भीष्मस्तवराज गजेन्द्रमोक्ष आदि भी इसी काव्य के रत्न हैं। विदुरनीति भी इसी का एक अग है। इसे पचम वेद की सज्ञा भी प्राप्त है। इस "शत साहस्री संहिता" का मूल नाम जय' था बाद मे 'भारत हुआ और अन्त मे 'महाभारत । शकुन्तला, मत्स्यावतार रामकथा राजा शिवि का उपाख्यान सावित्री चरित्र नल की कथा आदि इसी मे प्राप्त होती हैं।

वेदव्यास का अभिप्राय महाभारत लिख कर केवल युद्ध का वर्णन करना नहीं है अपितु इस भौतिक जीवन की निस्सारता दिखाकर प्राणियो को मोक्ष के लिए उत्सुक बनाना है। इस इतिहास मे हमारे आदरणीय वीरो की पुण्यगाथा है। यह वह धार्मिक ग्रन्थ है जिसमे प्रत्येक श्रेणी का मनुष्य अपने जीवन के सुधार की सामग्री प्राप्त कर सकता है। *राजनीति का तो यह सर्वस्व ही है। राजा और प्रजा के पृथक्-पृथक् कर्तव्यो तथा* अधिकारो का समुचित वर्णन इसकी महती विशेषता है। यह महाभारत अमित बुद्धि वाले वेदव्यास के द्वारा कहा गया एक साथ ही अर्थशास्त्र धर्मशास्त्र ओर कामशास्त्र है।

'अर्थशास्त्रमिद प्रोक्त धर्मशास्त्रमिद महत्।
कामशास्त्रमिद प्रोक्त व्यासेनामितबुद्धिना ॥ (आदि पर्व)

महाभारत सदा से धर्मशास्त्र के रूप मे ही गृहीत होता आया है ओर वस्तुत यह है भी धर्म का ही प्रतिपादक ग्रन्थ। वेदव्यास कर्मवादी आचार्य हैं। कर्म ही मनुष्य का श्रेष्ठ लक्षण हे। कर्म से पराङ्मुख मानव "मानव" की पदवी से सदा वचित रहता है। इस विशाल ब्रह्माण्ड मे मनुष्य ही सबमे श्रेष्ठ वस्तु है जिसके कल्याण के लिए पदार्थों की सृष्टि होती है तथा समाज की व्यवस्था की जाती है। आज के समाजशास्त्रियो का यह सिद्धान्त कि मनुष्य ही इस विश्व का केन्द्र हे व्यास के इस कथन पर आश्रित है

"परम ब्रह्म तदिद ब्रवीमि,
नहि मानुषात् श्रेष्ठतर हि किंचित् ॥" (शान्ति पर्व)

मानवता का उन्नायक तत्त्व पुरुषार्थ ही है। व्यास के शब्दो मे यह सिद्धान्त "पाणिवाद" के नाम से विख्यात है। जगत् मे जिन लोगो के पास "हाथ' हे अर्थात् जो कर्म मे दक्ष एव उत्साही हैं, उनके सब अर्थ सिद्ध होते हैं। ससार मे पाणिलाभ से बढकर कोई दूसरा लाभ नहीं है। मानव जीवन की कृतकार्यता हाथ रखने तथा हस्तसचालन मे ही तो है। हाथ रहते भी हाथ पर हाथ रख कर जीवन बिताना पशुत्व का व्यजक चिह्न है। इसमे मानव की सिद्धान्तता नहीं है। महाभारत मे अभिव्यजित राष्ट्र भावना बडी ही उदात्त विशुद्ध तथा ओजस्विनी है। राजा राष्ट्र का केन्द्र होता है। भारतीय राजा प्रजातन्त्रीय युग के अधिनायको के दुर्गुणो से सर्वथा मुक्त होता है एव स्वेच्छाचारी राजाओ के दोषो से भी

विहीन होता है । वह प्रजा का सर्वभावेन हितचिन्तक व मगलसाधक होता है । राजधर्म के बिगडने पर समाज तथा राष्ट्र का सर्वनाश हो जाता है ।

वेदव्यास अध्यात्म शास्त्र की सूक्ष्म बारीकियो में न पड कर हमे सुखद तथा नियमित जीवन बिताने की शिक्षा देने पर आग्रह करते हैं । मनुष्य इन्द्रियो का दास बनकर पशुभाव को प्राप्त करता है और इन्द्रियो का स्वामी होकर अपने जीवन को सफल बनाने में समर्थ होता है । भारतीय सस्कृति आर्जव यानी ऋजुभाव अर्थात् स्पष्ट कथन यानी सीधे आचरण को ही मानव जीवन में नितान्त महत्त्व देती है । इस प्रकार सास्कृतिक इतिहास के स्रोत के रूप मे महाभारत का बडा महत्त्व है ।

इन दोनो के अतिरिक्त सस्कृत साहित्य मे महाकाव्य नाटक, गद्य काव्य, गीतिकाव्य उपदेशात्मक पशुकथाएँ एव नीति कथाएँ अपनी विशालता एव विशदता के कारण अनुपम मानी गई है । इनमें अनेक कवियो का योगदान रहा है [1] अश्वघोष, [2] भास [3] शूद्रक, [4] कालिदास, [5] भारवि, [6] भट्टि, [7] हर्षवर्धन [8] भवभूति [9] माघ [10] श्रीहर्ष [11] विशाखदत्त [12] विल्हण [13] कल्हण, [14] भट्टनारायण [15] जयदेव आदि बहुत-से विद्वानों की रचनाएँ आज भी मानव जाति का कल्याण कर रही हैं । सस्कृत साहित्य की यह देन अनुपम, अद्वितीय एव जनहितकारिणी है । इन महाकवियो ने जो कुछ लिखा है, वह विश्व के मानवो को ही ध्यान में रख कर लिखा है । अत इसका विश्वकल्याण के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है ।

दर्शन के क्षेत्र मे योगदान

चिन्तन से ज्ञान का परिष्कार होता है, विचारधारा परिपक्व होती है, अन्धविश्वासो और अनुपयोगी बातों से छुटकारा मिलता है । यही प्रक्रिया दर्शन का आधार है और इसके विकास से ज्ञान का क्षेत्र विस्तृत हो पाया है । इसी पृष्ठभूमि में भारतीय दर्शन पर विचार करने से ज्ञात होता है कि भारत की विशेष भौगोलिक परिस्थितियो ने अनादिकाल से यहाँ के रहने वालों को शान्त और गम्भीर बना रखा है । "जीवन का सादापन, उच्चविचार, प्रेम, अन्त करण की प्रशान्तभावना, सत्यप्रियता ससार को पारमार्थिक कारणो से मिथ्या समझना, दैवी शक्ति में श्रद्धा, भक्ति और आत्मसमर्पण, जीवन की उलझनो को सुधारने मे तत्परता, परमसुख तथा आनन्द की प्राप्ति के लिए पूर्ण उत्सुकता और अदम्य उत्साह आदि गुण साधारण रूप से प्रत्येक भारतीय के विभिन्न कार्यों में प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से पाए जाते हैं" (डॉ उमेश मिश्र) । सामान्यतया यह ससार क्या है, जीवन मृत्यु का रहस्य क्या है, सुख-दु ख का सार क्या है, मैं क्या हूँ, कौन हूँ, इन सभी के मूल में अव्यक्त रहस्य को समझ लेना ही दर्शन है ।

भारतीय दर्शन के प्रकार व विशेषताएँ—भारतीय दर्शनो के प्रकार, सख्या या उनके क्रम को किसी नियत सिद्धान्त के अनुसार विभाजित नहीं किया जा सकता । सामान्यतया 3 नास्तिक दर्शन (1) चार्वाक (2) बौद्ध तथा (3) जैन तथा आस्तिक दर्शन (1) न्याय, (2) वैशेषिक, (3) साख्य, (4) योग, (5) मीमासा, और (6) वेदान्त भारतीय दर्शनों के मुख्य प्रतिनिधि दर्शन हैं । प्राचीन भारतीय दर्शन भारतीय सस्कृति की

बहुमूल्य धरोहर है और इसके अध्ययन से हम गौरवान्वित होते है । इनकी निम्नांकित विशेषताएँ हैं-

(1) आध्यात्मिक खोज,
(2) मोक्षवाद,
(3) आत्मा सम्बन्धी कल्पना,
(4) मुक्ति,
(5) कर्म तथा ज्ञान का समन्वय
(6) भौतिक तथा पारलौकिक सुख का समन्वय,
(7) दर्शन तथा धर्म का गहरा सम्बन्ध
(8) चिन्तन का महत्त्व,
(9) आध्यात्मपरकता,
(10) परलोक एव पुनर्जन्म के प्रति आस्था तथा
(11) आशावादिता ।

उपनिषद्–कर्म प्रधान वैदिक धर्म जब जटिल हिसा प्रधान हो गया, तो तत्कालीन विचारको ने उसका विरोध प्रारम्भ किया । परिणामस्वरूप ज्ञानकाण्ड का जन्म हुआ जिसके प्रतिपादक ग्रन्थ उपनिषद् हुए । इनमें भारतीय दर्शन पद्धति की पराकाष्ठा है । इनमें नवीन खोजो तथा नये चिन्तन के अनेक परिणाम हैं । उपनिषदो द्वारा ही सर्वप्रथम जन्म, मरण, सन्यास, वैराग्य आदि पर गम्भीर चिन्तन किया गया । "उपनिषद्" शब्द का अर्थ है वह विद्या या शास्त्र या विषय या पुस्तक, जिसकी प्राप्ति से अविद्या का निश्चित रूप से नाश हो (उप-समीप, नि-निश्चयपूर्वक, सद्-नाश, गति और शिथिल करना), जो मोक्ष की इच्छा करने वाले को ब्रह्म या विद्या के समीप ले जाकर उसका साक्षात्कार करा दे और जो ससार के बन्धनो को शिथिल कर दे । "उपनिषदो मे अविद्या के नाश के उपाय कहे गए हैं और विद्या या परब्रह्म या परमात्मा के स्वरूप का निरूपण है, जिसे हम सक्षेप मे दु ख की चरम निवृति एव आनन्द की प्राप्ति कह सकते हैं ।

उपनिषद् भी चारो वेदो से सम्बद्ध हैं । ऐतरेय व कौषीतकि ऋग्वेद केन व छान्दोग्य सामवेद कठ व मैत्रायणी कृष्ण यजुर्वेद, बृहदारण्य व ईशावास्य शुक्ल यजुर्वेद तथा मुडक व प्रश्न अथर्ववेद से सम्बन्ध रखने वाली उपनिषदे है । इन सब मे एकमात्र तत्त्व "ब्रह्म" का प्रधान रूप से वर्णन है । इनमे मोक्ष का साधन बताते हुए विद्या का प्रतिपादन किया गया है । उपनिषदो के प्रमुख विषय ये हैं-

(1) विद्या–यह परा और अपरा के भेद से दो प्रकार की है । चारो वेद व छ वेदाग अपरा विद्या है । अपर ब्रह्म का ज्ञान कराने वाली विद्या परा है । उपनिषद् ग्रन्थ परा विद्या को ब्रह्मविद्या मानते हुए श्रेष्ठ विद्या मानते हैं, क्योंकि यह मोक्षदायिनी है ।

(2) विद्या-अविद्या–ब्रह्मविद्या के अभाव को अविद्या कहते हैं । अविद्या मे लिप्त ससारी पुरुष अहकारी हो जाते हैं । रागासक्त होने के कारण वे विद्या को नहीं जान पाते । अत पुरुष को वेदविहित कर्म करते हुए आत्मज्ञान या विद्या के लिए यत्न करना चाहिए ।

(3) प्रकृति या माया–प्रकृति ब्रह्म की माया है, जिससे जगत् का अस्तित्व है । प्रकृति माया के रूप मे जगत् के कार्यों का सचालन करती है । प्रकृति जिन तत्त्वो द्वारा

स्वयं को अभिव्यक्त करती है, वे हैं-(1) चार देहधारी (उद्भिज अण्डज, स्वेदज व जरायुज), (2) पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक् हस्त, पाद, वायु व उपस्थ), (3) नौ ज्ञानेन्द्रियाँ (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण त्वक्, जिह्वा, मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार) तथा (4) विषय।

(4) आत्मा–यह अजन्मा नित्य, शाश्वत तथा पुरातन है। यह सदैव सत्य, तप, सम्यक ज्ञान और ब्रह्मचर्य से ही प्राप्तव्य है। यह चैतन्य स्वरूप है। इस शरीर-इन्द्रिय-मन से युक्त आत्मा को "भोक्ता" कहते हैं।

(5) ब्रह्म का स्वरूप–ब्रह्म सत्, ज्ञानमय, ज्ञेय तथा निर्गुण-सगुण (ऐक्य) माना गया है। वह सर्वव्यापी नित्य, अनन्त, शुद्ध और चैतन्य है। ब्रह्म ही जगत की उत्पत्ति, स्थिति और विलय का कारण है। वह विज्ञानमय और आनन्दमय है। उसे विवेक द्वारा ही जाना जा सकता है।

(6) जीव और आत्मा–जीव वैयक्तिक आत्मा तथा आत्मा परम आत्मा है। जीव की चार अवस्थाएँ ये हैं-(1) जीव जागृत अवस्था में संसार (2) स्वप्नावस्था में तेजस् (3) सुस्वप्नावस्था में प्राज्ञ तथा (4) तुरीय अवस्था में आत्मा कहलाता है। जीव का आत्मा हो जाना ही ब्रह्म है।

(7) ब्रह्म और जगत्–ब्रह्म से जगत की उत्पत्ति होती है। ब्रह्म अनन्त है और जगत् उसका अंश है।

(8) बन्धन तथा मोक्ष–अनेक प्रकार के बन्धनों से जकड़ा हुआ जीवन दु ख मूलक है। ज्ञान या विद्या से अमृत की प्राप्ति होती है। जो इस विद्या या ज्ञान को जानता है, वह परम पद या मोक्ष पा लेता है।

भारतीय दर्शन की प्रमुख धाराएँ–आस्तिक और नास्तिक रूप में यहा दो धाराएँ प्रचलित हैं, जो क्रमशः ईश्वरवादी तथा अनीश्वरवादी हैं। "**नास्तिको वेदनिन्दक**" के अनुसार नास्तिक दर्शन वेदों की निन्दा करने वाले अथवा उन्हें प्रामाणिक न मानने वाले हैं।

1 चार्वाक दर्शन–

यह दर्शन भौतिक जगत् को प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में स्वीकार करता है। इसके अनुसार ईश्वर, परलोक, स्वर्ग, नरक तथा आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है। यह संसार ही जीव का क्रीड़ास्थल है। इसके बाद परलोक जैसा न तो कोई स्थान है और न उसका कोई अदृश्य अस्तित्व ही है। चार्वाकों के जीवन का मुख्य उद्देश्य प्राप्ति तथा भोग है। इनके मत में वेदों के निर्माता धूर्त, भाण्ड और निशाचर थे। इनका यह नाम "चारु वाक्" अर्थात् सुन्दर वाणी या धुआंधार भाषण करने के कारण पड़ा। गुणरत्न के अनुसार "पुण्य पाप आदि परोक्ष वस्तुजात को चर्वण (चट) कर जाने से इन दार्शनिकों का नाम चार्वाक पड़ा।" चर्व् धातु भोजन करने के अर्थ में आती है। "**खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ**" इस सिद्धान्त के कारण भी इनको चार्वाक संज्ञा मानी जाती है। कुछ लोग बृहस्पति के शिष्य चार्वाक द्वारा प्रचारित होने के कारण इस दर्शन को चार्वाक दर्शन कहते हैं। इस मत का पोषक यह श्लोक अति प्रसिद्ध है–

"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः ॥"

अर्थात् जब तक जीओ सुखपूर्वक जीओ कर्ज करके घी पी पीओ क्योंकि भस्मीभूत होने वाले इस शरीर का फिर से आगमन कहाँ हो सकता है ?

2 जैन धर्म–

जैन धर्म का जन्म वैदिक काल के अन्तिम चरण मे हुआ था। इसमें पार्श्वनाथ से पहले 22 तीर्थंकर हो चुके थे तथा 24वे व अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी थे। छठी सदी ईस्वी पूर्व मे धार्मिक क्रान्ति के समय जैन धर्म ने नवीन परिवेश धारण करके धार्मिक जगत् को अत्यधिक प्रभावित किया।

महावीर स्वामी–इनका जन्म 599 ईस्वी पूर्व में हुआ था। इनके बचपन का नाम वर्धमान था। इनके पिता सिद्धार्थ वज्जि गणराज्य सघ मे ज्ञात्रिक कुल के प्रधान थे। बचपन में वर्धमान का जीवन राजकुमार की भाँति व्यतीत हुआ था किन्तु बाद मे इनके हृदय मे विरक्ति उत्पन्न होने लगी और ये सन्यास धारण कर भिक्षु बन गये। इस काल मे इन्होंने घोर तपस्या शारीरिक यन्त्रणा तथा आत्महनन आदि माध्यमो से ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा की। बारह वर्ष के बाद इनको कैवल्य ज्ञान प्राप्त हुआ। इनको अपनी इन्द्रियो को जीतने के कारण जिन तथा तपस्वी जीवन मे महान् पराक्रम प्रदर्शित करने के कारण *महावीर कहा जाने लगा। फिर इन्होंने अपने धर्म का प्रचार प्रसार आरम्भ किया। सौभाग्यवश इन्हे तत्कालीन अनेक राज्यो एव शासको का समर्थन मिल गया।*

जैन धर्म के सिद्धान्त–इन्हे तीन प्रमुख भागो में बाँटा जा सकता है

(1) दार्शनिक एव आध्यात्मिक सिद्धान्त–यह धर्म निवृत्ति मार्ग का उपदेश देता है। मानव को उस ससार से विमुख हो जाना चाहिए जिसमे अन्तहीन दु ख भरे हुए है। इनके मत से मनुष्य को कर्मानुसार फल की प्राप्ति होती है। मोक्ष प्राप्ति के लिए विमुख होना आवश्यक है। व्यक्तिगत दृष्टिकोण ही ज्ञानभेद का कारण है। यह धर्म अनीश्वरवादी है। इसने अहिसा पर अतिशय बल दिया है।

(2) व्यावहारिक सिद्धान्त–धर्म के व्यावहारिक नियमो के पालन द्वारा ही *चिन्तनशील अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है। जब जीवन नियमित व कर्मफल* कामना रहित होगा तभी ज्ञान प्राप्ति सम्भव है। प्राणी को अहिसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह का पालन करना चाहिए तथा गृहस्थो को पच अणुव्रत तीन गुणव्रत व चार शिक्षाव्रतो को पालना चाहिए।

(3) *अन्य विभिन्न दृष्टिकोण*–इसमें नारी स्वातन्त्र्य को प्रमुखता दी गई। जैन धर्म बाह्यशुद्धि की अपेक्षा अन्त करण की शुद्धि पर विशेष बल देता है। इसने आसक्ति व लज्जा को त्याग कर आत्मबल एव कठोर तप से शक्ति प्राप्त करने पर विशेष जोर दिया।

जैन धर्म का सीमित विस्तार–अपनी दीर्घकालीन निरन्तरता के विपरीत भी जैन धर्म भारतभूमि पर सर्वव्यापी नही हो पाया क्योंकि इसमे व्यावहारिक नियमो की बडी कठोरता है। वस्त्रविहीनता केशविहीनता कष्टप्रद जीवन आमरण अनशन आदि सिद्धान्त जनसाधारण के लिए अनाकर्षक है। जैन सिद्धान्तो पर ब्राह्मण सिद्धान्तो का भी काफी प्रभाव पडा। इसमें उत्साही प्रचारको का भी अभाव रहा। जैन धर्म में उच्चवर्ग को प्रमुखता तथा राज्याश्रय का अभाव होने के कारण भी इसका अधिक फैलाव न हो सका।

हैं। पंचतन्मात्राओं से पंच तत्त्व उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार ये 24 तत्त्व हैं व पुरुष पच्चीसवाँ तत्त्व। पुरुष भोक्ता है। वह प्रकृति की क्रिया को देखने के लिए उसके साथ होता है। ''जब पुरुष अपने तथा प्रकृति गुणों के अन्तर का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तो उसे मुक्ति मिल जाती है।''

सांख्य की विशेषताएं–सांख्य ईश्वर को स्वीकार नहीं करता है। वह इस बाह्य जगत् को वास्तविक मानते हुए आत्मा की अनेकता को स्वीकार करता है। आत्मा नित्य तथा अपरिवर्तनशील है। सांख्य ''सत्कार्यवाद'' का पोषक है, अर्थात् कार्य-कारण में पहले से ही विद्यमान रहता है। वस्तुतः सांख्य एक मनोवैज्ञानिक दर्शन है। इसके तत्त्व स्थूल न होकर बौद्धिक हैं। ''इस जगत् में केवल सूक्ष्म तत्त्व ही हैं।'' सांख्य में ज्ञान की सर्वोपरि प्रतिष्ठा की गई तथा ज्ञान का मार्ग सभी वर्णों को समान रूप से उपलब्ध कराया गया।

7 योग दर्शन–चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा जाता है। इस दर्शन का जीवन के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्ध है। शरीर, इन्द्रिय व मन पर वश पाने से ही जीवन के वास्तविक उद्देश्य की प्राप्ति सम्भव है। आत्मा का साक्षात्कार ही परम पुरुषार्थ है। योग दर्शन अति प्राचीन तथा व्यापक है। उपनिषदों, महाभारत तथा पुराणों में इसका उल्लेख मिलता है। योग दर्शन के प्रवर्तक पतंजलि थे, जिनका 'योगसूत्र' सुप्रसिद्ध है। योग साधन के लिए अभ्यास व वैराग्य आवश्यक है। योग के 8 अंग हैं-(1) यम, (2) नियम, (3) आसन, (4) प्राणायाम, (5) प्रत्याहार, (6) धारणा, (7) ध्यान तथा (8) समाधि। योग का कर्मवाद पुनर्जन्मवाद पर आधारित है। कर्म क्षणिक है, किन्तु उससे उत्पन्न होने वाला संस्कार अपना फल देने तक स्थायी रहता है। मोक्ष, मुक्ति आदि कैवल्य के विभिन्न नाम हैं। योग के अनुसार ईश्वर परम पुरुष है, जो नित्य, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् है। सांख्य और योग दोनों परिणामवादी दर्शन हैं। ''आध्यात्मिक विद्या का सैद्धान्तिक रूप सांख्य तथा व्यावहारिक रूप योग है।'' योग से आत्मा, शरीर व मन की शुद्धि हो जाती है।

8 मीमांसा दर्शन–मीमांसा धर्म जिज्ञासा को कहते हैं। दर्शन में इसका अर्थ है ''किसी सन्देह की स्थिति में विषय पर विचार करके किसी निर्णय पर पहुँचना।'' अतः मीमांसा का अर्थ उच्च दार्शनिक विषयों पर विचार-विमर्श करना हुआ। ''मीमांसा सूत्र'' इस दर्शन का मूल ग्रन्थ है, जो जैमिनी द्वारा बनाया गया है। इन सूत्रों का उद्देश्य वैदिक कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में निर्णय देना है। **मीमांसा का सार यह है कि ''वेद नित्य, स्वयम्भु, अपौरुषेय तथा अमोघ हैं।''** इस दर्शन के अनुसार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है। मीमांसा में यज्ञों का विशेष महत्त्व है। इसका प्रधान क्षेत्र धर्म का ज्ञान है। वेदों को प्रमाण मानकर ही धर्म का विवेचन हो सकता है। इस दर्शन का मुख्य उद्देश्य है। **''प्राणी वेद के द्वारा प्रतिपादित अभीष्ट साधक कार्यों में लगे और अपना वास्तविक कल्याण करे।''**

प्रारम्भ में मीमांसा दर्शन में मोक्ष की कल्पना आत्मा की भाँति स्पष्ट नहीं थी। मीमांसकों ने यज्ञ के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति मानी थी। वैदिक कर्म का फल स्वर्ग समझा गया था। किन्तु परवर्ती युग में पुनर्जन्म और मोक्ष को स्पष्ट किया गया। मोक्ष का साधन

निष्काम धर्माचरण माना गया । मीमासको की धारणा है कि आत्मा की मोक्षावस्था निर्द्वन्द्व की दशा है, जिसमें आत्मा अपने शुद्ध रूप मे विद्यमान रहती है ।

9 **वेदान्त**– भारतीय दर्शन का चरमोत्कर्ष वेदान्त में प्राप्त होता है । वेदान्त से उपनिषदो का बोध भी होता है । वेदान्त दर्शन का आविर्भाव बादरायण व्यास ने किया था । उन्होंने कुछ सूत्रो की रचना की थी, जिन्हे वेदान्त सूत्र या ब्रह्मसूत्र कहते हैं । वेदान्त दर्शन का मूलभूत सिद्धान्त है-"तत् त्वम् असि" अर्थात् वह तू है । यह जीवात्मा और परमात्मा या ब्रह्म की एकता का सूचक है । ब्रह्म नित्य, असीम अपरिवर्तनशील तथा अविभाज्य है । जीवात्मा ब्रह्म से अभिन्न ही है । अज्ञान के परिणामस्वरूप माया के विभिन्न दृश्य वस्तुए और घटनाए उत्पन्न होती हैं । वेदान्त विवर्तवाद को मानता है । यह ससार ब्रह्म से रचा गया है और उसी में लीन होता है । ब्रह्म की सत्ता सत्य है और शेष विश्व प्रपच मिथ्या । माया ब्रह्म की शक्ति है, जिससे आवृत्त होने पर ब्रह्म ईश्वर कहा जाता है और वही ससार की सृष्टि, व प्रलय का कारण है ।

शकर अद्वैत–अद्वैत दर्शन के सस्थापक श्री शकराचार्य हे जिनका जन्म 788 ईस्वी में केरल मे हुआ । इनके अद्वैत दर्शन के अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थ असत् हैं । जगत् माया है । जीव ब्रह्म से अभिन्न ह और मोक्ष मे जीवब्रह्म मे लीन हो जाता है । व्यावहारिक पक्ष में यह कर्म-सिद्धान्त का प्रतिपादक है तथा एकमात्र ज्ञान को ही मोक्ष का उपाय मानता है । सगुण ब्रह्म ईश्वर है, जो सृष्टिकर्त्ता है । परमब्रह्म सृष्टि का मूल है । आचार्य शकर के अनुसार देवताओ की उपासना करनी चाहिए क्योंकि उससे अज्ञानो की नास्तिकता दूर होती है ।

आत्मा शुद्ध चैतन्य और आनन्दस्वरूप है जो प्रत्येक जीव मे स्वत प्रकाश है । आत्मा ही ब्रह्म है किन्तु हमे ऐसा अनुभव नहीं होता । इसका कारण अविद्या है । अविद्या से हम अपने को बन्धन मे समझते हैं और दु खी होते है । इस अज्ञान का नाश होने पर अन्त में एकमात्र ब्रह्म रह जाता है । यही साक्षात्कार है । इस स्थिति को मोक्ष कहा जाता है । अविद्या और माया मे कोई भेद नहीं है । यह त्रिगुणात्मिका एव ज्ञान विरोधी है । अज्ञान से ज्ञान आवृत होता है इससे माया का भान होता है । आवरण और विक्षेप इस अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं । इन दोनो शक्तियो से आत्मा मे क्रिया होती है और इसी क्रिया के द्वारा जगत् की सृष्टि होती है ।

शकराचार्य ने अपने अद्वैत दर्शन द्वारा "अभेद" की प्रतिष्ठापना की हे । उनके अनुसार भेद मायाकृत और झूठे है । माया ब्रह्म का आच्छादन है जो मोक्षावस्था मे नहीं रहती । ब्रह्मज्ञान हो जाने पर जीवन काल में ही जीव की मुक्ति हो जाती हे । ब्रह्म चेतन और आनन्दस्वरूप है "सच्चिदानन्द" ब्रह्म की अनुभूति अपने शरीर मे ही की जाती है । ज्ञान द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है ।

10 **शैव धर्म**–शैव धर्म का सम्बन्ध शिव से है । इसमे भगवान् शिव के अवतारो की कल्पना नहीं की गई है । ऐसी मान्यता है कि किसी न किसी रूप मे शैवधर्म अनार्य लोगो मे प्रचलित था । सिन्धु घाटी से प्राप्त एक मुद्रा पर मानवाकार अकन को पाशुपत शिव का आदि रूप माना है । ऋग्वेद में शिव के लिए "रुद्र" नाम का व्यवहार हुआ है । उत्तर वैदिक काल मे रुद्र को शतरुद्रीय और शिवातनु अर्थात् मगलमय कहा गया और साथ ही पर्वत पर शयन करने के कारण उन्हे गिरीश नाम से अभिहित किया

गया । समाज में रुद्र की विशिष्टता व उत्कृष्टता बढ़ती गई । अथर्ववेद तथा शतपथ ब्राह्मण में उन्हें "सहस्राक्ष" कहा गया है । उसकी आराधना करते हुए कहा गया है कि वह विनाश विष और अग्नि से रक्षा करे । प्रजापति द्वारा रखे गए उनके आठ नामो में से एक नाम "अशनि" (बज्र) था । उनके 8 नामो में से रुद्र, शर्व, उग्र और अशनि ये चार नाम विध्वसकारी तथा भव, पशुपति महादेव और ईशान ये चार नाम कल्याणकारी थे ।

सूत्र ग्रन्थो में शिव को प्रसन्न करने के लिए पशुबलि की व्यवस्था की गई, जो गाँव की सीमा के बाहर आयोजित की जाती थी । उपनिषदो मे शिव के दर्शन और ज्ञानतत्त्व की मीमासा की गई है तथा उनका सम्बन्ध ईश्वर, जीव और प्रकृति तत्त्वो से स्थापित किया गया है । महाभारत मे शिव का उल्लेख श्रेष्ठ देवता के रूप मे हुआ है, जिससे पाशुपत अस्त्र प्राप्त करने के लिए अर्जुन को हिमालय जाना पडा था । मेगस्थनीज ने शैव मत का उल्लेख किया है । "वस्तुत शैवधर्म के इस प्रसार का प्रारम्भ शुग सातवाहन काल से हुआ जो गुप्तकाल में चरम परिणति पर पहुँचा ।" उस युग मे अनेकानेक शैव मन्दिरो के निर्माण के साथ शिव की महिमा से सम्बन्धित उत्कृष्ट साहित्य की भी रचना हुई । गुप्तकाल मे शैवधर्म का पर्याप्त विस्तार हुआ । पुराणो में महादेव शिव की महिमा का खूब गुणगान किया गया है । लिगपूजा से शिवोपासना का सम्बन्ध अति प्राचीन है । शिव की कल्पना अर्धनारीश्वर के रूप में भी की गई । शिव की पूजा "त्रिमूर्ति" के अन्तर्गत होती थी । इनमें ब्रह्मा विष्णु और महेश क्रमश सर्जन, पालन तथा सहार के प्रतीक हैं ।

मध्यकाल में अनेक शासक शैव मतावलम्बी थे । इस सम्प्रदाय में तपस्वी और गृहस्थ लोग सम्मिलित थे । ऐसे तपस्वी वैरागी कहलाते थे जो अपने शरीर पर भस्म मले रहते थे । शिव ने जो अपनी सौम्य आकृति के लिए और अपने भक्तों पर शीघ्र व सरलता से प्रसन्न हो जाने के लिए प्रसिद्ध हैं, अपने अनुयायियो मे किसी भी प्रकार के साम्प्रदायिक मतभेद की सम्भावना को समाप्त कर दिया था । शैव मत आस्तिकवादी है । इसकी आधारभूत सकल्पना यह है कि "एक परिवर्तनशील ब्रह्माण्डीय शक्ति विश्व का सृजन भी करती है और विनाश भी ।" इस प्रकार शिव उस शक्ति का प्रतीक है, जो विश्व पर शासन करती है । शिव सृष्टि करता है और सहार भी और इस प्रकार एक परिवर्तन लाता है । उनका काल या महाकाल और मृत्यु से भी तादात्म्य स्थापित किया गया है । सृजन का अध्ययन होने के नाते वह अर्धनारीश्वर अर्थात् आधा नर और आधी नारी है । वह हर (पकड लेने वाला), भैरव (भयकर), भवेश (ससार का स्वामी) और पशुपति (पशुओं का जो मानव आत्माओ के प्रतीक हैं, स्वामी) है । "शिव का रूप शक्तिशाली, क्रोधी शीघ्र ही प्रसन्न व रुष्ट होने वाला परन्तु उदार व कठोर हृदय देवता के रूप में निरूपित किया गया है । शैवधर्म के 5 सम्प्रदाय हैं-(1) शैव, (2) पाशुपत, (3) कापालिक, (4) कालमुख और (5) लिगायत ।

विज्ञान के क्षेत्र मे योगदान

"विज्ञान" शब्द का अर्थ है विशेष ज्ञान । मानव जिस ससार में रहता है, उसके चारो ओर व्याप्त वस्तुओं के विषय मे अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करना चाहता है । इनके सम्बन्ध में विशेष ज्ञान प्राप्त करने की लालसा उसके मन में स्वाभाविक रूप से उठती है । अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त कर वह अपने मन में सन्तोष प्राप्त करता है । भारत के प्राचीन मनीषियो ने जहाँ एक ओर अपने स्वय तथा सृष्टि में अन्तर्भूत तत्त्व को समझने का प्रयत्न

किया वहाँ दूसरी ओर अपनी तथा सृष्टि की गति रूप तथा व्यवहार को भी समझा और इस प्रकार ब्रह्म विज्ञान के साथ तथा भूत विज्ञान का भी विकास किया । उन्होने गणित ज्योतिष भौतिक व रसायन शास्त्र आयुर्वेद विज्ञान आदि के बारे में जानकारी प्राप्त की । प्राचीनकाल मे यज्ञ के विधि विधान इसी वैज्ञानिक प्रक्रिया के लिए होते थे । उस प्रक्रिया का प्रमुख साधन उस समय अग्नि थी आज भी विज्ञान का मुख्य साधन अग्नि है चाहे विद्युत के रूप में हो या सूर्य की ऊर्जा के रूप मे । भारत की प्राचीन सस्कृति मे धर्म का अर्थ कर्त्तव्य था अत धर्म और विज्ञान किसी भी दशा में विरोधी नहीं थे ।

(1) गणित--अकगणित का प्रारम्भ वैदिक काल से ही होता है । उस समय छोटी से छोटी ओर बडी से बडी सख्या को गिनने की विधि प्रचलित थी । एक दश शत सहस्र अयुत नियुत प्रयुत अर्बुद न्यर्बुद समुद्र मध्यम अन्त व परार्ध का यजुर्वेद मे उल्लेख है । इससे स्पष्ट है कि जोड बाकी गुणा भाग आदि अकगणित के मौलिक तत्त्व उस समय अज्ञात नहीं थे । गणित की सशून्य दशाश गणना विधि का आविष्कार भारतीय गणितज्ञो ने ही किया था जिसके लिए समस्त विश्व उनका ऋणी रहेगा । आर्यभट्ट ने सन् 479 ईस्वी मे वर्गमूल और घनमूल निकालने की विधि का वर्णन किया है । छठी सती के वराहमिहिर को इसका ज्ञान था जिसमे 3750 सख्या को ख बाण अद्रि रामा लिखा है । बाईं ओर से गिनने पर राम 3 का अद्रि 7 का बाण 5 का व ख शून्य का सूचक है । रेखागणित का प्रारम्भ भी वैदिक काल से होता है । इसके विकास का सम्बन्ध यज्ञो से है । क्योंकि यज्ञवेदियाँ तथा उनकी ईंटें एक निश्चित आकार की होती थीं । शुल्वसूत्र भारतीय रेखागणित से सम्बन्धित प्राचीनतम ग्रन्थ है । इनमे यज्ञवेदी के आकार, नाप आदि के विस्तृत विवरण मे कोण त्रिकोण आदि नापने की रीति समझाई गई है । धीरे धीरे गणित का सम्बन्ध इससे हट कर ज्योतिष से जुड गया । ईस्वी सन् 400 से लेकर 1400 के मध्य इसका विशेष विकास हुआ ।

(2) ज्योतिष--यह वेद के छ अगो मे से एक था । यज्ञो के समय आदि के ज्ञान के लिए ग्रह नक्षत्र आदि की जानकारी का विकास हुआ । वैदिक आर्यों को चन्द्र गुरु मगल शनि आदि का बोध था । वे वर्ष के बारह महीने एव अधिक मास भी जानते थे । तैत्तिरीय सहिता के अनुसार तीस दिन का साधारण मास चन्द्रमास से थोडा बडा रहता है तथा चन्द्रमास $29\frac{1}{2}$ दिन का होता है उन्हे चन्द्र की कलाओ का भी ज्ञान था । शतपथ ब्राह्मण मे उल्लेख है कि चन्द्र व सूर्य का सहवास ही अमावस्या है । इस काल मे ग्रहण पर भी विचार किया जाता था । ऋग्वेद के विवाह सम्बन्धी सूत्रो के मन्त्रो मे उल्लेख होने के कारण आर्यों को विभिन्न नक्षत्रो का भी ज्ञान था । आर्यभट्ट (476 ईस्वी) वराहमिहिर (505 ईस्वी) ब्रह्मगुप्त (598 ईस्वी) तथा भास्कराचार्य (1114 ईस्वी) कुछ प्रसिद्ध ज्योतिषी हैं ।

(3) भौतिक शास्त्र--प्राचीन दार्शनिक सिद्धान्तो मे भौतिकशास्त्र सम्बन्धी तत्त्व भी निहित थे जिनको आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तो की सहायता से समझा जा सकता है । इनमे से कुछ ये हैं (1) वैदिक वाङ्मय में प्रतिपादित एकत्व का सिद्धान्त जो तत्त्वमसि महावाक्य के विश्लेषण मे आता है । इसके अनुसार सम्पूर्ण चराचर जगत् का विकास उसी एक परम तत्त्व से हुआ है । (2) त्रिगुणात्मक प्रकृति--साख्य ने प्राकृतिक जगत् का विकास मूल प्रकृति (Onginal matter) से माना है जो सत्व रज व

तम तीनों गुणो की साम्यावस्था है । इनके वैषम्य होने पर प्राकृतिक जगत् का प्रारम्भ होता है । (3) **परमाणुवाद या गतिशीलता**–भारतीय दार्शनिको को Atomic Theory का भी ज्ञान था । डाल्टन द्वारा 18वीं सदी ईस्वी में प्रतिपादित इस सिद्धान्त को हजारो वर्ष पूर्व कणाद मुनि ने उपस्थित किया था । (4) **प्रकाश व उसका विश्लेषण**–प्रकाश के सात रगो का ज्ञान वैदिक ऋषियो को बहुत पहले से ही ज्ञात था, जैसे सूर्य को ऋग्वेद मे सात घोडो के रथ पर बैठने वाला तथा सप्तरश्मि अर्थात् सात प्रकाश की किरणो वाला कहा गया है । (5) **शब्द**–दार्शनिको ने शब्द के विभिन्न रूपो को भी वैज्ञानिक ढग से समझा है । न्याय वैशेषिक के अनुयायी शब्द को प्रतिक्षण आकाश मे वृत्ताकार बनता हुआ स्वीकार करते हैं । सगीत सम्बन्धी श्रुतिश्वर का भी विवेचन किया गया था ।

(4) **रसायन शास्त्र**–आयुर्वेद के लिए इसके ज्ञान की आवश्यकता थी । इस शास्त्र के ज्ञान के बिना धातुओ को गलाने आदि की रासायनिक क्रियाए समझ मे नहीं आ सकतीं । यजुर्वेद मे मणिकार सुवर्णकार आदि शब्दो के उल्लेख से तत्कालीन धातुज्ञान का पता चलता है । 'चरकसहिता' के 'शरीरस्थान' मे भौतिक द्रव्या के गुणो का वर्णन है । सुश्रुत ने महाभूतो ने परस्पर सम्मिश्रण का उल्लेख किया है । पतजलि के लौहशास्त्र से बहुत सी रासायनिक क्रियाओं का पता लगता है । नागार्जुन ने पारे को बना कर रासायनिक सम्मिश्रणो के ज्ञान मे वृद्धि की थी । इस ज्ञान से औद्योगिक विकास भी किया गया था । वृहत्सहिता मे विविध लेप, चूर्ण आदि बनाने की विधि का उल्लेख किया गया है । इनमे से एक बज्रलेप का उपयोग अशोक के स्तम्भो पर किया गया है । इन लेपो का उपयोग बौद्धकाल के मन्दिरो और मठो से किया जाता था । बिहार मे आजीवको की मौर्यकालीन गुफाओ की दीवारो पर ऐसा ही लेप अब भी विद्यमान है, जिसके कारण वे काच के समान चमकती हैं ।

वराहमिहिर ने "यन्त्रविद", "यन्त्रज्ञ " के अतिरिक्त "रागगन्धयुक्तविद " अर्थात् भिन्न-भिन्न रगो व सुगन्धित द्रव्यो को बनाने वालो का भी उल्लेख किया है । दण्डी के 'दशकुमारचरित' में योगचूर्ण का, जिसके सेवन से एकदम गहरी नींद आ जाती थी तथा योगवर्तिका का, जो अग्नि के बिना भी प्रकाश देती थी, उल्लेख है । वासवदत्ता मे वर्णित एक चूर्ण से शरीर की सब क्रियाओ का स्तम्भन हो जाता था । प्राचीन ग्रन्थो मे भस्मीकरण, अध पातन, स्वेदन, स्तम्भन आदि द्वारा विभिन्न रसायनो के बनाने का उल्लेख भी आता है ।

(5) **वनस्पति शास्त्र**–वेदो में सब जीवधारियो को तस्थुष व जगत् अर्थात् स्थावर व जगम मे बाँटा है और सूर्य को उनकी आत्मा कहा है "सूर्य आत्मा जगत् स्तस्थुषश्च" । आधुनिक वैज्ञानिक भी सूर्य को समस्त जीवन शक्ति का स्रोत मानते हैं । "वनस्पतियो में जीव है और उन्हे भी जागृति, सुख, दु ख आदि का अनुभव होता है," इस सिद्धान्त का स्पष्ट उल्लेख कई ग्रन्थो में आया है । महाभारत मे कहा गया है कि वृक्षादि पर गर्मी, ठण्ड, मेघगर्जन आदि का प्रभाव पडता है और इनमें इन्द्रियज्ञान भी रहता है । चरक और सुश्रुत ने इनके वनस्पति, वानस्पत्य, औषधि और विरुध-ऐसे चार भाग बताए हैं ।

(6) **प्राणिशास्त्र**–वैदिक साहित्य में तो यत्र-तत्र प्राणियो की उत्पत्ति एव विभाजन आदि के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है, किन्तु चरक, सुश्रुत, प्रशस्तपाद व

उमास्वामी आदि के ग्रन्थो तथा पौराणिक साहित्य मे प्रत्यक्ष रूप से इस शास्त्र का विवेचन किया गया है । प्राणियो के चार विभाग किए गए है-(1) जरायुज (2) अण्डज, (3) स्वेदज और (4) उद्भिज । पुन इनको योनिज भागो में भी बाँटा गया है । पुराण आदि मे कितने ही पशुओ की विशेषताएं बताई गई हैं ।

(7) भूगर्भ विद्या–पृथ्वी को वसुधा या वसुन्धरा कहना स्पष्टतया बताता है कि प्राचीन भारतीयो ने नाना प्रकार की बहुमूल्य धातुएं खोद कर निकाली होगी । इसके लिए "रत्नगर्भा वसुन्धरा" का प्रयोग भी मिलता है । वेदो मे सोना, चाँदी ताँबा आदि विभिन्न धातुओ का उल्लेख मिलता है । पुराणो मे सृष्टि की उत्पत्ति के वर्णन मे पाँच तत्त्वो का परस्पर सम्बन्ध बताते हुए पृथ्वी की बनावट पर भी प्रकाश डाला है ।

(8) आयुर्वेद विज्ञान–भरत मे इनका विकास भी प्राचीन काल में ही हो चुका था । इस सम्बन्ध में वेदो मे भी विवरण प्राप्त होता है । ऋग्वेद मे अश्विनीकुमार से टूटे पैर को जोड देने की प्रार्थना की गई है । वहाँ पर शरीर के भग्न अगो को कृत्रिम साधनो से ठीक करने का भी उल्लेख है । अथर्ववेद मे विभिन्न रोगो तथा उनके उत्पादक कीटाणुओ का वर्णन है । चरकसहिता के विमान स्थान में इन रोग कीटाणुओ के बारे मे विस्तार से लिखा है । *शतपथ ब्राह्मण* मे मनुष्य के शरीर की सब हड्डियो की पूरी सख्या दी है । आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद बताना ही उसके महत्त्व और विकास का द्योतक है । आयुर्वेद के 8 भेद इस प्रकार थे (1) **शल्य** (चीरफाड की क्रिया), (2) **शालाक्य** (आँख, कान नाक आदि की बीमारियाँ) (3) **कायचिकित्सा** (रुग्ण शरीर को औषधि आदि से उपचार), (4) **भूतविद्या** (भूत प्रेत आदि के प्रभाव को दूर करने की विधि) (5) **कौमारभृत्य** (बालका के स्वास्थ्य व माँ, धाय आदि के रोगो से सम्बन्धित), (6) **अगद** (दवा देने की विधि तथा क्रिया), (7) **रसायन** (तत्काल शक्तिवर्धक दवा या टॉनिक) और (8) **वाजीकरण** (मानव जाति की वृद्धि के लिए प्रयोग) ।

जीवक नामक बौद्ध भिषक् काफी प्रसिद्ध था, जिसने भगन्दर, शिरोरोग, कामला आदि विषम रोगो का उपचार करने मे प्रसिद्धि पाई थी । चीरफाड के शस्त्र सामान्यता लोहे के बनाए जाते थे, किन्तु राजा व सम्पन्न लोगों के लिए स्वर्ण, रजत, ताम्र आदि के भी प्रयुक्त होते थे । प्राचीन आर्यों को पशु चिकित्सा का भी ज्ञान था । अनेक पशु चिकित्सा के ग्रन्थ भी मिले हैं जैसे-(1) पालकाप्य का हस्त्यायुर्वेद, (2) नकुल का अश्वचिकित्सा, (3) शालिहोत्र का अश्वशास्त्र, (4) दीपकर का अश्ववैद्यक आदि । इस प्रकार भारतीय संस्कृति के प्राचीन काल मे विज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त उन्नत था तथा मानव सभ्यता के विकास में इसका पर्याप्त योगदान रहा ।

अध्याय 10

वेदान्त तथा जैन दर्शन का सामान्य परिचय

वेदान्त दर्शन

भारतीय संस्कृति एवं अध्यात्म शास्त्र में वेदान्त दर्शन का सर्वाधिक महत्त्व है। इसमें दार्शनिक प्रवृत्तियों और तार्किक विचारों का उत्कर्ष दिखाई देता है। वेदान्त दर्शन का मूल उपनिषद् है। वेदों के रहस्यमय सिद्धान्तों का प्रतिपादन उपनिषदों में किया गया है। वेदान्त एक प्रकार से उन्हीं सिद्धान्तों का सार तत्त्व है। वेद + अन्त = वेद का अन्त = सिद्धान्त अर्थात् वेदान्त नामकरण का यही आशय है। ज्ञानमीमांसा या उत्तरमीमांसा नाम से प्रख्यात दर्शन को ही 'वेदान्त' कहते हैं। इसका मूल ग्रन्थ 'ब्रह्मसूत्र' माना जाता है। इस ग्रन्थ में साढ़े पाँच सौ सूत्र हैं, इनकी रचना बादरायण व्यास ने की है। 'ब्रह्मसूत्र' के प्रसिद्ध भाष्यकारों में शंकराचार्य, भास्कर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभाचार्य आदि की गणना की जाती है।

अद्वैत वेदान्त का प्रमुख ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र–महर्षि व्यास ने उपनिषदों के सिद्धान्तों में एकरूपता स्थापित करने के लिए 'ब्रह्मसूत्र' ग्रन्थ की रचना की। इनका रचनाकाल ईसा पूर्व षष्ठ शतक माना जाता है। प्रारम्भ में इस ग्रन्थ के सूत्र भिक्षुओं अर्थात् सन्यासियों के लिए उपादेय थे, इस कारण इन सूत्रों को 'भिक्षुसूत्र' भी कहा गया। 'ब्रह्मसूत्र' में चार अध्याय और प्रत्येक अध्याय में चार पाद (प्रखण्ड) हैं। इसमें ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप बतलाकर विरुद्ध सिद्धान्तों का परिहार किया गया है। सगुण, निर्गुण *ब्रह्म, अविद्या, माया, जीव तथा महाभूत-सृष्टि आदि पर इसमें पूर्ण* प्रकाश डाला गया है। भारतीय दर्शन का यह इतना महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रहा है कि जिन अनेक आचार्यों ने टीका एवं भाष्य लिखे हैं, फिर भी इसका रहस्य सम्यक्तया स्पष्ट नहीं हो पाया है। इस सम्बन्ध में **आचार्य बलदेव उपाध्याय का कथन द्रष्टव्य है**–"ब्रह्मसूत्र के आध्यात्मिक सिद्धान्त कौन-कौन से थे ? इसका यथार्थ उत्तर देना कठिन कार्य है। सूत्र इतने स्वल्पाक्षर हैं कि बिना किसी भाष्य की सहायता के उनका अर्थ लगाना दुष्कर है और साम्प्रदायिक भाष्यों में अर्थ की खींचातानी भी कम नहीं है।"

अद्वैत वेदान्त के आचार्य–'ब्रह्मसूत्र' के अध्ययन से पता चलता है कि उससे पूर्व भी अनेक आचार्यों ने वेदान्त-तत्त्व की मीमांसा की थी, परन्तु उन आचार्यों की कृतियाँ उपलब्ध नहीं हैं। यहाँ केवल उन आचार्यों का नामोल्लेख किया जा रहा है। वे थे–आत्रेय, आश्मरथ्य, औडुलोमि, कार्ष्णाजिनि, काशकृत्स्न, जैमिनी, बादरि, काश्यप

आदि। शकराचार्य से पूर्व भी यामुनाचार्य, सुरेश्वराचार्य, ब्रह्मदत्त, बोधायन, सुन्दरपाड्य, आदि वेदान्ती आचार्य हुए, जिन्होंने अपनी कृतियों के द्वारा जीव, आत्मा, ईश्वर तथा ब्रह्म की सत्ता का प्रतिपादन किया। परन्तु अद्वैत वेदान्त की सर्वोपरि प्रतिष्ठा शकराचार्य द्वारा ही हो सकी। इन्होंने 'ब्रह्मसूत्र' पर भाष्य लिखकर अनेक आध्यात्मिक रहस्यो का उद्घाटन तथा औपनिषद् विरोधा का परिहार किया। इनके साथ ही आचार्य गौडपाद, मण्डन मिश्र, चित्सखाचार्य, पादपद्माचार्य वाचस्पति मिश्र, मधुसूदन सरस्वती आदि समकालीन एव परवर्ती आचार्यों ने अद्वैत वेदान्त का यथाशक्य प्रतिपादन किया है।

वेदान्त तत्त्वमीमासा

वेदान्त के तत्वमीमासा और आचारमीमासा ये दो विभाग माने जाते हैं। तत्त्वमीमासा के अन्तर्गत आत्मा, ब्रह्म ईश्वर जीव आदि के विषय मे विवेचना की गई है। आचारमीमासा मे ज्ञान कर्म, साधना मुक्ति आदि का विवेचन मिलता है। शकराचार्य का सिद्धान्त निर्विशेष अद्वैत तथा रामानुज का विशिष्टाद्वैत कहलाता है। इन दोनो आचार्यों ने यद्यपि विविध दार्शनिक तत्वो का सूक्ष्म विवेचन पृथक्-पृथक् दृष्टिकोण से किया है, फिर भी इनमे निष्कर्षावस्था समान है। यहाँ अद्वैत वेदान्त के तत्त्वो पर सक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है।

आत्मा का स्वरूप

अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मा ज्ञानरूप है और ज्ञाता भी है। 'आत्मा आत्मान जानाति' कथन के अनुसार आत्मा कर्त्ता और कर्मरूप दानो है। बुद्धि, अहकार, मन, इन्द्रिय शरीर की उपाधियो से परिच्छिन्न आत्मा को ही जीव कहा गया है। शरीर और इन्द्रियो का स्वामी तथा कर्म फलो का उपभोक्ता आत्मा 'जीव' है। जब आत्मा अविद्या से परतन्त्र रहता है तो वह जीव कहलाता है। वास्तविक दृष्टि से जीव और जगत् दो पृथक् सत्ताए हैं, परन्तु तात्त्विक दृष्टि से आत्मा ही एकमात्र सत्ता सिद्ध होता है। अत आत्मा का स्वरूप नित्य और ज्ञप्ति है। इसी आधार पर वेदान्त मे आत्मा की अद्वैत सिद्धि बतलाई गई है, क्योकि आत्मा और परमात्मा एक हैं परन्तु अविद्या से आच्छन्न होने के कारण आत्मा 'जीव' नामधारी होकर स्वय को आत्मा से भिन्न समझ लेता है। आत्मविज्ञान की दशा मे यह भेद नहीं रहता है। आत्मा की कुछ विशेषताए इस प्रकार हैं-

(1) जीवात्मा की जागृत स्वप्न और सुषुप्ति रूप तीन अवस्थाए होती हैं।

(2) जीवात्मा चैतन्य रूप है, कारण शरीर है और मलिन सत्त्व-प्रधान उपाधि से युक्त है।

(3) ब्रह्म कूटस्थ व नित्य है जबकि जीव अनित्य है।

(4) जीवात्मा की तीन कोटियाँ हैं-बद्ध, मुक्त और नित्य।

(5) आत्मा ज्ञानरूप है, इसकी दृष्टि और ज्ञान नित्यभूत हैं।

(6) व्यावहारिक दृष्टि से आत्मा की सत्ता स्वतन्त्र है।

(7) आत्मा सर्वव्यापक तथा उसका ब्रह्म से अभेद है।

ब्रह्म-विचार अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण माना गया है। 'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म' और विज्ञानमानन्द ब्रह्म' कथन के

अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र सत्य-तत्त्व है जिसका स्वरूप 'आनन्द' है । जगत् में इसके अतिरिक्त जो कुछ दीख पड़ता है, वह सब अतत्त्व, अज्ञान, माया या अवस्तु है । ब्रह्म सत् (सत्ता), चित् (ज्ञान) और आनन्दस्वरूप (सच्चिदानन्द) है, यही ब्रह्म का 'स्वरूप लक्षण' है, परन्तु यही ब्रह्म मायावच्छिन्न होने से सगुण ब्रह्म, अपर ब्रह्म या ईश्वर कहलाता है । शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म के दो रूप हैं- **सगुण तथा निर्गुण ब्रह्म** । यद्यपि ये दोनों एक ही हैं, परन्तु दृष्टिकोण से दोनों भिन्न रूप में गृहीत हैं । अर्थात् व्यावहारिक दृष्टि से जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय का कारण होने से ब्रह्म को ईश्वर या सगुण ब्रह्म माना जाता है, किन्तु जगत् का कर्त्ता ब्रह्म का स्वरूप लक्षण नहीं है, यह तटस्थ लक्षण है ।

पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म निर्गुण है, वह सजातीय, विजातीय और स्वगत-इन तीनों भेदों से मुक्त है । उस पर जीव या जगत् के किसी गुण का आरोप नहीं किया जा सकता । ब्रह्म के दो अंश होते हैं-चित् और अचित् । विश्व रूप में वह गुणसम्पन्न माना जाता है, परन्तु विश्वातीत रूप में ब्रह्म निर्गुण और अनिर्वचनीय है । इसी कारण उपनिषदों में ब्रह्म को 'नेति नेति' कहा गया है । सगुण ब्रह्म की उपासना से साधक के चित्त की शुद्धि होती है और तब वह विशुद्ध ज्ञानमार्ग का अवलम्बन कर निर्गुण ब्रह्म को पा सकता है, अन्यथा नहीं । अतः अद्वैत वेदान्त में सगुण तथा निर्गुण ब्रह्म में भेद मानना नितान्त भ्रामक बताया गया है ।

माया का स्वरूप : शंकराचार्य ने माया तथा अविद्या का प्रयोग समानार्थक रूप में किया है । परमेश्वर की बीज शक्ति का नाम 'माया' है । माया रहित होने पर परमेश्वर प्रवृत्ति नहीं होती है और वह जगत् की सृष्टि नहीं करता है । यह अविधात्मिका बीजशक्ति 'अव्यक्त' कही जाती है । यह परमेश्वर में आश्रित होने वाली महासुषुप्तिरूपिणी है, जिसमें अपने स्वरूप को न जानने वाले संसारी जीव शयन क्रिया करते हैं । अग्नि की दाहिका शक्ति के समान माया भी सदा ब्रह्म के साथ रहने वाली शक्ति है । त्रिगुणात्मिका माया ज्ञान-विरोधी भावरूप पदार्थ है । यह न सत् है और न असत्, इन दोनों से विलक्षण होने से इसे 'अनिर्वचनीय' कहा गया है । माया ही जगत् को उत्पन्न करती है, वह अव्यक्त है तथा उसका पता उसके कार्यों से चलता है । तर्क की सहायता से माया का ज्ञान नहीं हो सकता । शंकराचार्य, नैष्कर्म्यसिद्धि आदि ने इसी कारण माया को अत्यन्त अनिर्वचनीय बतलाया है ।

माया की दो शक्तियाँ होती हैं-आवरण और विक्षेप । इन्हीं की सहायता से ब्रह्मभूत ब्रह्म के वास्तव रूप को ढककर उसमें अवस्तु रूप जगत् को प्रकृति का उदय होता है । माया ब्रह्म के असली रूप को आवृत कर उसमें जादूगर की तरह पृथ्वी, आकाश आदि नाना पदार्थों का आरोप कर लेती है । यद्यपि ब्रह्म अविच्छिन्न रहता है, परन्तु माया की शक्तियाँ अपने विलास से भेदोपस्थापन करती हैं । इसमें आवरण शक्ति ब्रह्म के स्वरूप को ढक लेती है, तो विक्षेप शक्ति आकाशादि प्रपञ्च को उत्पन्न कर लेती है । रस्सी में सर्प का भ्रम हो जाने के समान माया भी अज्ञानाच्छिन्न आत्मा में जगत्-प्रपञ्च का भ्रम उत्पन्न करती है । इस प्रकार माया सर्वसाधारण के लिए भ्रम का कारण होती है, इसीलिए इसको अज्ञान या अविद्या भी कहा जाता है, परन्तु माया सृष्टि के समान अनादि है ।

जगत् का स्वरूप अद्वैत वेदान्त के अनुसार जगत् मिथ्या है। जिस प्रकार जादू उन्हीं लोगों को मोह मे डाल सकता है जो इन्द्रजाल के रहस्य को नहीं जानते हैं परन्तु उसके रहस्य को जानने वाले पुरुषों के लिए वह इन्द्रजाल मोह का विषय नहीं होता। ठीक इसी तरह यह जगत् अद्वैत तत्त्व के ज्ञानियों के लिए निर्मूल सत्ता वाला है। समस्या यह है कि यह जगत् सत्य है या असत्य? *ब्रह्म सत्य जगत्मिथ्या* के सिद्धान्त ने सर्वसाधारण मे कौन कहे शिक्षित पुरुषों मे भी यह धारणा फैला रखी है कि अद्वैत मतानुसार यह जगत् नितान्त असत्य पदार्थ है। नित्य परिवर्तनशील या परिणामस्वभाव ही जगत् है। परिणाम प्रवृत्ति या परिवर्तन ही जगत् का स्वभाव है। यह जगत् एक क्षण के लिए भी प्रवृत्ति शून्य नहीं रहता। सत्य की जो परिभाषा शंकराचार्य ने दी है उसके अनुसार जगत् सत्य नहीं माना जा सकता है। उनके शब्दों मे जिस रूप से जो पदार्थ निश्चित होता है यदि वह रूप सतत समभाव से विद्यमान रहे तो उसे सत्य कहते हैं। इस प्रतिक्षण परिणामी सतत चंचल नियत परिवर्तनशील संसार की कोई भी वस्तु इस परिभाषा मे सत्य की कोटि मे नहीं आ सकती।

जगत् की व्यावहारिकी सत्ता की मान्यता– विज्ञानवादियों का मत है कि इन्द्रियार्थ प्रतीति का मूल इन्द्रियार्थ तथा इन्द्रिय सन्निकर्ष सब बुद्धि मे है। जगत् के समस्त पदार्थ स्वप्नवत् मिथ्याभूत है। जिस प्रकार स्वप्न माया मरीचिका आदि प्रत्यय बाहरी वस्तु के बिना आकार वाले होते हैं उसी प्रकार जागरित् दशा के स्तम्भ आदि पदार्थ भी बाह्यार्थ शून्य हैं। ये समस्त पदार्थ केवल विज्ञानमात्र होते हैं स्वप्न तथा जागरित दशा मे कोई अन्तर नहीं होता। जिस प्रकार स्वप्न बिना किसी बाहरी वस्तु की सत्ता के केवल कल्पना मात्र होता है उसी प्रकार जागरित दशा मे घड़ा भी एक विज्ञान का रूप है। घड़ा नामक कोई पदार्थ बाहरी जगत् में नहीं होता फलतः इनके मत मे जगत् स्वप्न के समान मायिक काल्पनिक तथा असत्य है। इस प्रकार आचार्य शंकर का आक्षेप यह है कि जगत् में पदार्थों का अनुभव तो प्रत्येक क्षण मे हो रहा है वस्तु तथा वस्तु ज्ञान दो अलग अलग चीजे हैं। यदि वस्तु को उस वस्तु के ज्ञान के बाहर न माना जाये तो हँसी की बात होगी। स्वादिष्ट भोजन करके तृप्त होने वाला पुरुष उपहास का ही पात्र होता है यदि वह न तो भोजन की बात माने और न अपनी तृप्ति की बात स्वीकार करे।

जगत् को स्वप्न के समान अलीक (झूठा) भी नहीं माना जा सकता है। स्वप्न एवं जागरित अवस्था मे स्वरूपगत भेद हैं। स्वप्न दशा का बाध होता है किन्तु जागरित दशा का कभी भी नहीं होता। स्वप्न मे देखे गए पदार्थों की जागने पर प्राप्ति न होने से बाधित होना प्रत्यक्ष ही है। किन्तु जागृत अवस्था मे अनुभूत स्तम्भ आदि पदार्थों का किसी भी दशा मे बोध नहीं होता। इनमे एक और भी महान् अन्तर है। स्वप्न ज्ञान स्मृति मात्र है किन्तु जागरित ज्ञान उपलब्धि है अर्थात् साक्षात् अनुभव है। ऐसे स्पष्ट प्रतिपादन के होते हुए भी जगत् को असत्य कहना यथार्थ नहीं है। व्यवहार मे इसका अपलाप कदापि नहीं किया जा सकता। परन्तु ब्रह्मात्मा के ऐक्य का ज्ञान होने पर ज्ञानी पुरुष के लिए यह सांसारिक अनुभव ब्रह्मात्मानुभव के द्वारा बाधित होता है। पर व्यवहार की दिशा मे यह जगत् उतना ही ठोस तथा वास्तव है जितना कोई पदार्थ। अतः जगत् की पारमार्थिक स्थिति न होने पर भी व्यावहारिकी सत्ता मान्य है।

मोक्ष का स्वरूप शंकराचार्य ब्रह्म ज्ञानावली माला में कहते हैं-' ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर '' अर्थात् ब्रह्म ही परम सत्य है । नानात्व से भरा यह जगत् मिथ्या है और अन्तिम विश्लेषण मे जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है जीव के स्वयं के मन इन्द्रियों आदि के साथ दोषपूर्ण तादात्म्य की जड मे माया या अविद्या की शक्ति है । माया हमारे अस्तित्व के मूल में विद्यमान है । हमारा सम्पूर्ण व्यवहार माया के अन्दर ही हो रहा है । तात्विक दृष्टि से सत्य केवल उसी को कहा जा सकता है जो त्रिकाल अबाधित हो, अर्थात् जिसका भूत वर्तमान और भविष्य मे निषेध न होता हो । इस कसौटी पर ब्रह्म ही एकमात्र पूर्ण सत्य है । शेष सभी पदार्थ आंशिक सत्य या मिथ्या सिद्ध होते हैं ।

यदि जीव का बन्धन मिथ्या है और केवल उसके मन में उसके भ्रम अज्ञान दोषपूर्ण तादात्म्य अध्यास के कारण है तो स्पष्ट है कि उसका मोक्ष अज्ञान दोषपूर्ण तादात्म्य असाध्य इत्यादि के दूर होने में निहित है । मोक्ष की प्राप्ति ब्रह्म जगत् के किन्हीं पदार्थों के रूपान्तरण के परिणामस्वरूप नहीं हो सकती है । जीव का मोक्ष स्वय के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान मे अर्थात् यह अनुभव करने मे निहित है कि उसका ब्रह्म से नितान्त अभेद है । मोक्ष की प्राप्ति किसी नवीन पदार्थ की उत्पत्ति या प्राप्ति नहीं है । इसके विपरीत वह नित्य सत् द्रव्य की खोज मात्र है । इसी कारण मोक्ष का वर्णन करते हुए अनेक बार इसे नितान्त पास या बहुत दूर कहा गया है । वह हमारे वास्तविक स्वरूप का ही लाभ होने के कारण हमारे नितान्त पास है । परन्तु साथ ही अविद्या के आवरण में रहने के कारण वह हमसे बहुत दूर भी है ।

(1) मोक्ष का तात्पर्य जीव का ब्रह्म से अभेद ज्ञान—जब यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि मोक्ष जीव का ब्रह्म से अभेद ज्ञान है तो साथ ही साथ यह भी ज्ञान होता है कि जीव तो अनादि काल से ब्रह्म ही था । अत वह नित्य मुक्त ही था । मोक्ष के साक्षात्कार मे कोई नवीन प्राप्ति नहीं होती । वह केवल अज्ञान का दूर हो जाना और उस तथ्य को जान लेना है जिसकी सत्ता आदिकाल से थी । ब्रह्म देश काल और कारणता से परे परमतत्त्व है । जीव का मोक्ष ऐसे ही निरपेक्ष ब्रह्म के साथ अभेद ज्ञान प्राप्त करने मे निहित है ।

(2) मोक्ष का कूटस्थ, नित्य व सभी विकारो से रहित होना—ससार में कुछ वस्तुए ऐसी हैं जो परिवर्तित होती रहती हैं फिर भी अपनी एकरूपता का बनाए रखती हैं । उदाहरण के लिए नदी । ऐसी नित्यता को वेदान्त में परिणामनित्यता कहते हैं । इसके विपरीत कुछ ऐसी वस्तुए हैं जो अपरिवर्तनशील रहते हुए भी नित्य हैं । उदाहरण के लिए पर्वत । ऐसी नित्यता को वेदान्त मे कूटस्थनित्यता कहते हैं । शकर के अनुसार ब्रह्म और इसी कारण मोक्ष भी कूटस्थ नित्य हैं । उसमे भी कोई परिवर्तन नहीं होता क्योंकि ब्रह्म सर्वव्यापी है और मोक्ष स्वय को ऐसे ही सर्वव्यापी ब्रह्म से अभिन्न जानता है । ऐसे ज्ञान में ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान में अन्तर नहीं रहता । मोक्ष सभी विकारों से रहित है ।

(3) मोक्ष का नित्य तृप्त व स्वय प्रकाश होना—मोक्ष को हम उस प्रकार प्राप्त नहीं कर सकते हैं जिस प्रकार किसी सासारिक पदार्थ को प्राप्त करते हैं । ब्रह्म नित्य एव सर्वव्यापी है । मोक्ष आदि काल से एक पूर्ण तथ्य है । अत उसे नित्य तृप्त कहा गया है । मोक्ष की अवस्था में जीव स्वय को ब्रह्म अनुभव करता है । अत मोक्ष भी सभी

की सत्ता तात्त्विक या पारमार्थिक है। चित्सुखाचार्य के अनुसार इसे ही अनिर्वचनीय ख्याति कहते हैं क्योंकि इस दशा में माया के आवरण और विक्षेप के नष्ट हो जाने पर सत् और असत् की प्रतीति या ख्याति अनिर्वचनीय होती है। इसी कारण ब्रह्म को अलक्षणीय, अनिर्वचनीय, अचल और लोकोत्तर कहा जाता है।

व्यावहारिक सत्ता—माया की उपाधि से युक्त आकाश आदि पदार्थों की सत्ता सार्थक क्रियाओं के सम्पादन में ही रहती है इसे ही व्यावहारिक सत्ता कहते हैं। परमार्थ दशा मे जो वस्तु वैदिक प्रमाण या आगम से बाधित हो जाये, उसे व्यावहारिक सत्ता या सत्त्व कहते हैं। इस सत्ता के बाधित होने के समय ज्ञाता का भी बोध साथ-साथ हो जाता है और सत्त्व के अभाव मे आकाश पशु पक्षी आदि पदार्थों की सत्ता लौकिक प्रमाणो-प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि से बाधित नहीं होती है। उस दशा में विधि-निषेध के द्वारा पदार्थों की व्यवहारगत ख्याति हो जाती है।

प्रतिभासिक सत्ता—अविद्या या माया के प्रभाव से पदार्थ की वास्तविक सत्ता के प्रति भ्रम उत्पन्न हो जाता है, जिससे वास्तविक पदार्थ का सत्य स्वरूप छिप जाता है। इसी कारण सीपी में चाँदी की भ्रान्ति होती है। इस तरह अविद्या की उपाधि से युक्त रजत आदि पदार्थों की ख्याति या प्रतीति प्रतिभासिक सत्ता माना जाती है। लौकिक अवधि या व्यवहारदशा में जो वस्तु लौकिक प्रमाणो से बाधित हो जाती है उसे ही पदार्थ का प्रतिभासिक सत्ता कहते हैं। इस सत्त्व से बाधित होने पर भी ज्ञाता की सत्ता रहती है, परन्तु उसके ज्ञान का प्रतिरोध हो जाता है। माया और अविद्या दोनो ही तत्त्व की प्रतीति को प्रतिबन्धित करती हैं जिससे भ्रम ज्ञान होता है। फलस्वरूप सादृश्य के कारण सीपी की सत्ता होने पर भी उसमें रजत की सत्ता प्रतीत होती है। यह सत्ता व्यवहार दशा मे सत्यता से रहित है केवल आभास मात्र है अर्थात् यथार्थ न होकर भ्रान्ति है। इसी कारण इस तरह की प्रतीति को प्रतिभासिक सत्त्व या सत्ता कहते हैं।

ईश्वर तथा जीव—पूर्व में बतलाया गया है कि निर्विशेष ब्रह्म पारमार्थिक दृष्टि से निर्गुण और सगुण है। माया के द्वारा आवृत होने पर जब ब्रह्म सविशेष या सगुण भाव को धारण करता है तब उसे ईश्वर कहते हैं। अद्वैत मतानुसार विश्व की सृष्टि, स्थिति और लय का कारण यही है। इस तरह ईश्वर ही मायोपाधिक होने से 'ब्रह्म' कहलाता है। अन्त करण से अवच्छिन्न चैतन्य को 'जीव' कहते हैं। यह शरीर तथा इन्द्रिय समूह का अध्यक्ष और कर्मफल का भोक्ता भी है। अद्वैत मतानुसार उपाधि भेद के कारण जीव और ईश्वर में भेद है। ईश्वर तो जीव मे उसी प्रकार प्रतिबिम्बित होता है जिस प्रकार घट और जलाशय के जल में सूर्य भिन्न स्वरूप में प्रतिबिम्बित होता है। इन दोनो में अभेद होते हुए व्यावहारिक दृष्टि से भेद अवश्य माना गया है।

वेदान्त आचार मीमासा

वेदान्त में आचार मीमासा के अन्तर्गत ज्ञान कर्म समुच्चय आत्म-साधना और मुक्ति आदि का विवेचन मिलता है। वस्तुत जीव तथा आत्मा मे पूर्णत ऐक्य है, जब वह अविद्या से आवृत रहता है, तब वह जीव रूप में ससार के अनेक क्लेशो को भोगता है। ब्रह्म से एकत्व का ज्ञान ही वेदान्त मतानुसार मुक्ति है।

ज्ञान-कर्म समुच्चय–कुछ आचार्य केवल कर्म को और कुछ केवल ज्ञान या ज्ञानकर्म-समुच्चय का साधन का पथ वतलाते हैं । शकराचार्य केवल ज्ञान को हा साधना-मार्ग मानते हैं । उनके अनुसार कर्मनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा दो अलग-अलग बातें हैं । आत्मा की प्रतीति का निरन्तर बनाये रखने के आग्रह को ज्ञाननिष्ठा कहते हैं । सासारिक जावन में कर्म ही उन्नति अवनति के कारण होते हैं । जब कर्म आत्म ज्ञान की उत्पत्ति के कारण हाते हैं तब वे माक्ष के साधक बनते हैं । सचित और सन्त्रावमान कर्म का नाश होने से हा मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हाता है । इसके लिए ज्ञाननिष्ठा आवश्यक है । कर्मनिष्ठा ता जागतिक बन्धन का कारण है ।

ज्ञान मार्ग–वेदान्त में ज्ञान प्राप्ति के निमित्त चार साधन बतलाये गये हैं इन्ह साधन चतुष्टय कहते हैं । ब्रह्म हा सत्य है और उससे भिन्न सारा जगत् असत्य और अनित्य है इस तरह का नित्यानित्य वस्तु विवेक हाना हा ज्ञान प्राप्ति का प्रथम साधन है । शम दम उपरति तितिक्षा समाधान तथा मुमुक्षत्व आदि गुणा का उदय हाने पर मनुष्य वेदान्त-श्रवण का अधिकारा बन जाता है यह दूसरा साधन है । तीसरा साधन निष्प्रपञ्च ब्रह्म के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना । इसे अध्याराप और अपवाद विधि से जाना जाता है । प्रमाता और ज्ञान का ज्ञातव्य स सम्बन्ध चौथा साधन है । इन साधना से सम्पन्न हाने पर जब गुरु तत्वमसि आदि महावाक्या का उपदेश देता है तो इससे पराक्ष ज्ञान का उत्पत्ति हाता है । आत्मानुभूति से पराक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान बन जाता है । इस प्रकार अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म साक्षात्कार क लिए ज्ञान मार्ग या ज्ञाननिष्ठा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है ।

आत्म साधना का मार्ग–वेदान्त मे श्रवण मनन तथा निदिध्यासन ये तीन आत्मा का सिद्धि के साधन बतलाये गये है । आत्मा और ब्रह्म का एकता अद्वैतवाद का मुख्य सिद्धान्त है जब व्यक्ति का 'तत्वमसि' महावाक्य का पूर्ण ज्ञान हाता ह ता उसे जाव हा ब्रह्म ह का पराक्ष ज्ञान होता है । निरन्तर अभ्यास और निदिध्यासन करने से जब यह परोक्ष-ज्ञान अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान मे परिणत हा जाता ह ता तब साधक को अहं ब्रह्मास्मि (मैं भा ब्रह्म हूँ) का अनुभव हाता है । इससे जाव और ब्रह्म का भेद मिट जाता है । इस तरह एकत्व का ज्ञान हा आत्म साधन का मार्ग बतलाया जाता है ।

मुक्ति का स्वरूप–माक्ष या मुक्ति का स्वरूप पूर्व में तत्वमामासा के अन्तगत बतलाया गया है तत्वमसि महावाक्य के अनुसार जाव भा ब्रह्म है । इसलिए वेदान्त मत मे जाव ता स्वभाव स हा मुक्त ह परन्तु वह अज्ञान के कारण इसे अन्यत्र खाजता रहता ह । मुक्ति न ता उत्पाद्य और न उत्पादन है तथा न उसका प्राप्ति होता है । जब यह ज्ञान हा जाता है कि आत्मा और ब्रह्म में एकता है ब्रह्म हा सत्य है तथा ससार मिथ्या है तब आत्म-विवेक से भ्रान्ति हो जाता है और जाव मुक्ति को प्राप्त कर लेता ह । शरार का जावित रहना कमफल पर आश्रित ह । जब व्यक्ति ससार के प्रपञ्चा से मुक्त रहता सासारिक कष्टा मे उसका मनावृत्ति अबाधित रहता है तब उसका जावन्मुक्त कहते हैं । लेकिन जब शरार नाश के बाद कमफल समाप्त हा जाते हैं तो तब जाव का 'विदेह मुक्ति' प्राप्त हा जाता है । अद्वैत वदान्त का यह मुख्य प्रतिपाद्य सिद्धान्त है ।

जैन दर्शन

जैन दर्शन धार्मिक विचारणा पर आधारित है। जैन धर्म का प्रचार एवं संरक्षण करने वाले तीर्थंकरों ने जो प्राथमिक सिद्धान्त प्रस्तुत किये, उन्हीं की सूक्ष्म विवेचना करने पर जैन दर्शन प्रकाश में आया। जैन दर्शन के अनेक आचार्य हुए हैं, जिनमे उमास्वामी, कुन्दकुन्दाचार्य, समन्तभद्र, हेमचन्द्र, गुणरत्न आदि प्रमुख माने जाते है। जैन दर्शन का सामान्य परिचय प्राप्त करने के लिए जैन ज्ञान-मीमासा, तत्व-मीमासा और आचार-मीमासा का ज्ञान आवश्यक है ? यहाँ इन दार्शनिक विभागो का विवेचन किया जा रहा है।

जैन ज्ञान-मीमांसा

जैन दर्शन के अनुसार जीव चैतन्य है और ज्ञान उसका साक्षात् लक्षण है। कर्मों के आवरण से उसका शुद्ध चैतन्य रूप हमारी दृष्टि से सदा ओझल रहता है। परन्तु सम्यक् चरित्र का सेवन करने से जीव अपने शुद्ध रूप को फिर से प्राप्त कर कैवल्य तथा सर्वज्ञता मण्डित हो सकता है।

प्रमाण-व्यवस्था– ज्ञान के दो प्रकार होते हैं-प्रत्यक्ष और परोक्ष। जैन दर्शन के अनुसार जिस ज्ञान की उपलब्धि में आत्मा स्वयं कारणभूत है, अन्य किसी की सहायता के लिए परतन्त्र नहीं है उसे 'प्रत्यक्ष' कहते हैं परन्तु जिस ज्ञान की प्राप्ति इन्द्रिय तथा मन से होती है उसे 'परोक्ष' ज्ञान कहते हैं। जैनाचार्यों के अनुसार सशय, विपर्यय, अनध्यवसाय से रहित स्व-परसवेदि, अपूर्वार्थग्रहि तथा व्यवसायात्मक ज्ञान ही प्रमाण है। ज्ञान ही वस्तुत हित की प्राप्ति और अहित से परिहार मे समर्थ होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान या प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद होते हैं-साव्यवहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष। परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद माने गये है-स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। इस प्रकार सामान्यतया जैनदर्शन मे प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम-इन तीनो प्रमाणो को स्वीकार किया है।

नयवाद–यह जैन दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है। किसी वस्तु का सापेक्ष निरूपण नयवाद के नाम से पुकारा जाता है। यह ज्ञान की एक कोटि है जो वचनाश्रित होता है। इसमे विवक्षावश एक अश ही अपनाया जाता है। अर्थात् प्रमाण-ज्ञान की अपेक्षा नय ज्ञान न्यून है। इसके दो भेद माने गये है-(1) आध्यात्मिक प्ररूपणा मे निश्चय नय और व्यवहार तथा (2) आगम प्ररूपणा में द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय। वैसे तो वस्तु के अनन्तधर्मात्मक होने से नयों की सख्या भी अनन्त हो सकती है। इस सम्बन्ध मे जैनाचार्यों में मतभेद दिखाई देता है।

स्याद्वाद–जैन दर्शन के अनुसार वस्तु के अनन्त धर्मों का एक साथ ज्ञान होना असम्भव है। कैवल्य ज्ञान को प्राप्त करने वाला ही समस्त वस्तुधर्मों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकता है। सामान्य व्यक्ति का ज्ञान सीमित और सापेक्ष रहता है, वह किसी वस्तु के त्रैकालिक सत्य को नहीं जानता है। वर्तमान काल मे किसी वस्तु की जो सत्ता है, वह प्रत्येक देश, प्रत्येक काल तथा प्रत्येक दशा मे एक जैसी निश्चयत नहीं हो सकती है। अत: जैनाचार्य परामर्श के साथ 'स्यात्' का प्रयोग करते हैं। यही स्याद्वाद या अनेकान्तवाद नाम से प्रसिद्ध सिद्धान्त है।

सप्तभङ्गी नय–स्याद्वाद के अनुसार-प्रत्येक परामर्श के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, इस प्रकार एक वस्तु में विधि तथा प्रतिषेध कल्पना को

लेकर सात ही भङ्ग (वचन भेद) सम्भव होते हैं। *इन सात भङ्गो का समाहार जिस सिद्धान्त* में होता है, उसे सप्तभङ्गी नय कहते हैं। वस्तु-परामर्श के सात भङ्ग इस प्रकार हैं-

(1) स्यादस्ति (किसी प्रकार में है)

(2) स्यन्नास्ति (किसी प्रकार में नहीं भी है)

(3) स्यादस्ति च नास्ति च (कथञ्चित् है और नहीं है)

(4) स्याद अवक्तव्यम (कथञ्चित् अवक्तव्य-वर्णनातीत है)

(5) स्यादस्ति च अवक्तव्य च (किसी प्रकार मे है और अवक्तव्य है)

(6) स्यान्नास्ति अवक्तव्य च (कथञ्चित नहीं है और अवक्तव्य है)

(7) स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्य च (कथञ्चित है, नहीं है तथा अवक्तव्य है)

जैन तत्त्व मीमांसा

जैन दर्शन मे विभिन्न तत्त्वों की समीक्षा प्रस्तुत की गई है। इनमे, वस्तु द्रव्य, उसके भेद तथा जीव आदि का विवेचन मिलता है। यहाँ सक्षेप में इनका परिचय दिया जा रहा है।

वस्तु का स्वरूप–जैन दर्शन के अनुसार-वस्तु अनन्तधर्मात्मक होती है। इसी कारण 'अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वम्' कहा गया है। किसी मनुष्य के स्वरूप ज्ञान के लिए उसके देश काल जाति धर्म, वर्ण, समाज आदि का जानना आवश्यक है। इन सत्तात्मक धर्मों का नाम 'स्वपर्याय' है। ये अल्प ही होते हैं, परन्तु वस्तु के निषेधात्मक अनन्त होते हैं जो उसे तत्सदृश अन्य वस्तुओ से पृथक् करते हैं। इन निषेधात्मक धर्मों को 'परपर्याय' कहते हैं।

द्रव्य व्यवस्था– सतत विद्यमान रहने वाले तथा वस्तु सत्ता के लिए नितान्त आवश्यक धर्मों को 'गुण' कहते हैं तथा देश-काल जन्य परिणामशाली धर्म को 'पर्याय' कहते हैं। गुण तथा पर्यायविशिष्ट वस्तु को जैन-दर्शन मे 'द्रव्य' नाम से पुकारते हैं। तत्त्वार्थ सूत्र ग्रन्थ मे कहा भी गया है कि 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्'। जैन न्याय के अनुसार जगत् षड्विध द्रव्यो का समुदाय है। ये षड्विध इस प्रकार हैं-

(1) जीव द्रव्य–चेतन द्रव्य को जीव द्रव्य कहते हैं। यह सुख-दु ख का सवेदन करता हे और शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता तथा उन कर्म फलो का भोक्ता भी यह जीव द्रव्य ही है। जगत् के प्रत्येक अश में जीव की सत्ता मानी जाती है।

(2) पुद्गल द्रव्य–जिस वस्तु या पदार्थ में स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण-ये चार *गुण पाये जाते हैं, वह पुद्गल द्रव्य कहलाता है। यह द्रव्य प्रचय रूप से पदार्थ का निर्माता* और प्रचय के विनाश होने पर छिन्न-भिन्न हो जाता है। स्कन्ध और परमाणु के भेद से पुद्गल द्रव्य द्विविध होता है। सख्या की दृष्टि से ये अनन्त होते हैं।

(3) धर्म द्रव्य–गतिशील जीव तथा पुद्गल के सहकारी कारण द्रव्य-विशेष को धर्म की संज्ञा दी गई है। जैसे स्वय गमनशील मछली के लिए जल सहकारी कारण माना जाता है, परन्तु जल मछली को स्वय चलाता नहीं है। धर्म द्रव्य की स्थिति जल की तरह सहायता करना मात्र होती है। लोक मे व्याप्त एक ही धर्म द्रव्य होता है।

(4) अधर्म द्रव्य–स्वय स्थितिशील जीव और पुद्गलो की स्थिति में जो द्रव्य सहायक होता है, वह अधर्म द्रव्य कहलाता है। जैसे स्वय स्थित होने वाले पथिको को पेड की छाया आदि। सम्पूर्ण लोक में व्याप्त अधर्म द्रव्य एक ही होता है।

(5) आकाश द्रव्य–जो सभी द्रव्यो को अवकाश (स्थान) या अवगाहन देने में निमित्तभूत होता है, उसे आकाश द्रव्य कहते हैं। यह लोकाकाश तथा अलोकाकाश के भेद से द्विविध माना जाता है। वास्तव में तो यह अखण्ड, अनन्त और सर्वत्र व्याप्त एक ही द्रव्य हैं।

(6) काल द्रव्य–जगत् के समस्त पदार्थ परिणामशील हैं। जीवादि द्रव्यों के परिणमन मे निमित्तभूत द्रव्य काल द्रव्य है। इसके व्यावहारिक काल तथा पारमार्थिक काल नाम से दो भेद माने जाते हैं।

प्रत्येक द्रव्य में अपने-अपने सामान्य तथा विशेष गुण होते हैं जो तादात्म्य सम्बन्ध के रूप में द्रव्य का स्वभाव ही है। जो जैन दर्शन के अनुसार सामान्य गुण हैं-(1) अस्तित्व, (2) वस्तुत्व, (3) द्रव्यत्व, (4) प्रमेयत्व, (5) अगुरुलघुत्व तथा (6) प्रदेशत्व। विशेष गुण प्रत्येक द्रव्य के लक्षण सदृश गुण होते है, जैसे जीव का विशेष गुण चेतना, सुख-दु ख आदि।

तत्त्व-व्यवस्था–जीवन के साथ कर्म का सम्बन्ध तथा विच्छेद दिखलाने के लिए जैनदर्शन मे प्रयोजनभूत सात पदार्थों या तत्त्वो को स्वीकार किया गया है। ये सप्त तत्त्व इस प्रकार हैं-(1) जीव, (2) अजीव, (3) आस्रव (4) बन्ध, (5) संवर, (6) निर्जरा और (7) मोक्ष। इनमें चेतना लक्षण जीव का अपना स्वभाव ही जीव तत्त्व तथा अचेतन पदार्थों का अपना स्वभाव ही अजीव तत्त्व है। परम तत्त्वो के अज्ञात तथा वासनादि के कारण कर्मों का जीव के प्रति सयुक्त होने की क्रिया को आस्रव तत्त्व कहते हैं। जैन दर्शनानुसार आत्मा मे मोह-राग-द्वेष रूप विकारो का आना भावास्रव तथा पुद्गल कर्मों का आना द्रव्यास्रव है। कर्मों के द्वारा जीवो को साक्षात् व्याप्त कर लेना बन्ध तत्त्व कहलाता है। आत्मा मे मोह-रागादि रूप परिणामो का रुकना भावबन्ध तथा इसके निमित्त से ज्ञानावरणादि कर्मों का आत्मप्रदेशो में रुकना द्रव्य बन्ध है। सवर तत्त्व दो प्रकार का होता है-भावसवर और द्रव्य सवर। इसी प्रकार निर्जरा एव मोक्ष तत्त्व भी है, जिनका सम्बन्ध कर्मफल तथा आत्मा से है।

जैन आचार मीमांसा

जैन दर्शन जगत् के मूल मे अनेक तत्त्वो की सत्ता स्वीकार करता है। वास्तववाद से व्याप्त होने से इसमें चारित्रिक चिन्तन का प्राधान्य है। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र-ये रत्नत्रय जैनदर्शन के आधार स्तम्भ हैं।

मोक्ष मार्ग–जैन दर्शन में मोक्ष के तीन मार्ग या साधन बतलाये गये हैं, ये हैं-सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र। जीवादि सात तत्त्वों में यथार्थ श्रद्धा न करना तथा आत्मा का अनुभवजन्य श्रद्धा न होना सम्यक् दर्शन है। यह मोक्ष मार्ग का प्रथम साधन है। जगत् के जो पदार्थ जैसे हैं, उन्हें वैसे ही जानना तथा आत्मज्ञान होना सम्यक् ज्ञान है। यह दूसरा साधन है। अपने स्वरूप में आचरणपूर्वक कषाय आदि की निवृत्ति होना सम्यक् चरित्र है। अत आत्मा में रत्नत्रय की पूर्णता या एकता ही मोक्ष है।

कर्म– जैन दर्शन मे जीव को निसर्गत मुक्त माना गया है। परन्तु वासनाजन्य कर्म उसके शुद्ध स्वरूप पर आवरण डालते है। कर्म पौद्गलिक होते है। कर्म के साथ सम्बद्ध जीव ही बद्धपुरुष के रूप में दिखाई देता है। जैन ग्रन्थो मे द्रव्य कर्म भाव कर्म एव नौ कर्मों का उल्लेख विस्तार से किया गया है। इनमे से राग द्वेष मोह भावकर्म माने गये है। (1) ज्ञानावरण (2) दर्शनावरण (3) वेदनीय (4) मोहनीय (5) आयु (6) नाम (7) गोत्र तथा (8) अन्तराय। ये आठ द्रव्य कर्म हैं। शरीर गृह कुटुम्ब आदि नौ के कर्म माने गये हैं। इन सभी कर्मों से आत्मा का सयुक्त होना ही आत्मा के लिए ससार है क्योंकि इन्हीं कर्मों के कारण आत्मा चौरासी लाख योनियो मे सचरण करता है।

गुण स्थान– *सिद्धावस्था तक पहुँचने के लिए मुमुक्षु को क्रमश आगे बढ़ना* पड़ता है। मोक्षमार्ग के इन सोपानो को जैन दर्शन मे गुणस्थान कहते हैं। आत्मा के मोह योग आदि परिणामो का आकलन कर जैनाचार्यों ने विश्व के सम्पूर्ण जीवो को चौदह गुण स्थानों मे वर्गीकृत किया है। ये गुण स्थान क्रमश इस प्रकार है (1) मिथ्यात्व (विवेकहीनता की दशा) (2) ग्रन्थिभेद (विवेक का उदय) (3) मिश्र (4) अविरत सम्यक् दृष्टि (5) देश विरति (6) प्रमत्त (7) अप्रमत्त (8) अपूर्वकरण (9) अनिवृत्तिकरण (10) सूक्ष्म साम्पराय (11) उपशान्त मोह (12) क्षीण मोह (13) सयोग केवल तथा (14) अयोग केवल। अन्तिम दशा आते ही साधक ऊपर उठता हुआ सिद्धो की निवासभूमि सिद्ध शिला को प्राप्त कर चरम मुक्तावस्था प्राप्त करता है।

इस प्रकार जैनदर्शन में ज्ञान मीमासा तत्त्वमीमासा और आचार मीमासा के अन्तर्गत विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तो एव अवधारणाओ का चिन्तन किया गया है।